Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

वैशणव शैव एवं अन्य धर्म

आर.जी.भण्डारकर

Q22(Q23):39
152L8B

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

Q22(Q23):39 8580
152L8B
Bhandarkar, R. G.
Vaisnav, Shaiva evam
anyadharma.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

Q22(Q23):39
152L8B
8580
RS: 100/-

SHRI JAGADGURU VISHWARADHYA JNANAMANDIR
(LIBRARY)
JANGAMAWADIMATH, VARANASI

Please return this volume on or before the date last stamped
Overdue volume will be charged 1/- per day.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

S.J.V.J. PRATISHTHAN
LIBRARY
Jangamawadimath, Varanasi
Acc. No. 361

वैष्णव, शैव एवं अन्य धर्म

लेखक
आर० जी० भण्डारकर

अनुवादक
उमाशंकर व्यास एम० ए० आचार्य
संस्कृत प्रवक्ता
नव नालन्दा महाविहार, नालन्दा

दो शब्द
डा० श्रीभगवान सिंह

SRI JAGADGURU VISHWARADHYA
JNANA SIMHASAN JNANAMANDIR
LIBRARY
Jangamwadi Math, Varanasi

१९७८

इंडोलॉजिकल बुक हाउस
दिल्ली वाराणसी
(भारत)

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

©इंडोलॉजिकल बुक हाऊस
१. पोस्ट वाक्स नं० ६८, बी० ६/४५, पीलखाना सोनारपुर, वाराणसी
२. ४२-४३ यू० बी०, जवाहर नगर, दिल्ली ११०००७

Q22(Q23):39
152L8B

S.J.V.J. PRATISHTHAN
LIBRARY
Jangamawadimath, Varanasi
Acc. No.

दिल्ली, १९७८
मूल्य : 100/-

Indological Book House
P.B. No - 1038
B. 9/45 Pilkhana, Sonarpura,
VARANASI.

SRI JAGADGURU VISHWARADHYA
JNANA SIMHASAN JNANAMANDAL
LIBRARY
Jangamwadi Math, Varanasi
ACC No. 8580

गजेन्द्र सिंह एम० ए० द्वारा प्रकाशित तथा अमर प्रिंटिंग प्रेस
(श्याम प्रिंटिंग एजेन्सी) द्वारा मुद्रित।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

दो शब्द

भारत में संस्कृति एवं सभ्यता के विकास में धर्म का प्रमुख स्थान है। भारतीय विचारधारा धर्म और दर्शन के समन्वित मिश्रण से प्रवाहित हुई है। धर्म के अंग-प्रत्यंग का अवलोकन करने पर ही हम भारतीय विचारधारा को अवगत कर सकते हैं।

श्रीरामकृष्ण गोपाल भण्डारकर प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने धर्म सम्बन्धी विचारधारा को प्रस्तुत किया। उनकी कृति "वैष्णव, शैव एवं अन्य धर्म" का धर्म के इतिहास में अनुपम स्थान है।

इस ग्रन्थ की रचना तुलनात्मक विधि से हुई है। इस विधि में उन्होंने साहित्य, अभिलेख, मुद्रा, शिल्प आदि तुलनात्मक अध्ययन के सभी साधनों का उपयोग किया है और इस समीक्षा से जो निष्कर्ष निकाले हैं उनके प्रामाण्य की पुष्टि की है।

भारतीय धर्मों के इतिहास लेखन की जटिल समस्या उन धर्मों के प्रचारकाल की है। प्राचीन भारत की कृतियों में, प्रायः उनके रचनाकाल का निर्देश नहीं है। इन रचनाओं के कालनिर्धारण में हम प्रायः बाह्य साधनों का आश्रय लेते हैं जबकि स्वयमेव बाह्य साधनों की प्रामाणिकता सन्दिग्ध है। प्रस्तुत कृति में तिथिक्रम के निर्धारण में आन्तरिक साक्ष्यों पर विशेष बल दिया गया है। भारतीय धर्म की प्रत्येक शाखा के उदय, विकास और अपकर्ष को समक्ष रखकर तुलनात्मक शैली से परिणाम प्रस्तुत किये गये हैं।

जसाकि ग्रन्थ के नाम से ही प्रकट होता है इस ग्रन्थ के दो भाग हैं। पहले भाग में वैष्णव धर्म के भक्तिमार्ग में नारायण वासुदेव, पाञ्चरात्र व भागवत मत के प्रचलन का ऐतिहासिक पद्धति से विशद निरीक्षण किया गया है। वैष्णवधर्म के मुख्य प्रवर्तक रामानुज, मध्व, निम्बार्क, रामानन्द, कबीर, तुलसीदास, वल्लभ, चैतन्य, नामदेव और तुकाराम के विचारों का सूक्ष्म अवलोकन करते हुए हम एक अविच्छिन्न वैष्णवधारा के निकट पहुँच जाते हैं। दूसरे भाग में शैव, शाक्त, गाणपत्य, स्कन्द-कार्तिकेय एवं सौर सम्प्रदायों के उदय, विस्तार और सिद्धान्तों का परिचय पाते हैं। परिशिष्ट में देववाद

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

और विश्वात्मवाद का सुस्पष्ट विवेचन किया गया है। हिन्दूधर्म के इस क्षेत्र में कुछेक सृजनात्मक समीक्षा बीज डाल दिये हैं जो अनुसन्धायकों के प्रयास से अंकुरित होकर विकसित हो सकते हैं।

प्रस्तुत हिन्दी-अनुवाद का श्रेय नव नालन्दा महाविहार के संस्कृत प्रवक्ता श्री उमाशंकर व्यास को है जिन्होंने मूल ग्रन्थ के सभी गुणों को ध्यान में रखते हुए कृति के उत्कर्ष बढ़ाने का सफल प्रयास किया है। पाठक की आवश्यकताओं को देखते हुए अनुक्रमणिका भी लगा दी है।

वाराणसी

६-१-७८ — डा० श्रीभगवान सिंह

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

विषयसूची

प्रथम भाग

वैष्णव-धर्म

		पृष्ठ-संख्या
१.	भूमिका	१-१९
२.	भगवद्गीता का सारांश	२०-३८
३.	भगवद्गीता में प्रतिपादित धर्म के स्रोत	३९-४४
४.	वासुदेव एवं नारायण का अभेद	४५-४८
५.	वासुदेव का विष्णु से तादात्म्य	४९-५१
६.	गोपाल-कृष्ण के साथ वासुदेव-कृष्ण का तादात्म्य	५२-५५
७.	पांचरात्र या भागवत मत	५६-६०
८.	विष्णु या नारायण के अवतार	६१-६२
९.	भागवत-सम्प्रदाय के उत्तरकालीन चिह्न एवं सामान्य वैष्णव-धर्म	६३-६८
१०.	रामोपासना	६९-७१
११.	दक्षिण में वासुदेव-पूजा या वैष्णव मत	७२-७४
१२.	रामानुज	७५-८३
१३.	मध्व या आनन्दतीर्थ	८४-९०
१४.	निम्बार्क	९१-९६
१५.	रामानन्द	९७-९९
१६.	कबीर	१००-१०९
१७.	अन्य रामानन्दी	११०
१८.	तुलसीदास	१११-११४
१९.	वल्लभ	११५-१२३
२०.	चैतन्य	१२४-१२८
२१.	वैष्णव-धर्म का अपकर्ष	१२९-१३०
२२.	नामदेव और तुकाराम	१३१-१४८
२३.	उपसंहार	१४९-१५१

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

द्वितीय भाग

शैव धर्म तथा अन्य गौण धर्म

२४. शैव धर्म तथा धार्मिक मत	१५५-१६१
२५. श्वेताश्वतर एवं अथर्वशिरस् उपनिषद्	१६२-१७०
२६. महाभारत में रुद्र-शिव तथा लिङ्गोपासना	१७१-१७५
२७. शैव-सम्प्रदायों का उदय और विस्तार तथा शिव-पूजकों की कतिपय श्रेणियां	१७६-१८०
२८. शैव सम्प्रदायों के नाम और उनके सिद्धान्त	१८१-१८४
२९. पाशुपत मत	१८५-१८८
३०. शैव सिद्धांत	१८९-१९३
३१. कापाल या कालामुख सम्प्रदाय	१९४-१९६
३२. काश्मीरी शैव धर्म	१९७-२०१
३३. वीरशैव या लिङ्गायत-सम्प्रदाय	२०२-२१४
३४. द्रविड़ देश में शैव-धर्म	२१५-२१८
३५. शाक्त सम्प्रदाय	२१९-२२५
३६. गाणपत्य सम्प्रदाय	२२६-२३०
३७. स्कन्द या कार्त्तिकेय	२३१-२३२
३८. सौर सम्प्रदाय एवं औदीच्य सूर्योपासना	२३३-२३८
३९. उपसंहार	२३९-२४१

परिशिष्ट

हिन्दू देववाद तथा विश्वात्मवाद	२४२-२४८
अनुक्रमणिका	२४९

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

प्रथम भाग

वैष्णव धर्म

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

वैष्णव-धर्म

भूमिका

प्राचीन वैदिक देवता एक ऐसी अतिविस्तृत और यान्त्रिक पूजा-पद्धति के अभिन्न अङ्ग थे जिससे पूजा के नियमों और पद्धतियों की युक्ति-युक्तता होने तथा उनमें मनुष्य के ऐहलौकिक एवं पारलौकिक कल्याण करने का सामर्थ्य होने की परिकल्पनाएँ विकसित हुईं। किन्तु इस सब से लोगों के धार्मिक उत्साह की तुष्टि नहीं हुई। मन्त्र-काल की परिसमाप्ति ने आसपास अधिक सहज धार्मिक परिकल्पनाओं का उदय हुआ तथा ये उपनिषत्काल तक जारी रहीं। ईश्वर, जीव एवं जगत्-विषयक अनेक समस्याओं ने अनेक विचारकों का ध्यान आकृष्ट किया तथा वे विभिन्न स्वरूप ने निष्कर्षों पर पहुँचे। सामान्यतया यह माना जाता है कि उपनिपदों में अद्वैतवादी दर्शन का उपदेश दिया गया है किन्तु सूक्ष्म परीक्षण से यह प्रकट होगा कि उनमें ईश्वर, जाति और जगत् के स्वरूप तथा इनके सम्वन्धों के विषय में किसी एक दार्शनिक मत का नहीं, अपितु अनेक मतों की शिक्षा दी गई है। आजकल के परस्पर-विसंवादी धार्मिकाध्यात्मिक पन्थों ने अपने २ विशिष्ट सिद्धान्तों के साक्ष्य के रूप में उपनिषदों के वचन उद्धृत किए हैं। प्राचीन ग्रन्थों के ये उद्धरण कुछ वहुत ही महत्त्व-पूर्ण मामलों में तो सही हैं किन्तु जब किसी विशेष सम्प्रदाय के प्रचारक विपरीत प्रवृत्ति के अन्य ग्रन्थों में अपने विशिष्ट सिद्धान्तों से अविपरीत अर्थ निकालने लगते हैं तो वे स्पष्ट रूप में असङ्गत कार्य करते हैं। उपनिषदों में किसी एक मत की शिक्षा न होकर अनेक मतों की है, यह निष्कर्ष इस तथ्य से निकलता है कि ऋग्वेद संहिता की भांति वे भी सङ्कलन हैं। प्राचीन ऋषियों ने अपनी परिकल्पनाओं को शब्दों का जामा पहनाया, मौखिक परम्परा द्वारा इनका मार्ग प्रशस्त किया और वे एक विशाल राशि के रूप में लहराने लगीं। जव इन परिकल्पनाओं के सञ्चयन का विचार उदित हुआ, तव इन्हें विभिन्न वैदिक शाखाओं के लिए ग्रन्थों का आकार प्रदान कर दिया गया। यही कारण है कि हमें किसी एक उपनिषद् में पाए जाने वाले

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

अनेक श्लोक, वाक्यांश किंवा सम्पूर्ण खण्ड ही दूसरे उपनिषदों में भी मिल जाते हैं।[1]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि जगत् में ईश्वर की व्यापकता का विचार उपनिषदों में अत्यन्त प्रमुख है। किन्तु यदि यही आत्माद्वैतवाद (Pantheism) है तो फिर योरोप के इस समय के उदार धार्मिक चिन्तन को भी आत्माद्वैत-वादी या विश्वात्मवादी मान लेना चाहिये। ईश्वर में विश्व-व्यापकता के साथ-साथ विश्वोत्तर्णता भी है जैसा कि वेदान्त सूत्र (२.१.२७)[2] में बतलाया गया है। इन दो सिद्धान्तों के अतिरिक्त उपनिषदों का यह उपदेश भी है कि ईश्वर समस्त भूतों का प्रतिपालक है, वह सभी का अधिपति है तथा मनुष्यों के हृदय में उसका निवास है, जैसा वह है उस रूप में तथा सर्वत्र उसका दर्शन करना शाश्वत आनन्द है, इसकी प्राप्ति ध्यान तथा आत्म-शुद्धि द्वारा होती है तथा आनन्दमयी स्थिति में आत्मा परमात्मा से पूर्ण साम्य प्राप्त कर लेता है।[3] उपनिषदों में नदी के सागर में विलीन हो जाने

---

१. प्राण आदि शारीरिक तत्त्वों की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में देखिए, छा० उ० (५,१,१) तथा वृ० उ० (६,१,१) में प्राप्तव्य स्थल,

पञ्चाग्निविद्या के सम्बन्ध में द्रष्टव्य छा० उ० (५,४,१) तथा वृ० उ० (२,१,) में प्राप्तव्य स्थल,

अहंकारी वालाकि और अजातशत्रु के वारे में—

कौ० ब्र० उ० (४) तथा बृ० उ० (२;१) में प्राप्त तथा अन्य स्थल (तै० उ० २, ८ तथा बृ० उ० ४।३।३३)।

श्लोकों की पुनः प्राप्ति के सम्बन्ध में द्रष्टव्य मु० उ०; श्वे० उ०; तथा कठ उपनिषद्।

२. द्रष्टव्य शङ्कराचार्य द्वारा अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में उद्धृत स्थल।

३. 'परमं साम्यम् उपैति' द्रष्टव्य मु० उ० (३,१,३) कुछ प्रमुख विद्वानों द्वारा अभिव्यक्त यह विचार कि उपनिषदों के उपदेश का सार जगत् की भ्रमरूपता तथा केवल आत्मा की ही तत्त्वात्मकता है, स्पष्टरूप से ग़लत है तथा मैं तो यहां तक कहूँगा कि तर्कहीन निर्णय का सूचक है। जैसा कि इस पुस्तक की पंक्तियों में प्रतिपादित है कि अपने सङ्कलनात्मक स्वरूप के कारण 'उपनिषदों से किसी एक दार्शनिक सिद्धान्त के उपदेश की नहीं अपितु अनेक सिद्धान्तों के उपदेश की आशा की जाती है।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

के समान जीवात्मा के परमात्मा में विलीन होने तथा आत्मा की उस अचेतनावस्था का उपदेश भी दिया गया है जबकि अपने ज्ञान के अतिरिक्त अन्य समस्त वस्तुएँ तिरोहित हो जाती हैं। इस मामले में इस सिद्धान्त को अद्वैतवादी या वस्तुओं के भ्रमात्मक स्वरूप का प्रतिपादक कहा जा सकता है। उपनिषत्काल में परिकल्पनाएँ अत्यन्त उन्मुक्त थीं तथा ये तत्त्व-रूप में आत्मा के निषेध की प्रतिकूल दिशा तक उड़ानें भरती थीं।[१]

धार्मिक चिन्तन तथा उपासना के उत्तरकालीन विकास में इन उपनिषद्-सिद्धान्तों ने सक्रिय भाग अदा किया। हेनोथीइज्म, जिसकी विशद व्याख्या मैक्समूलर ने की है तथा इसी के अन्तिम परिणामभूत विभिन्न देवों के एकीकरण ने भी उत्तरकालीन चिन्तकों को प्रभावित किया। परमात्मा स्वयं विभिन्न रूपों में व्यक्त है यह धारणा जो कि हमें उपनिषदों में प्राप्त होती है, इससे विपरीत दिशा की ओर एक विकास है कि कोई भी एक देवता जैसे कि अग्नि, वरुण, मित्र, इन्द्र या अर्यमन् से अभिन्न है।[२] यदि ये अनेक देव एक हैं तो एक ईश्वर भी अनेक हो सकता है। इसी से अवतारों की कल्पना का उदय हुआ, जिसने उत्तरकालीन धार्मिक मतों में महत्त्वपूर्ण योगदान किया।

किन्तु साधारण जन के लिए तो उपनिषदों के भक्तिपरक अंशों में ईश्वर को दिए गए व्यक्तित्व की अपेक्षा कुछ अधिक सुस्पष्ट व्यक्तित्व से भूषित उपास्य की आवश्यकता थी। दार्शनिक चिन्तन से इस व्यावहारिक आवश्यकता की पूर्ति नहीं हुई। इस प्रकार कुछ प्राचीन वैदिक देव तथा कुछ दूसरे देवता, जो कि नए थे, उपास्य बन गए।

नवीन भक्ति मार्ग का उदय

स्वतन्त्र चिन्तन का तूफान पूर्व में बौद्ध एवं जैन धर्मों जैसे मतों के रूप में अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचा और हालांकि इन धर्मों में स्रष्टा के रूप में ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन किया गया और पुण्य संवर्द्धन के विभिन्न उन्होंने इस विचार का प्रयोग भी नहीं किया और बौद्ध-धर्म ने तो तत्त्व के रूप में मानव की आत्मा के अस्तित्व तक का निषेध किया। तो भी इन मतों में अपने संस्थापकों के रूप में अपेक्षित व्यक्ति-परक तत्त्व विद्यमान था।

---

१. द्रष्टव्य जे० बी० बी० आर० ए० एस० भाग २०, पृ० ३६१ में मेरे एक लेख "ए पीप इन्टू दी आर्मी हिस्ट्री ऑफ इण्डिया" में उद्धृत बृ० उ० ३,२,१३।

२. ऋग्वेद, ५,३,१-२

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

किन्तु पश्चिम में एक ऐसे भक्ति-मार्ग का उदय हुआ जिसमें मनुष्यों के बीच रहने वाले भगवान् की कल्पना की गई थी। चतुर्थ शतक ई० पू० में प्रचलित विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों तथा मिथ्या दर्शनों का उल्लेख निद्देस—जो यद्यपि टीका रूप में है फिर भी उसकी गणना पालि बौद्ध आगमों के ही एक ग्रन्थ के रूप में की गई है—में प्राप्त होने वाले निम्नलिखित अवतरण में किया गया है।[1]

"आजीवक उपासकों के देवता आजीवक, निघण्टों के निघण्ट, जटिलों के जटिल, परिव्राजकों के परिव्राजक, अवरुद्धकों के अवरुद्धक हैं तथा जो लोग हाथी, घोड़ा, गाय, कुत्ता, कौआ, वासुदेव, बलदेव, पुण्णभद्द, मणिभद्द आदि के भक्त हैं उनके देवता क्रमशः हाथी, घोड़ा, गाय, कुत्ता, कौआ, वासुदेव, बलदेव, पुण्णभद्द और मणिभद्द हैं।" इस अवतरण में एक बौद्ध ने जिससे स्वेतर धर्मों के प्रति उदारता प्रदर्शित करने की आशा नहीं की जा सकती है, वासुदेव और बलदेव के पूजकों को अग्नि, सूर्य, चन्द्र तथा ब्रह्मा के भक्तों तथा हाथी, कौआ और कुक्कुर तक के उपासकों के समान स्तर पर रखा है। परन्तु यहाँ पर यह बतलाया गया है कि वासुदेव-उपासना, अग्नि, सूर्य, चन्द्र एवं ब्रह्मा की उपासनाओं तथा अधम पशुओं की मिथ्या उपासनाओं को अभिभूत करती हुई भारत के विशाल क्षेत्र का प्रधान धर्म बन चुकी थी। अब हमारा कार्य इसके उदय और विकास का पता लगाना है।

पाणिनि के ४.३.९८ सूत्र के अपने भाष्य में पतञ्जलि ने स्पष्ट रूप से यह कहा है कि इस सूत्र में विद्यमान "वासुदेव" शब्द पूजा है (अर्थात् अत्यन्त पूज्य) अर्थात् ईश्वर का नाम है। अतएव वासुदेव की पूजा को पाणिनि जितना ही प्राचीन माना जाना चाहिए।[2]

घोसुण्डि (राजपूताना)[3] में प्राप्त एक अभिलेख में (जो दुर्भाग्यवश से खण्डित अवस्था में है) संकर्षण एवं वासुदेव के उपासना-मण्डप के चारों ओर एक भित्ति के निर्माण का उल्लेख किया गया है। अभिलेख में उत्कीर्ण अक्षरों के स्वरूप से यह प्रतीत होता है कि इसे ईसा से कम से कम दो सौ वर्ष पूर्व उत्कीर्ण किया गया होगा।

हाल ही में खोजे गए बेसनगर के एक अन्य अभिलेख[4] में देवाधिदेव वासुदेव के सम्मान में एक (मन्दिर) शिखर पर गरुड़ध्वज (गरुड़ की प्रतिमा सहित

---

१. यह स्थल मुझे श्री धर्मानन्द कौशाम्बी ने उपलब्ध कराया है।
२. द्रष्टव्य जे० आर० एस०, १९१०, पृ० १६८।
३. लूडर की 'लिस्ट ऑफ ब्राह्मी इन्स्क्रिप्शन्स' सं ११११२।
४. वही, सं० ६६९।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

एक ध्वजा) आरोपित करने वाले के रूप में हेलिओदोर ने स्वयं को चित्रित किया है। हेलियोदोर ने अपने को भागवत कहा है। वह दिय का पुत्र था, तक्षशिला का निवासी था तथा उसे यवन दूत बतलाया गया है। इसी लिए वह अंतलिकित के समोप से भागभद्र—जो संभवतः पूर्वी मालवा का शासक था—के पास राजनैतिक दूत के रूप में आया था। इस अभिलेख में अन्तलिकित नाम आता है, जोकि निश्चित ही बैक्ट्रियाई यवनों की मुद्राओं का एण्टियाल किडस् ही है। इस नाम तथा अभिलेख में उत्कीर्ण अक्षरों के स्वरूप से यह प्रकट होता है कि यह अभिलेख द्वि० श० ई० पू० के प्रारम्भिक भाग का रहा होगा। उस समय वासुदेव देवाधिदेव के रूप में पूजे जाते थे तथा उनके भक्त भागवत कहलाते थे। भागवत-धर्म पश्चिमोत्तर भारत में फैला था तथा हेलिओदोर जैसे यूनानियों तक ने इसे अपनाया था।

नानाघाट[1] की विशाल गुफा के अभिलेख सं० १ में प्रारम्भिक वन्दन (मङ्गलाचरण) में अन्य देवों के नामों के साथ-साथ संकर्षण और वासुदेव के नाम द्वन्द्व समास में प्राप्त होते हैं। अक्षरों के स्वरूप से यह अभिलेख प्रथम सदी ई० पू० का प्रतीत होता है।

महाभाष्य के उस स्थल में जिसमें पतञ्जलि ने पाणिनि के ४.३.९८ सूत्र में वासुदेव नाम के पाए जाने की व्याख्या की है वहाँ उन्होंने यह कहा है कि यह किसी क्षत्रिय का नाम नहीं है अपितु पूजार्ह परमात्मा की संज्ञा है। यहाँ विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या पतञ्जलि इन वासुदेव को वृष्णिवंशी वासुदेव से एकदम असम्बद्ध मानते हैं? निद्देस के ऊपर उद्धृत स्थल में वासुदेव एवं बलदेव नाम के एक दूसरे के समीप आने से तथा ऊपर के तीन में से दो अभिलेखों में द्वन्द्व समास में पूजार्ह या दिव्य पुरुष रूप में संकर्षण और वासुदेव के नाम आने से यह प्रतीत होता है कि पूजार्ह (तत्रभवान्) के रूप में पतञ्जलि द्वारा उद्धृत वासुदेव वृष्णिवंशी वासुदेव रहे होंगे। इस सूत्र (४.३.९८) में वासुदेव के नाम दिए जाने का कारण बतलाते हुए पतञ्जलि कहते हैं कि यद्यपि इष्ट रूप की सिद्धि तो अगले सूत्र (४.३.९९) से भी हो सकती थी फिर भी (इस सूत्र में वासुदेव शब्द रखे जाने का कारण यह है कि) पाणिनि वासुदेव को दिव्य पुरुष रूप में मानते हैं, क्षत्रिय रूप में नहीं। हमें इस शब्द को इसी अर्थ में मानना चाहिए, क्योंकि ऊपर उल्लिखित घोसुण्डि अभिलेख, जिसमें संकर्षण और वासुदेव पूजार्ह व्यक्तियों के रूप में एक साथ उल्लिखित

---

१. लूडर की "लिस्ट ऑफ ब्राह्मी इन्स्क्रिप्शन्स".

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

हैं, पतञ्जलि से भी अधिक प्राचीन होगा। इसके अतिरिक्त पतञ्जलि भी सूत्र की व्याख्या का आरम्भ पहले वासुदेव को एक क्षत्रिय नाम के रूप में ग्रहण करते हुए करते हैं और फिर इसके विपरीत आपत्ति उठाते हैं। इस आपत्ति का एक निराकरण यह है कि वासुदेव को उस समय भी क्षत्रिय माना जाता था। पतञ्जलि द्वारा दिया गया एक अन्य समाधान कि यह नाम किसी क्षत्रिय का नाम नहीं है अपितु दैवी पुरुष का नाम है, केवल वैकल्पिक समाधान है। अतएव बेवशी के तौर पर दिया गया यह वैकल्पिक समाधान ऊपर दिए हुए अर्थ में समझा जाना चाहिए। सम्पूर्ण साहित्य में विद्यमान भागवत सम्प्रदाय सम्बन्धी विवरणों से यह स्पष्ट है कि पूजार्ह वासुदेव वृष्णिवंशी थे।

महाभारत के नारायणीय खण्ड का विश्लेषण

इस प्रकार अकाट्य साक्ष्य के आधार पर ईसा पूर्व तीन चार शताब्दियों के दौरान ऐसे धर्म के अस्तित्व की स्थापना हो जाती है जिसके प्रधान देव वासुदेव थे तथा एक ऐसे सम्प्रदाय के अस्तित्व की भी सिद्धि होती है जिसके अनुयायी भागवत कहलाते थे। इसके उपरान्त अब मैं साहित्य में और विशेष रूप से महाभारत में विद्यमान विस्तृत विवरणों की परीक्षा करूँगा। यह कार्य अभी तक नहीं किया गया है क्योंकि महाभारत या इसके किसी भी अंश की तिथि का निर्धारण निश्चय के साथ नहीं किया जा सकता था। किन्तु शान्ति-पर्व का नारायणीय खण्ड, जिस पर विस्तृत विचार किया जाएगा, शंकराचार्य से अधिक प्राचीन है, जिन्होंने इससे उद्धरण दिए हैं।

नारद को नर एवं नारायण का दर्शन करने बदरिकाश्रम जाते हुए चित्रित किया गया है। नारायण धार्मिक कृत्यों के सम्पादन में लगे हुए थे। नारद ने नारायण से पूछा कि आप किसकी अर्चना करते हैं, जबकि आप स्वयं परमेश्वर हैं? नारायण ने नारद को बतलाया कि मैं अपनी आदिप्रकृति की पूजा करता हूँ जोकि सत् एवं जो होने वाला है, उस सब की योनि है। धर्म के पुत्र नर एवं नारायण तथा कृष्ण एवं हरि को परमात्मा के चार स्वरूपों के रूप में चित्रित किया गया है।

नारद उस आदिप्रकृति के दर्शन के लिए आकाश मार्ग से उड़े और मेरु पर्वत के श्रृङ्ग पर उतरे। वहाँ पर उन्होंने इन्द्रियों से रहित, कुछ भी न खाने वाले निष्पाप, छत्र के समान शिरों वाले, मेघ की गर्जना के समान निनाद करने वाले तथा भगवान् के भक्त श्वेत-पुरुषों को देखा। इसके बाद युधिष्ठिर ने भीष्म से पूछा कि ये लोग कौन थे? तथा वे इस प्रकार के कैसे हो गए?

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

तब भीष्म ने राजा उपरिचर की कथा सुनाई कि जो सात्त्वत-विधि के अनुसार भगवान् की पूजा करते थे। वे इन्द्र द्वारा सत्कृत, यशस्वी, सत्यपरायण एवं पवित्र नृपति थे। वे भोजन के समय पाञ्चरात्र मत के सर्वश्रेष्ठ विद्वानों को अग्र आसन प्रदान करके सम्मानित करते थे। तदुपरान्त कथाकार ने चित्र-शिखण्डियों का उल्लेख किया है जो कि इस धर्म के आदि प्रवर्तक प्रतीत होते हैं। मेरु पर्वत पर उन्होंने इसे प्रकाशित किया। वे सात थे—मरीचि, अत्रि, अङ्गिरस्, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु एवं वसिष्ठ। आठवें स्वायम्भुव थे। इन आठों से इस दिव्य शास्त्र का आविर्भाव हुआ। इसका प्रवर्तन उन्होंने परम भगवान् के सामने ही किया। तब भगवान् ने ऋषियों से कहा—"आप लोगों ने शतसहस्र उत्तम श्लोकों की रचना की है, जिसमें सभी प्रकार के लोगों के लिए नियम (लोक-धर्म) विद्यमान हैं, जो यजुस्, साम, ऋक् एवं अथर्वाङ्गिरस के अनुरूप हैं तथा जो प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के विषय में नियमों को निर्धारित करते हैं। अपनी शान्त प्रकृति से मैंने ब्रह्मा को रचा तथा रौद्र प्रकृति से रुद्र को। यह शास्त्र एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के समीप परम्परागत रूप से पहुंचते हुए अन्त में बृहस्पति तक पहुँचेगा। बृहस्पति से इस शास्त्र को राजा वसु प्राप्त करेंगे। राजा इस शास्त्र का अनुसरण करेंगे और मेरे भक्त हो जाएँगे। उनकी मृत्यु के उपरान्त यह शास्त्र भी लुप्त हो जाएगा।" यह सब कह कर महान् देव अन्तर्धान हो गए। तब चित्रशिख-ण्डिओं ने इस धर्म का तब तक प्रचार किया और अन्त में यह बृहस्पति तक पहुँचा। इसके उपरान्त प्राचीन कल्प के अन्त होने पर तथा देवताओं के पुरोहित अङ्गिरस के सुत उत्पन्न होने पर देवगण आनन्दित हुए। राजा वसु उपरिचर उनके प्रथम शिष्य हुए। उन्होंने यह शास्त्र बृहस्पति से सीखा। एक समय उसने एक विशाल अश्वमेध यज्ञ अनुष्ठित किया किन्तु इस अवसर पर एक भी पशु का वध नहीं किया गया। आरण्यकों के वचनों के अनुसार भाग उपकल्पित किए गए। देवाधिदेव भगवान् ने वसु को अपने दर्शन दिए और तथा अपना भाग ग्रहण किया किन्तु और कोई भी उनके दर्शन नहीं कर कर सका। चूंकि बृहस्पति को दर्शन दिए बिना हरि ने अपना भाग ग्रहण कर लिया था इसलिए बृहस्पति क्रुद्ध हो गए और उन्होंने स्रुक् को ऊपर उठाया। उस यज्ञ प्रजापति-पुत्र एकत, द्वित और त्रित तथा सोलह ऋषि, जिनमें से मेधातिथि, तित्तिर तथा ताण्डव आदि अनेक ग्रन्थ-कर्ताओं के रूप में ख्यात हैं, उपस्थित बतलाए जाते हैं। जब बृहस्पति क्रुद्ध हुए तब सबों ने कहा कि हरि के दर्शन जिस किसी को नहीं हो सकते हैं अपितु केवल उन्हीं को हो सकते हैं जो उनकी कृपा के पात्र हों। एकत, द्वित और त्रित ने कहा

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

—"एक अवसर पर हम लोग निःश्रेयस की प्राप्ति के निमित्त क्षीर सागर के समीप उत्तर की ओर गए तथा वहाँ पर चार सहस्र वर्षों तक तप किया। अन्त में आकाशवाणी ने यह घोषित किया। 'तुम लोग उस महाप्रभु का दर्शन कैसे कर सकते हो ? क्षीरसागर में एक श्वेतद्वीप है जिसमें चन्द्रमा की सी प्रभा वाले अनिन्द्रिय, निराहार तथा भगवान् के भक्त एकान्तिक पुरुष हैं। वे सूर्य के समान प्रभावान् भगवान् के ध्यान में निमग्न रहते हैं। उसी द्वीप में जाओ। वहीं मेरी आत्मा प्रकाशित है।' तदनुसार हम लोग श्वेतद्वीप गए। उस महासत्त्व के प्रकाश की चकाचौध के कारण हम उसके दर्शन नहीं कर सके। तब हमारे अन्दर यह सत्य प्रकाशित हुआ कि जब तक हम तप नहीं करते तब तक भगवान् के दर्शन नहीं हो सकते। एक सौ वर्षों तक तप करने के उपरान्त हमने चन्द्रमा की सी प्रभा वाले पुरुष देखे जिनके चित्र भगवान् के ध्यान में पूर्णतया निमग्न थे। प्रत्येक पुरुष की प्रभा प्रलयकालीन सूर्य की प्रभा के समान थी। इसके बाद हमने एक ध्वनि सुनी "जितं ते पुण्डरीकाक्ष" (हे कमल-नयन तुम्हारी जय हो)। कुछ समय के बाद यह आकाश-वाणी हुई "जैसे तुम आए हो, वैसे ही वापस चले जाओ। उस महासत्त्व का दर्शन वे लोग नहीं कर सकते जो उसके भक्त नहीं हैं।" और तब उसके दर्शन किए बिना ही हम लोग वापस लौट आए। तब भला तुम उनके दर्शन कैसे कर सकते हो ? एकत, द्वित और त्रित से यह सुनकर बृहस्पति ने यज्ञ का समापन किया।

वसु उपरिचर को पृथ्वी के अन्दर एक बिल में उन ऋषियों के शाप के कारण रहना पड़ा, जिन्होंने देवों के साथ हुए विवाद में यह प्रतिपादित किया कि किसी भी पशु की बलि नहीं चढ़ानी चाहिए। केवल बीजों का ही यजन करना चाहिए, जबकि देवताओं का मत यह था कि यज्ञ में बकरे की बलि चढ़ानी चाहिए। यह प्रश्न वसु के सामने रखा गया और उन्होंने देवताओं के पक्ष में निर्णय दिया। नारायण ने, जिनकी उसने भक्तिपूर्वक पूजा की थी, बिल से बाहर निकालने के लिए गरुड़ को भेजकर विवर से वसु का उद्धार कराया। इसके बाद राजा को ब्रह्मलोक ले जाया गया।

इसके बाद नारद के श्वेतद्वीप जाने की कथा चलती है। वे परम पुरुष को पवित्रता एवं तेज के बोधक नामों द्वारा उनकी स्तुति करते हैं। परम पुरुष यह कहते हुए नारद के सामने अपने को प्रकट करते हैं कि उनका दर्शन ऐसे व्यक्ति को नहीं हो सकता जो कि उनका एकान्त-भक्त नहीं है। चूंकि नारद ऐसे ही (एकान्तिक) भक्त थे अतः उन्होंने उन्हें अपने दर्शन दिए। इसके बाद

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

भगवान् नारद से वासुदेव-धर्म की व्याख्या करते हैं। वासुदेव परमात्मा हैं, एवं समस्त भूतों की आत्मा हैं। वे परम स्रष्टा हैं। समस्त जीवों का प्रतिनिधित्व संकर्षण करते हैं जोकि वासुदेव के ही एक रूप हैं। संकर्षण से प्रद्युम्न —जोकि मन है—की उत्पत्ति हुई और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध—जोकि अहंकार है—उद्भूत हुए। "जो मेरे भक्त हैं, वे मुझमें प्रविष्ट होते हैं और मुक्त हो जाते हैं।" यहाँ परम पुरुष ने ऊपर उल्लिखित चार स्वरूपों को अपनी मूर्तियां कहा है। एक स्वरूप से दूसरे स्वरूप के अभ्युदय का भी उल्लेख किया गया है किन्तु इन समस्त स्वरूपों को उनकी मूर्तियां कहा गया है। तदुपरान्त वे (परमब्रह्म) स्वयं द्वारा देवों एवं समस्त वस्तुओं की रचना करने तथा स्वयं में उनके विलय होने का उल्लेख करते हैं। इसके बाद वराह, नरसिंह, बलिमर्दक वामन, भृगुवंशी एवं क्षत्रिय संहारक परशुराम, दशरथपुत्र राम तथा कृष्ण के—जो मथुरा में कंस का वध करने के लिए प्रादुर्भूत होंगे तथा वहाँ पर अनेक दानवों का वध करके अन्त में द्वारकापुरी में जा बसेंगे—अवतारों का वर्णन किया गया है। इस प्रकार अपनी चार मूर्तियों द्वारा समस्त कार्यों को सम्पन्न करके वे सात्वतों सहित द्वारका को नष्ट कर देंगे और तब ब्रह्मलोक को प्रस्थान कर जाएँगे। परम पुरुष नारायण से यह सब सुनकर नारद बदरिकाश्रम लौट आए।

३३९वें अध्याय के अन्त में तथा अगले चार अध्यायों में जो कुछ वर्णित है उसका एक अध्याय में दिए गए "जो समस्त जगत् को आच्छादित करता है, तथा जो सर्वभूतों का निवास है" वासुदेव शब्द के इस व्युत्पत्तिमूलक अर्थ को छोड़कर हमारे विषय के साथ कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है।

३४४वें अध्याय में निष्पाप व्यक्तियों के मार्ग का वर्णन इस प्रकार से किया गया है —"सूर्य द्वार है, तथा प्रवेशोपरान्त इनके समस्त सांसारिक मल जल जाते हैं, परमाणु के रूप में वे उसमें अवस्थित होते हैं, तब उससे निर्मुक्त होकर वे अनिरुद्ध रूप में प्रविष्ट होते हैं और तब मनोभूत होकर प्रद्युम्न रूप में प्रविष्ट होते हैं। इस स्वरूप का त्याग करके वे संकर्षण के स्वरूप में प्रविष्ट होते हैं अर्थात् जीवात्मा का रूप धारण करते हैं। इसके बाद तीनों गुणों से मुक्त होकर वे परमात्मा में प्रविष्ट होते हैं। यह परमात्मा सर्वत्र विद्यमान है और वासुदेव है। ३४६वें अध्याय में वैशम्पायन जनमेजय से कहते हैं कि जो ज्ञान नारद जी को साक्षात् जगदीश्वर नारायण से विस्तारपूर्वक प्राप्त हुआ, हरिगीता में उसी का संक्षेप में उपदेश दिया गया। ३४८वें अध्याय में इस एकान्तिक धर्म को युद्ध के प्रारम्भ में अर्जुन को दिए गए ज्ञान

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

से अभिन्न बतलाया गया है। प्रत्येक ब्रह्मा की रचना पर इस धर्म का प्रकाशन ब्रह्मा द्वारा किया जाता है और ब्रह्मा का अन्त होने पर यह तिरोहित हो जाता है। चतुर्थ ब्रह्मा के विवरण में प्रकाशित धर्म को दो बार सात्वत कहा गया है। इस प्रकार वर्तमान या सातवें ब्रह्मा तक यह धर्म आगे चला आया। इस ब्रह्मा में इस धर्म का उपदेश पहले पितामह को दिया गया और पितामह से यह क्रमशः दक्ष को, दक्ष से उनके दौहित्र को, उनसे ज्येष्ठ आदित्य को, उनसे विवस्वान को, विवस्वान से मनु को एवं मनु से इक्ष्वाकु के पास आया। आगे चल कर यह कहा गया है कि इस आदि महान्, सनातन, दुर्ज्ञेय एवं कष्टसाध्य धर्म को सात्वत धारण करते हैं।

यह धर्म पशुओं की अहिंसा से सम्बद्ध है तथा सम्यक् रूप से पालन किए जाने पर भगवान् हरि इससे प्रसन्न होते हैं। कभी-कभी भगवान् के एक ही व्यूह का उपदेश दिया गया है, कभी दो का तो कभी तीन या चार का। वैशम्पायन यह कहते हुए उपसंहार करते हैं कि इस प्रकार उन्होंने एकान्तिक धर्म की व्याख्या की।

(इस प्रकार) यहां पर हमें (ये) दो विवरण प्राप्त होते हैं जिनमें दूसरा विवरण प्रथम विवरण के साथ जुड़ा हुआ है। किन्तु प्रथम विवरण अधिक प्राचीन वस्तु-स्थितियों का वर्णन करता हुआ जान पड़ता है। यहाँ पर ये बातें उल्लेखनीय हैं :—

१. वसु उपरिचर द्वारा अनुष्ठित यज्ञ में किसी भी पशु का वध नहीं किया गया।

२. आरण्यकों की—जिनमें उपनिषद् भी अन्तर्भूत हैं, शिक्षाओं के अनुसार यज्ञ भाग का बटवारा किया गया।

३. प्रधान देवता देवाधिदेव थे, जो हरि भी कहलाते हैं।

४. इन देवाधिदेव हरि का दर्शन उन लोगों को नहीं हुआ जो याज्ञिक उपासना-पद्धति के अनुयायी थे जैसे बृहस्पति, तथा न उन्हें ही जिन्होंने हजारों वर्षों तक तपश्चरण किया जैसे कि एकत, द्वित और त्रित। उनका दर्शन उसे ही हुआ जोकि भक्तिपूर्वक उसकी पूजा करता है जैसे कि वसु उपरिचर। इस प्रकार यहां पर बौद्ध और जैन धर्मों की अपेक्षा अधिक रूढ़िवादी सिद्धान्तों पर आधारित धार्मिक सुधारों को लागू करने का प्रयास दृष्टिगोचर होता है। पशुवध का खण्डन तथा याज्ञिक अनुष्ठान एवं तपश्चरण का असामर्थ्य—ये बातें इस धार्मिक सुधार तथा बौद्ध धर्म दोनों ही में समान रूप से हैं। इस मत के अपने विशिष्ट सिद्धान्त ये हैं कि परम पुरुष हरि भक्तिपूर्वक उपादेय हैं

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

तथा आरण्यकों के वचन अनुल्लंघ्य हैं। वसु उपरिचर की कथा का इतना ही तात्पर्य है।

मुख्य विवरण में, जिसके अनुसार नारद श्वेतद्वीप गए थे हमें इस सिद्धान्त का अनुमोदन प्राप्त होता है कि परमात्मा के दर्शन उसी को हो सकते हैं जो भक्ति के साथ उनकी पूजा करता है। महान् नारायण नारद के सामने प्रकट होते हैं तथा उनसे वासुदेव के धर्म एवं उनके अन्य तीन व्यूहों की व्याख्या करते हैं। वे वासुदेव के भावी अवतारों का भी उल्लेख करते हैं। इनमें से एक अवतार तो वासुदेव-कृष्ण का वह अवतार है जो कि मथुरा में कंस के वध के लिए धारण किया गया था। परम नारायण स्वयं को चार व्यूहों वाले वासुदेव से अभिन्न बतलाते हैं। अन्त में यह कहा गया है कि इस धर्म का अनुसरण सात्वत करते हैं।

ये दो विवरण इस सुधार (वादी धर्म) की दो अवस्थाओं का चित्रण करते हुए प्रतीत होते हैं। प्रारम्भिक अवस्था में वासुदेव एवं उनके अन्य तीन स्वरूपों की पूजा का ज्ञान नहीं था। परमेश्वर हरि कहलाते थे तथा उनकी उपासना उस समय तक याज्ञिक-उपासना से पूर्णतया निर्मुक्त नहीं हो पाई थी। इस सुधार में किसी विशिष्ट ऐतिहासिक व्यक्ति का उल्लेख नहीं है तथा इसका प्रसार कतिपय ऋषियों ने किया था जो कि चित्रशिखण्डी कहलाते थे तथा जिनके नाम परम्परा द्वारा इस समय तक चले आए हैं। द्वितीय विवरण में इस सुधार वादी धर्म को वासुदेव, उनके भ्राता, पुत्र तथा पौत्र से सम्बद्ध कर दिया गया है तथा नूतन धर्म को भगवद्गीता में उपदिष्ट धर्म से अभिन्न बतलाया गया है। इस संशोधित मत को स्वयं नारायण द्वारा प्रवर्तित बतलाया गया है। ऐसा लगता है कि भक्ति के धर्म का विचार तो बहुत पहले ही उदित हो चुका था किन्तु इसे सुनिश्चित स्वरूप तभी प्राप्त हुआ जबकि वासुदेव ने अर्जुन को गीता का उपदेश दिया। जब उनके भ्राता, पुत्र या पौत्र कतिपय मनोवृत्तियों के अधिष्ठाता के रूप में अथवा किसी उद्देश्य के लिए उनके द्वारा सृष्ट व्यक्तियों के रूप में उनके साथ सम्बद्ध कर दिए गए तब एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय के रूप में इसका गठन हुआ। यह सम्प्रदाय सात्वतों की जाति से सम्बद्ध हो गया। अब हमें यह विचार करना है कि ये सात्वत कौन थे?

सात्वत और उनका धर्म

आदिपर्व में वासुदेव वृष्णियों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि पार्थ उन लोगों को लोलुप नहीं समझता जो कि सात्वत हैं। आदिपर्व २१८·१२

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

में वासुदेव को, आदिपर्व २२१.३१ में कृतवर्मा को, द्रोणपर्व ६७.३६ में सात्यकि को तथा उद्योगपर्व ७०.७ में जनार्दन को सात्वत कहा गया है। भीष्मपर्व के ६६वें अध्याय के अन्त में भीष्म कहते हैं—"इस नित्य, अद्भुत, कल्याणकारक एवं अनुरागी देव को वासुदेव समझना चाहिए तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र अपने श्रद्धापूर्ण आचरणों द्वारा उसकी पूजा करते हैं। द्वापर के अन्त में तथा कलियुग के आरम्भ में संकर्षण ने सात्वत विधियों के अनुसार उनका गान या व्याख्यान किया था। विष्णु-पुराण के तृतीय खण्ड के १२वें अध्याय के अन्त में यादव एवं वृष्णियों की वंशावली के विवरण में यह कहा गया है कि सात्वत अंश का पुत्र था तथा उसके समस्त वंशज उसी के नाम पर सात्वत कहलाए। भागवत में परब्रह्म को भगवान् या वासुदेव कहने वालों (९.९.४९) तथा विशिष्ट पूजा पद्धति से वासुदेव को पूजने वालों के रूप में सात्वतों का वर्णन किया गया है। इसमें सात्वतों का उल्लेख अन्धकों और वृष्णियों के साथ किया गया है जो यादव कुल के थे (१.१४.२५; २.१.२९) तथा वासुदेव को सात्वतर्षभ कहा गया है (१०.५८.४२; ११.२७.५)। पाणिनि के ४.१.११४ सूत्र पर पतञ्जलि के भाष्य में वासुदेव और बलदेव शब्दों को वासुदेव एवं बलदेव के पुत्र के अर्थ में वृष्णि नामों से व्युत्पन्न बतलाया गया है। काशिका ने इस सूत्र के उदाहरण वासुदेव एवं अनिरुद्ध दिए हैं। यहां पर अनिरुद्ध का अर्थ अनिरुद्ध का पुत्र है अतएव वासुदेव का अर्थ वासुदेव का पुत्र होना चाहिए न कि वसुदेव का, जैसा कि आगे स्पष्ट होगा। पाणिनि के ४.२.३४ सूत्र पर काशिका में "सिनि-वासुदेवाः" और "संकर्षण-वासुदेवौ" को राजवंशीय वृष्णि-नामों के द्वन्द्व-समास रूप में दिया गया है। इनमें से प्रत्येक एकवचन में है। अतएव वासुदेव शब्द का अर्थ वासुदेव नामक व्यक्ति तथा उसके पुत्र दोनों ही होगा।

इस सबसे तथा पतञ्जलि के इसी तरह के अन्य स्थलों से यह लगता है कि सात्वत, वृष्णि वंश का ही एक दूसरा नाम था। वासुदेव, संकर्षण और अनिरुद्ध इसी वंश के थे तथा इनका अपना निजी धर्म था जिसके अनुसार वासुदेव की पूजा परमात्मा के रूप में की जाती थी। इस प्रकार ऊपर नारायणीय से दिए हुए विवरण की पूर्ण पुष्टि हो जाती है।

अतएव यह प्रतीत होता है कि वासुदेव भक्ति का यह धर्म स्वयं पाणिनि जितना प्राचीन है। जैसा कि मैं अन्यत्र उल्लेख कर चुका हूं उपनिषत्काल के आसपास क्षत्रिय लोग धार्मिक विषयों पर सक्रिय चिन्तन में लगे हुए थे।[1]

१. Verhandlungen Des Vii. Internat. Orientalisten-Congresses Zu Wien. A R. Sect; p. 108-9.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

तथा इनका उल्लेख तो नूतन ज्ञान के मौलिक प्रवर्तकों के रूप में भी हुआ है। इसी बौद्धिक काल में सिद्धार्थ और महावीर ने पूर्व या मगध देश में नूतन धार्मिक सम्प्रदायों की स्थापना की। इन नूतन सम्प्रदायों ने ईश्वर तक के अस्तित्व के सिद्धान्त का या तो खण्डन कर दिया या मौन रह कर टाल दिया तथा निर्वाण प्राप्ति के मार्ग के रूप में आत्म-निषेध एवं कठोर नैतिक आचरण की स्थापना की। वे क्षत्रियों के शाक्य और ज्ञातृक कुलों के थे तथा बौद्ध एवं जैन धर्मों को इन जातियों का धर्म माना जा सकता है। किन्तु पश्चिम भारत के चिन्तन इतने क्रान्तिकारी नहीं थे तथा सात्वतों के कुल ने एक ऐसे धर्म का विकास किया जिसने परमात्मा के विचार की स्थापना की और परमात्मा की भक्ति को मुक्ति का उपाय बतलाया। ऐसा लगता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में मकदूनिया के राजदूत मेगस्थनीज ने इन सात्वतों एवं वासुदेव-कृष्ण पूजा का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है। चन्द्रगुप्त का राज्यकाल ४थी सदी ई० पू० का अन्तिम भाग था। मेगस्थनीज का कथन यह है कि हेरेक्लिस की पूजा सौरसेनोइ (Sourasenoi) नामक एक भारतीय जाति करती थी। इनके प्रदेश में मेथोरा और क्लेइसोबोरा नामक दो बड़े शहर थे और इनके राज्य में से होकर नौ-वहन योग्य जोबोरेस नदी बहती थी। सौरसेनोइ सूरसेन थे, जो क्षत्रियों की एक जाति थी। वे उस प्रदेश में रहते थे जिसमें मथुरा नगरी स्थित थी, जो कि ऊपर के सन्दर्भ की मेथोरा है और जिसमें जोबोरेस नदी बहती है जिसका समीकरण जमुना या यमुना से किया गया है। यदि वासुदेव-कृष्ण की पूजा प्रथम मौर्य के समय प्रचलित थी तो इसकी उत्पत्ति मौर्य वंश की स्थापना के बहुत पूर्व ही हो चुकी होगी। इससे मेरे इस विश्वास की पुष्टि हो जाती है कि वासुदेव कृष्ण-पूजा की उत्पत्ति उस विचारधारा से हुई जो उपनिषदों से प्रारम्भ हुई और पूर्व में यह बौद्ध एवं जैन धर्मों के रूप में शिखर पर पहुँची तथा जैनधर्म के उदयकाल के लगभग ही इसका भी उदय हुआ।

किन्तु प्रारम्भ में परमात्मा का बोधक नाम केवल वासुदेव ही था। निद्देस के अनुच्छेद तथा तीन अभिलेखों में वासुदेव नाम ही प्राप्त होता है।

भगवद्गीता में (७.१९) यह कहा गया है कि "ज्ञानवान् व्यक्ति वासुदेव को ही सब कुछ मानते हुए स्वयं को मुझ में लगा देता है"। बारह अक्षरों वाले उस भागवत-मन्त्र में, जिसे आजकल प्रायः जाना जाता है, और जिसका उल्लेख हेमाद्रि ने किया है, वासुदेव को ही नमस्कार किया गया है।[1]

१. व्रत खण्ड पृ० २२५ मन्त्र "ॐ नमो भगवते वासुदेवाय" है।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

भीष्मपर्व के अध्याय ६५ में पुरुष-परमेश्वर को सम्बोधित करते हुए ब्रह्मदेव उनसे यदु-वंश के संवर्द्धन की प्रार्थना करते हैं और तदुपरान्त अतीत काल की ओर संकेत करते हुए वे कहते हैं—"हे वासुदेव ! यह परम रहस्य, वस्तुतः जैसा है, उसी रूप में आपकी कृपा से मैंने आपको बतलाया है। स्वयं को भगवान् संकर्षण रूप में रचने के अनन्तर आपने अपने पुत्र प्रद्युम्न को उत्पन्न किया, प्रद्युम्न ने अनिरुद्धको , जो साक्षात विष्णु ही हैं, उत्पन्न किया और उन्होंने मुझे (ब्रह्मदेव को) उत्पन्न किया। मैं वासुदेव तत्त्व से निर्मित एवं आप द्वारा सृष्ट हूँ। इसी रूप में अपने को पुनः विभक्त करते हुए आप पुनः मनुष्य रूप में जन्म ग्रहण करें।" इसी पर्व के ६६वें अध्याय के प्रारम्भ में प्रजापति बतलाते हैं कि उन्होंने स्वयं समस्त प्राणियों के परमेश्वर से वासुदेव रूप में मनुष्य लोक में आकर रहने की प्रार्थना की। यह कहा गया है कि इस परमात्मा को वासुदेव रूप में जानना चाहिए। पूरे अध्याय में नित्य परमेश्वर के वर्णन के लिए केवल वासुदेव नाम का ही प्रयोग किया गया है। इन दो अध्यायों का भावार्थ यह प्रतीत होता है कि पूर्व काल में परमात्मा वासुदेव ने संकर्षण एवं ब्रह्मा तक सभी को स्वयं रचा और वर्तमान काल में ब्रह्मा ने उनसे यदुवंश में वासुदेव रूप में अवतरित होने तथा प्राचीन काल के समान स्वयं को चार अंशों में विभक्त करने की प्रार्थना की। इस प्रकार भक्ति-मत के आचार्य का नाम वासुदेव था तथा प्रस्तुत वर्णन से यह तात्पर्य निकलता हुआ प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में वह (वासुदेव) अन्य तीनों के साथ विद्यमान था। ऊपर उद्धृत महाभारत एवं काशिका के उदाहरणों में वृष्णि वंश के सदस्य के रूप में भी वासुदेव नाम ही आया है कोई और नहीं। "एल्युजन्स टू कृष्ण......" (इण्डि० एण्टि० भाग ३, पृ० १४ तथा आगे) शीर्षक के अपने लेख में मैंने जो स्थल उद्धृत किए हैं, उनमें कृष्ण नाम तीन बार, वासुदेव नाम तीन बार तथा जनार्दन नाम एक बार आया है। किन्तु महाभाष्य के कीलहोर्न वाले संस्करण में, जो कि बनारस के संस्करण से अधिक शुद्ध है और जिसका मैंने तब उपयोग किया था, तीन स्थानों में से दो स्थानों पर "कृष्ण" पाठ की पुष्टि केवल एक पाण्डुलिपि द्वारा होती है। कृष्ण के स्थान पर दो में से एक जगह तो "वासुदेव" नाम मिलता है और दूसरे स्थान को एकदम रिक्त छोड़ दिया गया है। इस प्रकार वासुदेव नाम का प्रयोग चार बार किया गया है और कृष्ण का केवल एक बार। भगवद्गीता (१०.३७) में भगवान् ने कहा है कि वृष्णियों में वे वासुदेव हैं। बौद्ध घटजातक में उपसागर और देवगब्भा के दो जेठे बेटों का नाम वासुदेव और बलदेव दिया गया है। गद्य भाग में दूसरा नाम नहीं दिया गया है किन्तु

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

गद्य की मध्यवर्तिनी गाथाओं में काण्ह और केशव नाम दिये गए हैं। प्रथम गाथा पर व्याख्याकार ने यह टिप्पणी दी है कि यहाँ पर कृष्ण को उसके गोत्र नाम "काण्ह" से सम्बोधित किया गया है, क्योंकि वे काण्हायन गोत्र के थे। इस प्रकार टीकाकार ने अपना यह विश्वास व्यक्त किया है कि "वासुदेव" किसी व्यक्ति विशेष का व्यक्ति बोधक नाम था। अपने इस विश्वास को टीकाकार ने महा उम्मगजातक में आई हुई एक गाथा की अपनी टीका में पुनः व्यक्त किया है। इसमें जाम्ववती का उल्लेख वासुदेव-कान्ह की प्रेयसी के रूप में किया गया है। यहाँ पर भी वासुदेव का उल्लेख काण्हायन-गोत्रीय व्यक्ति के रूप में किया गया है तथा जिसमें "वासुदेवस्स कण्हस्स" आता है। स्वयं उस गाथा से यह प्रतीत होता है कि कण्ह गोत्र नाम था और इसका (वासुदेवस्स कण्हस्स) अर्थ कण्ह-गोत्रीय वासुदेव था। अतः स्वयं गाथाकार वासुदेव को व्यक्ति विशेष का व्यक्ति-वाचक मानता हुआ प्रतीत होता हैं। इस प्रकार गाथाकार एवं गद्यांश की परस्पर में सहमति है।

इस प्रकार वासुदेव एक व्यक्ति बोधक नाम प्रतीत होता है। अपत्य वाचक शब्द नहीं, और जब वासुदेव धर्म या भागवत सम्प्रदाय का उदय हुआ, उस समय सर्वश्रेष्ठ देव इसी नाम से ख्यात हुआ। वसुदेव उनके (भगवान् के) पिता थे इस धारणा का उदय आगे चलकर हुआ होगा। महाभाष्य में दिए गए "वासुदेवः" इस उदाहरण से मुझे यह बात सूझी है। यह उदाहरण "वासुदेव के पुत्र या वंशज" इस अर्थ में दिया गया है, "वसुदेव के पुत्र" इस अर्थ में नहीं जैसा कि 'बलदेव का पुत्र बालदेव" इस मिलते जुलते उदाहरण से अनुमान किया जा सकता है। बलदेव वासुदेव से सम्बद्ध थे, वसुदेव से नहीं। कृष्ण, जनार्दन एवं केशव वृष्णि वंश के नाम प्रतीत नहीं होते और परवर्ती काल में जब कि वासुदेव की उपासना चारों ओर फैल गई तब ये नाम वासुदेव के साथ जोड़ दिए गए। ये तीनों नाम पतञ्जलि में भी आते हैं परन्तु जहां तक मुझे मालूम है जनार्दन और केशव नाम केवल एक ही बार आए हैं। किन्तु इनमें से जनार्दन, केशव एवं अन्य बहुत से प्रयुक्त नामों की अपेक्षा कृष्ण नाम अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह वैसा ही व्यक्ति बोधक नाम है जैसा कि वासुदेव यद्यपि वासुदेव नाम के साथ विशेष रूप से धार्मिक महत्त्व जुड़ा हुआ है। तब फिर इस कृष्ण नाम का प्रयोग कैसे होने लगा? यह अष्टम मण्डल के चौहत्तरवें सूक्त के प्रवक्ता एक वैदिक ऋषि का नाम था। उसने इस सूक्त के तीसरी और चौथी ऋचा में स्वयं को कृष्ण कहा है। अनुक्रमणी के लेखक ने इसे अङ्गिरस गोत्र का आङ्गिरस कहा है। कौ० ब्रा०

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

(३०.६) में स्पष्टतया इसी कृष्ण आङ्गिरस का निर्देश किया गया है तथा इन्हें ब्राह्मणाच्छंसि पुरोहित के सम्बन्ध में सान्ध्य हवि का द्रष्टा बतलाया गया है। पाणिनि ४.१.६६ के गण-पाठ में कृष्ण शब्द आता है। पाणिनि के ४.१.६६ के गणपाठ में कृष्ण और रण शब्दों को गोत्र वाचक का कार्ष्णायण और राणायण नामों का व्युत्पादक बतलाया गया है। ये ब्राह्मण गोत्र हैं और वासिष्ठ वर्ग में आते हैं। इनमें से कार्ष्णायण वह गोत्र है जो कि ऊपर उल्लिखित जातकों की गाथाओं की टीकाकार द्वारा निर्दिष्ट है। किन्तु टीकाकार ने स्पष्ट ही इसे ब्राह्मण जाति तक ही सीमित नहीं रखा। इसके बाद देवकीसुत के रूप में कृष्ण का नाम छान्दोग्य उपनिषद् (३.१७) में आया है। वह आङ्गिरस घोर का शिष्य था। यदि कृष्ण भी आङ्गिरस थे, जो कि असम्भव नहीं है, तो इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ऋग्वेद के मन्त्रों के समय से लेकर छान्दोग्य-उपनिषद् के काल तक कृष्ण को एक ऋषि के रूप में माने जाने की तथा कार्ष्णायण गोत्र के होने की एक परम्परा थी। कार्ष्णायण का शाब्दिक अर्थ कृष्णों का समूह होता है, आदि कृष्ण इस गोत्र के संस्थापक थे। इस परम्परा के कारण ही ऋषि का वासुदेव के साथ तब अभेद स्थापित हुआ होगा जब कि वासुदेव परम देवता के पद पर पहुँच गए होंगे। जैसे कि ऐतेरेय ब्राह्मण में प्राप्त होने वाले परीक्षित के पुत्र जनमेजय का नाम आगे चल कर एक ऐसे व्यक्ति के नाम के रूप में प्रयुक्त होने लगा जिसे महाभारत सुनाया गया था तथा जिसका वंश पाण्डव अर्जुन से सम्बद्ध बतलाया गया था। उसी तरह यह संभव है कि वासुदेव का ऋषि कृष्ण से तादात्म्य स्थापित किया गया हो तथा उनका वंश शूर और वसुदेव से होते हुए वृष्णि बतलाया गया। वासुदेव को कृष्ण कहे जाने का सबसे अच्छा स्पष्टीकरण सम्भवतः जातक की गाथाओं के अट्ठकथाकार द्वारा दिया हुआ है। वे कहते हैं कि कृष्ण एक गोत्र का नाम था। इसकी पुष्टि जैसा कि मुझे लगता है, स्वयं गाथाकार ने की है। कार्ष्णायण (जो कि कण्हायन ही है) गोत्र का उल्लेख न केवल उपर्युल्लिखित गणपाठ में वसिष्ठ वर्गीय ब्राह्मण-गोत्र के रूप में ही हुआ है अपितु मत्स्य-पुराण[1] में इसी गोत्र के एक उपविभाग पाराशर गोत्र के रूप में भी हुआ है। यद्यपि कार्ष्णायण गोत्र एक ब्राह्मण एवं पाराशर था किन्तु याज्ञिक उद्देश्यों के निमित्त इसे किसी क्षत्रिय ने भी ग्रहण कर लिया होगा। आश्वलायन श्रौ० सू० (१२.१५) के अनुसार क्षत्रियों के लिए बतलाए गए गोत्र एवं प्रवर वही हैं जो कि उनके ऋत्विजों एवं पुरोहितों के होते हैं। समस्त क्षत्रियों के एकमात्र पूर्वज ऋषि मानव,

१. पुरुषोत्तम की प्रवरमञ्जरी के मैसूर संस्करण में भी उद्धृत।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

ऐल और पौरुरवस हैं। इनके नामों द्वारा एक क्षत्रिय कुल का अन्य क्षत्रिय कुल से पार्थक्य नहीं हो पाता तथा इस प्रकार के पार्थक्य के द्योतन के निमित्त ऋत्विजों के प्रवर एवं गोत्र का ग्रहण किया जाता है। अत एव वासुदेव काष्र्णायिण गोत्र के थे हालांकि यह एक ब्राह्मण एवं पाराशर गोत्र था। इस गोत्र के होने के नाते वे (वासुदेव) कृष्ण नाम से विश्रुत हुए होंगे। कृष्ण नाम से विश्रुत होने पर प्राचीन कृष्ण की विद्वत्ता एवं आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि तथा उनके देवकी-सुत होने की परम्परा वासुदेव पर अध्यारोपित हो गई और यही बात है कि भीष्म ने शान्तिपर्व के ३८वें अध्याय में यह कहा है कि कृष्ण को सर्वोच्च सम्मान देने के दो कारणों में से एक कारण यह है कि उन्हें वेदों और वेदाङ्गों का ज्ञान है और वे ऋत्विज भी हैं। विविध देवों को किसी एक देव के ही स्वरूप या अवतार मानकर और इस प्रकार एकेश्वरवाद से बहुदेववाद को विकसित करते हुए किसी एक देव का अन्य देवों के साथ अभेदस्थापन करने की हिन्दुओं की चिन्तन-धारा के कारण ही इस वासुदेव का अन्य देवों एवं गोकुल के गोपाल कृष्ण से तादात्म्य-स्थापन हुआ। इसका निर्वचन हम बाद में करेंगे।

नारायणीय में हमें भागवत या पाञ्चरात्र मत का निर्वचन प्राप्त होता है। इस मत का पूर्ण विकसित रूप में विवेचन बाद में किया जाएगा। अभी हम अपना ध्यान इस कथन की ओर डालेंगे कि वासुदेव द्वारा प्रतिष्ठापित ऐकान्तिक धर्म का विवेचन हरि-गीता में उस समय किया गया था जब कि कुरुओं एवं पाण्डवों की सेनाएं एक दूसरे के आमने सामने खड़ी थीं और अर्जुन वैक्लव्य को प्राप्त हो चुके थे। यह निर्देश वस्तुतः भगवद्गीता की ओर है।

यह कथन (स्थल) भक्ति सूत्र ८३ तथा इसके भाष्य में उल्लिखित है जिसमें यह कहा गया है कि एकान्तभाव (जो नारायणीय का विषय है) या केवल एकदेव देव के प्रति पूर्ण भक्ति-भाव ही भक्ति है क्योंकि एकान्तभाव को उक्त कथन में भगवद्गीता के मुख्य विषय से अभिन्न बतलाया गया है। किन्तु भगवद्गीता में व्यूहों या परमात्मा के संकर्षणादि स्वरूपों का उल्लेख प्राप्त नहीं होता जब कि व्यूह भागवत संप्रदाय का एक वैशिष्ट्य है। किन्तु गीता में वासुदेव की प्रकृतियों के रूप में मन, बुद्धि, अहंकार तथा जीव का उल्लेख किया गया है (७.४.५)। यहाँ पर जीव भागवत सम्प्रदाय का संकर्षण है, अहङ्कार अनिरुद्ध है तथा मन (जिससे बुद्धि सम्भवतः सम्बद्ध है) प्रद्युम्न है। यहां पर जो तथ्य प्रतीत होता है, वह यह है—भगवद्-

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

गीता की रचना भागवत-मत के सिद्धान्तों के सम्प्रदाय विशेष के रूप में व्यवस्थित होने से पूर्व ही हो चुकी थी और इसकी रचना के बाद ही परमात्मा की तीन प्रकृतियों को संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध (जो कि वासुदेव के ही कुल के थे) का व्यक्तित्व प्रदान किया गया। किन्तु प्रारम्भिक काल में प्रचलित पूजन में वासुदेव के साथ केवल संकर्षण ही मिलते हैं, जैसाकि प्रारम्भ में ही उल्लिखित अभिलेखों एवं निद्देस के स्थल से प्रकट होता है। पाणिनि के २.२.३४ सूत्र के भाष्य में पतञ्जलि ने एक श्लोक लिखा है जिसमें यह कहा गया है कि धनपति राम एवं केशव के मन्दिरों में समारोहों में कतिपय वाद्य बजाए जाते हैं। यहाँ पर राम एवं केशव बलराम एवं वासुदेव कृष्ण हैं तथा यह स्पष्ट है कि पतञ्जलि के समय में इनके मन्दिरों में समारोह हुआ करते थे। अब यदि पाणिनि के ६.३.६ के भाष्य में पतञ्जलि के "जनार्दन स्वयं चतुर्थ रूप में अर्थात् तीन अनुषङ्गियों सहित" इस वचन को तीन व्यूहों का निर्देश करने वाला माना जाए तो यह समझा जाना चाहिए कि वासुदेव, संकर्षण प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ये चारों व्यूह पतञ्जलि के काल में ज्ञात थे यह फिर भी संदिग्ध है तथापि यह बात मानी जा सकती है कि वासुदेव और संकर्षण केवल ये दो व्यूह ही उस नवीनतम अभिलेख के काल तक जिसका समय लगभग ई० प्रथम शतक के प्रारम्भ में माना जाता था, ज्ञात थे। अत एव चार व्यूहों वाली व्यवस्था का उस समय तक पूर्णरूपेण विकास नहीं हुआ था। यदि यह तर्क ठीक है तो यह देखना होगा कि भगवद्गीता (जिसमें व्यूहों का कोई उल्लेख नहीं है) की तिथि इन अभिलेखों, निद्देस तथा पतञ्जलि की तिथियों से बहुत पहले की होगी अर्थात् इसकी रचना चौथी सदी ई० पू० के प्रारम्भ से बाद की नहीं होनी चाहिए। यह कितना प्राचीन है, यह कहना कठिन है। जब गीता की कल्पना और रचना की गई उस समय नारायण एवं वासुदेव के बीच तादात्म्य स्थापित नहीं हुआ था, न ही विष्णु के अवतार के रूप में उन्हें मान्यता ही प्राप्त हुई थी, जैसा कि स्वयं गीता से ही स्पष्ट होता है अर्जुन को जब वासुदेव के विराट स्वरूप का दर्शन कराया गया, जैसा कि ग्यारहवें अध्याय में वर्णित है, तब अर्जुन ने उन्हें (तेज द्वारा) प्रत्येक वस्तु को भासित करने तथा समस्त जगत् में व्याप्त दुर्निरीक्ष्य तेज से युक्त होने के कारण दो बार विष्णु कहा है। यहाँ पर विष्णु का निर्देश आदित्यों के प्रधान के रूप में किया गया है, परमेश्वर के रूप में नहीं। वासुदेव इसी अर्थ में विष्णु थे जैसा कि १०वें अध्याय में उल्लिखित है क्योंकि किसी भी वर्ग या श्रेणी में जो सर्वश्रेष्ठ वस्तु है उसे उनकी विभूति कहा गया है।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

प्रचलन में आने वाले किसी भी नवीन धार्मिक मत का एक वैशिष्ट्य यह होता है कि इसके अनुयायी इस विचार से सन्तुष्ट नहीं होते कि मत के संस्थापक के रूप में विख्यात व्यक्ति से ही मत की उत्पत्ति हुई। वे इसकी उत्पत्ति को अनेकों युग पूर्व ले जाते हैं। सिद्धार्थ के पूर्व अनेकों बुद्ध माने गए और इसी प्रकार महावीर से पूर्व अनेकों तीर्थंकर भी हुए। इसी प्रकार भागवत-सम्प्रदाय में भी हम यह देख चुके हैं कि इस मत का उपदेश प्रत्येक ब्रह्मा के समय आदि में नारायण द्वारा दिया जाता है तथा वर्तमान ब्रह्मा के समय इसका उपदेश पहले पितामह या प्रजापति को दिया गया और उनसे यह दक्ष, विवस्वत्, मनु एवं इक्ष्वाकु के पास गया। इसके उपदेश या प्रकाशन के अन्तिम क्रम का निर्देश भगवद्गीता के चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ में किया गया है। इससे नारायण द्वारा प्रकाशित ऐकान्तिक धर्म तथा गीता के धर्म की अभिन्नता विषयक नारायणीय में उल्लिखित परम्परा की पुष्टि हो जाती है। भागवत मत की उत्पत्ति को पीछे ले जाने के मामले में यह मत बौद्ध एवं जैन मतों से मिलता है।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

भगवद्गीता का सारांश

अब हम भगवद्गीता के मुख्य विषयों का अनुशीलन करेंगे क्योंकि सभी तरह से यह भक्ति मत या ऐकान्तिक धर्म की प्राचीनतम रचना प्रतीत होती है।

अध्याय २—अर्जुन युद्ध नहीं करना चाहते क्योंकि युद्ध से उनके स्वजनों, सामान्य सम्बन्धियों एवं अन्य जनों का विनाश होगा। भगवान् जीवात्मा की नित्यता एवं अविनाशिता का उपदेश देकर उनके इस वैक्लव्य को दूर करने का प्रयत्न करते हैं। यहाँ पर दो श्लोक ऐसे हैं जो कि एक पंक्ति के किञ्चित् अन्तर के साथ कठउपनिषद् में भी प्राप्त होते हैं। इसके बाद युद्ध करना क्षत्रिय का कर्तव्य बतलाया गया है जिसके लिए धर्म्य युद्ध से बढ़कर और कुछ भी श्रेयस्कर नहीं है। इसे सांख्य की चिन्तन पद्धति कहा गया है और इसके बाद योगमार्ग का वर्णन है। योग मार्ग में चित्त की स्थिति व्यवसायात्मिका होती है। विभिन्न कामनाओं की पूर्ति के निमित्त वैदिक विधानों के अनुसार विधि-विधानों को करने वालों की बुद्धि व्यवसायात्मिका नहीं हो सकती या वे स्थितप्रज्ञ नहीं होते। इस प्रकार की प्रज्ञा को प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्ति को केवल करणीय कर्म का ही चिन्तन करना चाहिए, उस कर्म से प्राप्त होने वाले फल का नहीं। समाहित चित्त एवं फलों के प्रति अनासक्त होते हुए व्यक्ति को केवल कर्म में ही लग जाना चाहिए। दृढ़ संकल्प के साथ कर्मों के प्रति इस निष्ठा द्वारा व्यक्ति अन्ततः स्थितप्रज्ञता प्राप्त कर लेता है। उसकी समस्त कामनाओं का उन्मूलन हो जाने से वह ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त कर लेता है। अपने जीवन के अन्तकाल में इस स्थिति में रहते हुए वह ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। इस स्थिति का कठ एवं बृहदारण्यक उपनिषद् में वर्णित इस सिद्धान्त से साम्य है कि जब हृदय में स्थित समस्त कामनाओं का उन्मूलन हो जाता है तो मर्त्य अमर हो जाता है एवं ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है[1]। किन्तु इस लक्ष्य की प्राप्ति के निमित्त निर्धारित मार्ग

---

१. यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा यस्य हृदि स्थिताः

क० उ० ६,१४ तथा बृ० उ० ४,४,७ में भी।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

केवल नैतिक (moral) ही नहीं है अपितु धार्मिक (Religious) भी है क्योंकि यह कहा गया है कि चित्त को चञ्चल करने वाली इन्द्रियों के निग्रह के उपरान्त व्यक्ति को भगवद् भक्ति में लग जाना चाहिए।

अध्याय ३—मार्ग दो प्रकार के हैं, ज्ञान योग का मार्ग जो कि सांख्यों के लिए है तथा कर्मयोग का मार्ग जो कि योगियों के लिए है। प्रत्येक प्राणी का जन्म कर्ममय जीवन के लिए हुआ है किन्तु कृत कर्म उसे सांसारिक बन्धनों में नहीं बांधते बशर्ते कि वह कर्मों को यज्ञ के लिए करता है न कि निजी उद्देश्यों के लिए। आत्माराम, आत्मतृप्त एवं अपने आप से ही संतुष्ट व्यक्ति के लिए कोई भी कर्म आवश्यक नहीं है किन्तु दूसरे व्यक्तियों के लिए कर्म करना आवश्यक है और ये कर्म विना आसक्ति के किए जाने चाहिएँ। जनक आदि ने केवल कर्म के द्वारा अर्थात् कर्मठ जीवन का आश्रय लेकर संसिद्धि को प्राप्त किया। ये कर्म परमात्मा को समर्पित होने चाहिएँ तथा व्यक्ति को उनसे अपने लिए फल की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए। परन्तु यह मनःस्थिति ऐसे साधारण जनों को प्राप्य नहीं है जो कि शारीरिक आवश्यकताओं और ऐन्द्रयिक वासनाओं के दास हैं। इसके बाद एक प्रश्न किया गया है कि मनुष्य को पाप करने के लिये प्रेरित करने वाली चीज क्या है? इसका उत्तर यह है कि ये काम और क्रोध हैं जो कि सर्वाधिक शक्तिशाली हैं तथा मनुष्य की अन्तरात्मा को आवृत कर लेते हैं। काम इन्द्रियों के द्वारा सक्रिय होता है, परन्तु मन इन्द्रियों से परे है, मन से परे बुद्धि है, और बुद्धि से भी परे आत्मा है। अपने को बुद्धि से परे जानकर मनुष्य प्रयत्न करके स्वयं को निगृहीत करे और इन्द्रिय मन तथा बुद्धि के द्वारा सक्रिय होने वाले काम का हनन करे। यहाँ पर एक का दूसरे से उत्तरोत्तर परे होने का विचार कठ उपनिषद् से लिया गया है। "कर्म आसक्ति रहित होकर करना चाहिये" यह उपदेश करते समय भगवान् सांख्य के इस सिद्धान्त के यथासंभव समीप हैं कि "अहंकार विमूढ पुरुष स्वयं को प्रकृति के गुणों से क्रियमाण कर्म का कर्ता मानता है तथा प्रकृति के गुणों द्वारा भ्रान्त होकर वह गुणों और कर्मों में फंस जाता है।"

अध्याय ४—यह अध्याय भगवान् द्वारा इस मत को सर्वप्रथम विवस्वान् से कहे जाने के उल्लेख के साथ प्रारम्भ होता है। प्रसङ्गवश विवस्वान् के समय भगवान् के अस्तित्व का प्रश्न उठता है और तब भगवान् अपने पुनः २ जन्म लेने तथा दुष्टों के विनाश के लिये अपनी प्रकृति द्वारा अवतार ग्रहण

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

करने की बात बतलाते हैं। भगवान् के दिव्य जन्मों और कर्मों को तत्त्वतः जानने वाले लोग शरीर त्याग के उपरान्त पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होते। जो लोग ज्ञान के द्वारा पवित्र हो चुके हैं, जिनके राग, भय और क्रोध नष्ट हो चुके हैं, जिन्होंने भगवान् का आश्रय ग्रहण किया है और जो भगवान् में स्थित हैं, ऐसे लोग भगवान् की ही स्थिति को प्राप्त होते हैं। भगवान् को जो जिस रूप में भजते हैं भगवान् भी उन्हें उसी रूप में भजते हैं। मनुष्य सर्वत्र उन्हीं के मार्ग का अनुसरण करते हैं। अनासक्त कर्म के इस विचार का आगे और पल्लवन किया गया है। इसके बाद लाक्षणिक या प्रतीक यज्ञों का उल्लेख किया गया है जैसे कि इन्द्रियों का संयमाग्नि में हवन, इन्द्रिय-विषयों का इन्द्रियाग्नि में हवन तथा आत्म-संयम रूपी योगाग्नि में इन्द्रियों के व्यापारों का हवन। इन सभी यज्ञों का सम्पादन क्रियाओं के बिना नहीं हो सकता है। इनमें से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है क्योंकि इसके द्वारा व्यक्ति अपने तथा परमात्मा में समस्त भूतों को देख सकता है। परमज्ञान समस्त पापों से मुक्त कर देता है तथा कर्मों के दूषित फलों को भी भस्म कर देता है। योग की अनुभूति कर्मों के प्रभावों का उच्छेदन कर देती है। यह परमज्ञान समस्त संशयों का उच्छेदन कर देता है तथा व्यक्ति पूर्ण मुक्त आत्मा बन जाता है। जब कर्म इस रूप में किए जाते हैं तो इससे व्यक्ति दोष मुक्त रहता है। यहाँ पर यज्ञों की तर्क संगत व्याख्या करने की प्रवृत्ति, जो उपनिषत्काल में विद्यमान थी, विकसित स्वरूप में दिखलाई पड़ती है, क्योंकि यहाँ पर इन्द्रिय-निग्रह, ज्ञानाधिगम सदृश क्रियाओं को यज्ञ बतलाया गया है।

यहाँ पर ध्यान देने योग्य दूसरी बात यह कथन है कि "भगवान् मनुष्यों को उसी प्रकार भजते हैं जिस रूप में मनुष्य उन्हें भजते हैं" अर्थात् लोग जिस भावना के साथ भगवान् के पास पहुँचते हैं, ईश्वर भी उसी भावना का आश्रय लेते हैं। इसके उपरान्त यह घोषणा की गई है कि मनुष्य सभी जगह भगवान् के ही मार्ग का अनुसरण करते हैं, भले ही उनके दृष्टिकोणों में भेद क्यों न हो। इस कथन में इस सिद्धान्त के बीज विद्यमान हैं कि सभी धर्मों में सत्य का आधार रहता है।

अध्याय ५—सांख्य और योग को संन्यास एवं कर्मयोग से सम्बद्ध किया गया है। ये एक दूसरे से स्वतन्त्र या पृथक् नहीं हैं। दोनों में से किसी एक का भी अच्छी प्रकार से पालन करते हुए पुरुष दोनों के ही फल प्राप्त करता है। सांख्यों द्वारा जो स्थान को प्राप्त किया जाता है वही स्थान योगों द्वारा भी प्राप्त किया जाता है। क्योंकि ज्ञानयज्ञ मनुष्य को अपने में एवं परमात्मा

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

में समस्त पदार्थों के दर्शन करने में समर्थ वनाता है और इस ज्ञान द्वारा पाप से मुक्ति प्राप्त होती है। क्रियाशील जीवन या कर्मयोग से भी यही स्थिति प्राप्त होती है, बशर्ते समस्त भूतों के यथार्थ तत्त्वभूत केवल ब्रह्म में ही ध्यान लगाते हुए इच्छारहित होकर या फलों के प्रति अनासक्त रहते हुए कर्म किये जाते हैं। यद्यपि बात ऐसी ही है किन्तु योग के विना संन्यास का अनुभव कर सकना कठिन है। योग द्वारा व्यक्ति संन्यास को शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है। कोई योगी जब देखता, सुनता, खाता या सोता है तो वह यह नहीं सोचता कि वह कुछ कर रहा है। ऐसा तभी होता है जब कि ये क्रियाएं विना किसी आसक्ति के की जाती हैं, एकमात्र उद्देश्य ब्रह्म की अनुभूति रहती है। योगी आत्मशुद्धि के निमित्त अनासक्ति पूर्वक केवल इन्द्रिय, मन बुद्धि और शरीर द्वारा ही कर्म करते हैं। योग के द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाता है और योग की स्थिति में मनुष्य समस्त भूतों को समान रूप से देखता है। मनुष्य जब समस्त भूतों को समभाव से देखता है तब उसका लक्ष्य ब्रह्म होता है और इसी में वह स्थित होता है। इससे ब्रह्मनिर्वाण के मिलने तथा उसे प्राप्त करने के उपायों का विचार सामने आता है। यह ब्रह्म-निर्वाण बौद्ध धर्म के अर्हत की स्थिति से मिलता जुलता है किन्तु भगवद्गीता में यहीं अन्त नहीं हो जाता। इसमें इतनी बात और जोड़ दी गई है कि निर्वाण की इस स्थिति में पुरुष परमात्मा का ज्ञान सब प्रकार के यज्ञों और तपों के भोक्ता, समस्त लोकों के महेश्वर तथा समस्त भूतों के सुहृद् के रूप में करता है और यही ज्ञान है जिससे शान्ति या निर्वाण की प्राप्ति होती है।

अध्याय ६—जो पुरुष अपने कर्मों के फलों को न चाहता हुआ करने योग्य कर्म करता है वह संन्यासी और योगी है। मुनि होने के लिये कर्म आवश्यक है। जब पुरुष को मुनि की महिमा की प्राप्ति हो जाती है तो इसका सार शान्ति होती है। इसके बाद योगारूढ पुरुष की दशा का वर्णन आता है। तब इसके उपरान्त योग या ध्यान की प्रक्रिया का वर्णन है। जब कोई पुरुष योग की क्रियाओं का सम्पादन कर चुकता है, तो वह भगवत् में शान्ति कर लेता है अर्थात् वह भगवान् में शान्ति पूर्वक निमग्न हो जाता है। योग की स्थिति में चित्त की समस्त क्रियाओं का निरोध हो जाता है। अपने द्वारा अपने को देखता हुआ वह अपने में विराम प्राप्त करता है। इसके बाद ध्यान एवं समाधि प्रक्रिया की व्याख्या की गई है। योगी आत्मा को सम्पूर्ण भूतों तथा सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में देखता है। वह सम्पूर्ण भूतों को समदृष्टि से देखता है। जो पुरुष सम्पूर्ण भूतों में सभी के आत्मरूप परमात्मा

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

को देखता है और सम्पूर्ण भूतों को परमात्मा के अन्तर्गत देखता है उसके लिए परमात्मा अदृश्य नहीं होता। जो पुरुष सम्पूर्ण भूतों में स्थित परमात्मा को एकाकीभाव में स्थित होकर भजता है वह सर्वत्र विचरण करता हुआ भी भगवान् में ही स्थित है। जो पुरुष सुख अथवा दुख में सबको अपने ही समान देखता है, वह सर्वश्रेष्ठ योगी है। इसके बाद अर्जुन इस योग की कठिनता के बारे में प्रश्न करते हैं। वे कहते हैं कि "मन बड़ा चञ्चल" है। किन्तु भगवान् का उत्तर यह है कि अभ्यास और वैराग्य (वस्तुओं की निस्सारता का चिन्तन) द्वारा इसे वश में किया जा सकता है। अन्त में भगवान् यह उपदेश देते हैं कि जो पुरुष मुझ में श्रद्धा रखता हुआ अपनी आत्मा को केवल मुझ में ही लगा कर मुझे भजता है, वह व्यक्ति योगियों में परम श्रेष्ठ है। इस अध्याय में वर्णित योग कुछ उपनिषदों में विशेषकर श्वेताश्वतर उपनिषद् में मिलता है। "स्वयं को स्वयं में तथा अन्यत्र देखता है" यह घोषणा बृहदारण्यक (४.४.२३) में मिलती है। लेखक ने इस अध्याय का उपसंहार उस श्लोक से किया है जो हर माने में भक्ति परक है। पांचवें अध्याय का उपसंहार भी लेखक ने इस प्रयोजन से किया है ताकि पांचवें अध्याय में विद्यमान मनो-निग्रह के वर्णन और इस अध्याय के योग-वर्णन से अभक्तिपरक निष्कर्ष न निकल सके। समस्त भूतों को परमात्मा से सम्बद्ध करने का ध्यान रखा गया है।

अध्याय ७—पिछले ६ अध्यायों में फल के प्रति आसक्ति रहित कर्म के सम्पादन से लेकर ब्राह्मीस्थिति की प्राप्ति के निमित्त पूर्णतया क्रियाशील वासनाओं से मुक्त एवं समस्त भूतों में समदृष्टि रखने वाले योगी की स्थिति के प्राप्त होने तक की समस्त प्रक्रिया का वर्णन किया गया तथा अन्त में यह भी कह दिया गया है कि जो श्रद्धा एवं भक्ति पूर्वक भगवान् को भजता है, वह परम श्रेष्ठ योगी है। यह बात यह प्रदर्शित करने के लिए जोड़ दी गई है कि हम लोगों के समान मनोविकारों से युक्त व्यक्तियों द्वारा योग-स्थिति की प्राप्ति के पूर्व की प्रक्रियाओं का आचरण कर सकना कठिन है तथा इन मनो-विकारों से मुक्त होने का एकमात्र उपाय भगवान के सामने आत्मसमर्पण है। इसी लिये इस अध्याय में भगवान् ने प्राणियों के स्वभाव तथा अपने साथ उनके सम्बन्धों का वर्णन किया है। वह अपना कथन यह कहते हुये प्रारम्भ करते हैं कि भगवान् की प्रकृति पांच तत्त्वों, मन बुद्धि और अहंकार मिलाकर आठ प्रकार की है। जीव दूसरी प्रकृति है जिसके द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है। इन दोनों प्रकृतियों से समस्त भूतों एवं प्राणियों

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

की उत्पत्ति होती है भगवान् समस्त जगत् की उत्पत्ति तथा प्रलय रूप हैं। उनसे परतर और कुछ नहीं है। ये समस्त भूत सूत्र में गुंथे हुये मणियों के समान भगवान् में ही गुंथे हुये हैं। किसी भी पदार्थ का जो विशिष्ट तेज है, वह भगवान् ही हैं। तीनों गुण तथा इनसे उत्पन्न होने वाले भाव भगवान् से ही उद्भूत हैं। परन्तु वास्तव में न ही भगवान् उनमें हैं और न वे भगवान् में। भगवान् इन तीनों भावों से पर हैं। इन तीनों गुणों के कार्यरूप तीन प्रकार के भावों से विमोहित यह संसार तीनों गुणों से पर अविनाशी भगवान् को नहीं जानता। भगवान् की तीन गुणों वाली यह माया बड़ी दुस्तर है परन्तु जो भगवान् को भजते हैं वे इस माया को उल्लंघन कर जाते हैं। माया द्वारा अपहृत ज्ञान वाले एवं आसुरी स्वभाव को धारण करने वाले मूढ़ लोग भगवान् की शरण में नहीं जाते। भगवान् के भक्त चार प्रकार के हैं। इनमें ज्ञानी अति उत्तम हैं। ज्ञानी भगवान् को सर्वोत्कृष्ट आश्रय मान कर एकाकी भाव से भगवान् में स्थित होता है। ज्ञानी व्यक्ति वासुदेव को ही सब कुछ समझता हुआ उन्हीं के आगे आत्मसमर्पण कर देता है। अन्य पुरुष अन्य देवताओं की शरण में जाते हैं और विभिन्न नियम धारण करते हैं। उन देवताओं के प्रति उनकी श्रद्धा को भगवान् ही उत्पन्न करते हैं। वे लोग श्रद्धा से युक्त होकर उन देवताओं की आराधना करते हैं तथा इच्छित भोगों को प्राप्त करते हैं। इन भोगों का विधान स्वयं भगवान् ही करते हैं। परन्तु यह फल नाशवान् है। भगवान् के अव्यय एवं अनुत्तम भाव को तत्वतः न जानते हुये अल्पबुद्धि या निर्बुद्धि लोग उन्हें पहले तो अव्यक्त किन्तु बाद में व्यक्त भाव को प्राप्त हुआ मानते हैं। योगमाया द्वारा छिपा हुआ होने से भगवान् सभी के लिये प्रत्यक्ष होने योग्य नहीं हैं। वे अतीत, वर्तमान और भविष्य को जानते हैं किन्तु उन्हें कोई भी नहीं जानता। इच्छा और द्वेष से उत्पन्न हुये मोह से समस्त प्राणी मोहित हो रहे हैं। जो प्राणी द्वन्द्व के मोह से विनिर्मुक्त हैं तथा पुण्य कर्मों से जिनके पापों का अन्त हो गया है, केवल वही लोग भगवान् को भजते हैं। जो पुरुष भगवान् को अधियज्ञ एवं अधिभूत रूप में जानते हैं वे पुरुष अन्तकाल में भी भगवान् को ही जानते हैं।

समस्त सत्-पदार्थों के एक साथ भगवान् में गुम्फित होने के विचार की तुलना हम मु० उ० २.२५ तथा बृ० उ० ३,८,३-४.६.७ से कर सकते हैं कतिपय इच्छाओं से प्रेरित होकर सामान्य जनों द्वारा अन्य देवों के आश्रयण की बात बतलाई गई है। अपने अपने (उपास्य) देवों के प्रति उन लोगों की आस्था को भगवान् ही सुदृढ़ करते हैं तथा इन देवताओं से जो काम इन लोगों को

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

प्राप्त होते हैं, वे भी भगवान् द्वारा ही दिये जाते हैं। किन्तु इनसे प्राप्त होने वाले फल विनाशी हैं। यहाँ पर हमें वैसा ही विचार उपलब्ध होता है जैसा कि अध्याय ४ में देखा जा चुका है तथा जैसा कि हम ९वें अध्याय में देखेंगे कि अन्य देवों के भक्त भी वस्तुतः भगवान् के ही भक्त हैं और सभी धर्मों में एकता के तत्त्व हैं।

अध्याय ८—पिछले अध्याय के अन्तिम श्लोक में जिन तीन विषयों का उल्लेख है, उन्हीं तथा ब्रह्म और अध्यात्म के विषय में प्रश्न करते हुये अर्जुन इस अध्याय का प्रारम्भ करते हैं। तब भगवान् इनकी व्याख्या करते हैं। मृत्यु-काल में उनके दर्शन के विषय में वे कहते हैं, "जो पुरुष मरणकाल में मेरा स्मरण करते हुये अपना कलेवर छोड़ता है वह मेरे भाव को प्राप्त होता है"। अन्त में भगवान् कहते हैं कि जो पुरुष कवि, सर्वज्ञ, पुरातन अनुशासिता अणु से भी अणु सभी के प्रतिपालक, अचिन्त्य रूप वाले आदित्य के समान वर्ण वाले और अज्ञानरूप अन्धकार से सर्वथा अतीत भगवान् का स्मरण करता हुआ भक्ति से युक्त होकर योग बल से भृकुटियों के मध्य में प्राणों को भली भाँति स्थापित करके प्राण छोड़ता है, वह पुरुष दिव्य चेतनात्मक परम पुरुष को प्राप्त करता है। इसके बाद वे निगृहीत मन से अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति शरीर-त्याग के उपरान्त योग-प्रक्रियाओं के माध्यम से एवं 'ॐ' अक्षर के उच्चारण द्वारा तथा साथ ही साथ भगवान् का अनुस्मरण करते हुये परम पद की प्राप्ति का वर्णन करते हैं। भगवान् उसे सरलता से प्राप्त हो जाते हैं जो अनन्य चेता होकर उनका नित्य स्मरण करता है तथा जो उनकी भक्ति में लगा रहता है। प्रत्येक प्राणी पुनर्जन्म का विषय है, परन्तु भगवत् प्राप्ति के उपरान्त वह इससे भी मुक्त हो जाता है। जब ब्रह्मा की रात होती है तब सभी भूत अव्यक्त में लीन हो जाते हैं तथा दिन का प्रवेश होने पर वे पुनः उसी से उत्पन्न हो जाते हैं। इस अव्यक्त से परम भिन्न एक विलक्षण भाव है जो स्वयं अव्यक्त है, सभी भूतों का नाश होने पर भी इसका नाश नहीं होता। यह अव्यक्त भाव, अक्षर है और परमा गति है। इस परम भाव को प्राप्त करने पर पुनः संसार में लौटना नहीं होता। वह भगवान् का परम धाम है। उस परम पुरुष को अनन्य भक्ति द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है जिसके अन्तर्गत समस्त भूत स्थित हैं तथा जिससे यह संसार व्याप्त है। इसके उपरान्त भगवान् दो मार्गों का वर्णन करते हैं। उत्तरायण (जब सूर्य उत्तरी पथ पर है) में मरने वाले लोग ब्रह्म को प्राप्त होते हैं तथा दक्षिणायन में मरने वाले व्यक्ति चन्द्रमा की ज्योति को प्राप्त होते हैं और फल का क्षय होने पर लौट आते हैं।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

यह ध्यान देने योग्य बात है कि भगवान् यह कहने के बाद कि मृत्युकाल में परमात्मा को ध्यान करके पुरुष उसे प्राप्त कर लेता है योग प्रक्रिया द्वारा अक्षर—जो कि परम पद है—की उपलब्धि का उल्लेख करते हैं। यह तो अक्षर-प्राप्ति के निमित्त मानो मुण्डक (२,२,३) तथा श्वेताश्वतर (१.१४) जैसी उपनिषदों में उल्लिखित योग प्रक्रियाओं की ओर लौट जाना जैसा प्रतीत होता है। प्रथम अवतरण में 'ओं' की तुलना धनुष से, 'आत्मा' की बाण से तथा 'ब्रह्म' की तुलना वेध के लक्ष्य से की गई है। द्वितीय अवतरण में पुरुष को अपने शरीर का प्रयोग नीचे की अरणि, प्रणव का प्रयोग ऊपर की अरणि तथा अरणियों में तिरोहित अग्नि के समान ईश्वर को खोजने के लिए ध्यान करने का उपदेश दिया गया है जो (ध्यान) अरणि-संघर्षण के समान है। यहाँ पर मुण्डक का अक्षर ब्रह्म श्वेताश्वतर-उपनिषद् के देव में रूपान्तरित हो गया है तथा भगवद्गीता में भी 'ओम्' के उच्चारण के साथ साथ भगवान का ध्यान करने का विधान बतलाया है। अत एव यहाँ पर हमें अक्षर, अव्यक्त ब्रह्म को सुदृढ़ एवं सुस्पष्ट व्यक्तित्व प्रदान करने का प्रयत्न दिखलाई पड़ता है। इसी अध्याय में बाद में उस अव्यक्त के अतिरिक्त एक अन्य अव्यक्त का भी उल्लेख है जिसमें संसार के प्रलयकाल में समस्त वस्तुओं का लय हो जाता है। किन्तु यहाँ पर इस अक्षर को तुरन्त भगवान् का परम धाम कह कर भक्ति-परक बना दिया गया है।

अध्याय ९—इस अध्याय में भगवान् ने प्रत्यक्ष एवं परोक्ष ज्ञान (ज्ञान और विज्ञान) की व्याख्या की है जो कि राजविद्या और राजगुह्य है। इसका प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है। यह पवित्र है, तथा इसे सुगमतापूर्वक किया जा सकता है। यह समस्त जगत् भगवान् से परिपूर्ण या व्याप्त है। वे सभी भूत भगवान् में स्थित हैं किन्तु भगवान् उन भूतों में स्थित नहीं हैं तथा वे सभी भूत भी उनमें स्थित नहीं हैं। उनका ऐश्वर्य अद्भुत है। वे भूतभृत् (सभी भूतों का भरणपोषण करने वाले) हैं किन्तु स्वयं भूतस्थ (भूतों में स्थित) नहीं हैं। उनकी आत्मा भूतभावन अर्थात् भूतों को उत्पन्न करती है। जैसे आकाश में स्थित वायु सदा ही सर्वत्र विद्यमान है वैसे ही सम्पूर्ण भूत भगवान् में स्थित हैं। सम्पूर्ण भूत प्रलय काल में भगवान् की प्रकृति में विलीन हो जाते हैं और नए कल्प के आदि में भगवान् उन्हें पुनः रचते हैं। ये सभी कर्म भगवान् को नहीं बांधते क्योंकि इन्हें वे असक्त (कामना रहित) होकर करते हैं। अध्यक्ष के रूप में उनके साथ मिलकर प्रकृति चर और अचर भूतों को रचती है। मूढ़ लोग मनुष्य-देह-धारी भगवान् को तुच्छ समझते हैं क्योंकि वे उनके

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

समस्त भूतों के महेश्वर होने के भाव को नहीं जानते। किन्तु दैवी प्रकृति से युक्त महात्मा जन उन्हें सभी भूतों का आदि कारण जानकर एवं अविनाशी समझ कर अनन्य मन से भजते हैं। कुछ लोग एकत्व भाव से, कुछ पृथक्त्वभाव से तथा कुछ विश्वतोमुख (विराट्) रूप में ज्ञान यज्ञ द्वारा भगवान् की उपासना करते हैं। वही यज्ञ हैं, वही क्रतु हैं, वही स्वधा हैं, वही औषध हैं, वही मन्त्र, घृत, अग्नि और हवन रूप क्रिया भी हैं। वही इस जगत् के पिता, माता, धाता और पितामह हैं। वही ऋक् साम तथा यजु आदि हैं। वही गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण तथा सुहृद आदि हैं। त्रैविद्य, सोमपायी यज्ञों द्वारा उन्हें पूर्ण कर स्वर्ग-प्राप्ति की कामना करते हैं, जहाँ पर वे अनेक आनन्दों को भोगते हैं। पुण्य क्षीण होने पर वे पुनः मर्त्यलोक में प्रवेश करते हैं। इस प्रकार तीनों वेदों में प्रतिपादित धर्मों पर चलने वाले आवागमन को प्राप्त होते हैं। जो लोग आनन्दभाव से भगवान् का चिन्तन करते हैं तथा उनकी उपासना करते हैं, उनके योग क्षेम का वहन भगवान् करते हैं। अन्य देवताओं के भक्तों को भी भगवान् का ही भक्त माना जाना चाहिए किन्तु उनका वह पूजन अज्ञानपूर्वक है। भगवान् सभी प्रकार के यज्ञों के भोक्ता हैं। वे प्रभु हैं। किन्तु वे लोग उन्हें तत्त्वतः नहीं जानते। अतएव वे गिरते हैं। देवताओं को पूजने वाले उन उन देवताओं को प्राप्त होते हैं तथा भगवान् का पूजन करने वाले भगवान् को पाते हैं। जो कुछ अग्नि में हवन किया जाता है, जो कुछ खाया जाता है, दान दिया जाता है तथा जो कुछ तप का आचरण किया जाता है, वह सभी भगवान् को अर्पित कर देना चाहिए। इस प्रकार ये कर्म बन्धन नहीं बनते, पुरुष वास्तविक संन्यासी बन जाता है, और भगवान् को प्राप्त कर लेता है। यदि अतिशय बुरे आचरण वाला मनुष्य भी अनन्य भाव से उसे भजता है तो वह साधु हो जाता है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और शाश्वत शान्ति को प्राप्त करता है। उनका आश्रयण करके स्त्री, वैश्य तथा शूद्र भी परम गति को पाते हैं। कल्याण प्राप्ति की कामना रखने वालों को अपना मन उनमें लगाना चाहिए, उनका भक्त बनना चाहिए और उन्हें नमस्कार करना चाहिए। ऐसा करने पर और उनका पूर्णरूप से भक्त बनने पर वह पुरुष भगवान् को पा लेगा।

यहाँ पर प्रचलित पद्धति से दासिक-विधि विधानों के अनुष्ठान को स्वर्ग की प्राप्ति के लिए समर्थ बतलाया गया है। पुण्यों के क्षीण हो जाने के उपरान्त लोग इस स्थान से पुनः वापस आ जाते हैं किन्तु जब कोई व्यक्ति अनन्य भाव से भगवान् को भजता है, तब उसे वापस नहीं लौटना पड़ता। इसके बाद भगवान् को व्यक्तित्व से विभूषित किया गया है तथा मनुष्य को

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

माता, पिता, धाता, पितामह, मित्र और आश्रय आदि कह कर उसे मनुष्य बना दिया गया है। अन्य देवों के प्रति सहिष्णुता का दृष्टिकोण है। उनका पूजन वस्तुतः भगवान् का पूजन है किन्तु उपासक भगवान् को तत्त्वतः नहीं जानते और इसी लिए वे प्रमाद में पड़ जाते हैं।

अध्याय १०—सुरगण और महर्षि भगवान् के प्रभव (उत्पत्ति) को नहीं जानते। वे उन सबों के आदि हैं। जो भगवान् को अज, अनादि तथा लोकमहेश्वर रूप में जानता है, वह समस्त पापों से मुक्त हो जाता है। ज्ञान, असंमोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख आदि समस्त मानसिक भाव भगवान् से ही हुए हैं। सातों महर्षि तथा चारों मनु, ये सभी भगवान् से ही उत्पन्न हैं, ये समस्त प्रजायें इन्हीं की रची हुई हैं। सज्जन लोग भाव से समन्वित होकर तथा यह समझते हुए कि भगवान् ही सभी की उत्पत्ति के कारण हैं और वे ही समस्त जगत् को घुमाते हैं, भगवान् को भजते हैं। भगवान् में ही अपने चित्तों को लगाए हुए तथा अपने प्राणों को भगवान् में ही अर्पण करने वाले लोग, परस्पर उसका कथन करते हुए सन्तुष्ट होते हैं और सर्वदा उसमें रमण करते हैं। उनके प्रति अनुकम्पा होने के कारण आत्म-भाव में स्थित वे ज्ञान दीप द्वारा अज्ञान जनित तम का नाश कर देते हैं।

जब वे इस प्रकार निरन्तर तत्पर होकर उसे (भगवान् को) भजते हैं तब वह उन भक्तों को ऐसा बुद्धियोग प्रदान करता है जिससे वे भगवान् को प्राप्त होते हैं। इसके उपरान्त भगवान् की जगद्व्यापी विभूतियों के सम्बन्ध में अर्जुन द्वारा प्रश्न किए जाने पर भगवान् उनका उल्लेख करते हैं। भगवान् सब भूतों के हृदय में स्थित सभी की आत्मा हैं। सम्पूर्ण भूतों का आदि, मध्य और अन्त भी वे ही हैं। आदित्यों में वे विष्णु, ज्योतियों में किरणों वाले सूर्य, सिद्धों में कपिल, समस्त दैत्यों में प्रह्लाद, धनुर्धारियों में राम, विद्याओं में अध्यात्मविद्या, समासों में द्वन्द्व, समस्त नारियों में कीर्ति, वृष्णियों में वासुदेव तथा पाण्डवों में धनञ्जय हैं। जो भी विभूतियुक्त एवं ऊर्जायुक्त है, उसको भगवान् के तेज से ही उत्पन्न जानना चाहिए।

यहाँ पर भक्ति सम्प्रदाय के एक वैशिष्ट्य पर ध्यान देना चाहिए। वह यह है कि समस्त भक्त परस्पर मिलते हैं, एक दूसरे को ईश्वर के बारे बतलाते हैं तथा ईश्वर-विषयिणी चर्चाओं द्वारा दूसरे के लिए प्रसन्नता और सन्तोष उत्पन्न करते हैं। यह भक्तों का विशिष्ट लक्षण है जो उन्हें एकान्त में और एकाकी रहकर योगाभ्यास करने वाले योगियों से पृथक् कर देता है।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

अध्याय ११—इस अध्याय में भगवान् के उस विराट् रूप का जिसमें समस्त प्राणी मिलकर एकरूप दिखते हैं तथा उस संहारक स्वरूप का वर्णन है जिसमें समस्त प्राणी उनके मुख में विलोप हो जाते हैं। अर्जुन स्तुति करते हुए कहते हैं कि "मैं आपका आदि, मध्य और अन्त नहीं देख पा रहा हूँ। आप शाश्वत धर्म के गोप्ता है"। फिर वे भगवान् से उस भयंकर विग्रह को त्यागने और सामान्य एवं अधिक प्रिय नररूप को ग्रहण करने की प्रार्थना करते हैं। तींसवें श्लोक में अर्जुन यह कहते हुए कि उनका उग्र प्रकाश प्रत्येक वस्तु को तपा रहा है तथा उनका तेज सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त हो रहा है, उन्हें 'विष्णो' कह कर सम्वोधित करते हैं।

जगत् को ईश्वर रूप में देखे जाने की कल्पना उतनी ही प्राचीन है जितना पुरुष सूक्त (ऋग्वेद १०।९०)। ऋग्वेद (१०।८१) में ईश्वर को सर्वत्र आंखों वाला (विश्वतश्चक्षुः), सर्वत्र मुख वाला (विश्वतोमुखः), सर्वत्र भुजाओं वाला (विश्वतोबाहुः), तथा सर्वत्र चरणों वाला (विश्वतस्पात्) कहा गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद्, ३,३ में इसी मन्त्र को दुहराया गया है।

अध्याय १२—इस अध्याय का आरम्भ इस प्रश्न के साथ होता है कि वासुदेव और अक्षर अव्यक्त (मूलकारण) की उपासना में अन्तर क्या है? इसका उत्तर यह है कि जो वासुदेव में मन को एकाग्र करते हुए अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धा के साथ उनका ध्यान करते हैं, वे अति श्रेष्ठ भक्त हैं। जो पुरुष इन्द्रियों के समुदाय को अच्छी प्रकार वश में करके, मन, बुद्धि से परे, सर्वव्यापी अवर्णनीय स्वरूप और सदा एकरस रहने वाले, नित्य, अचल निराकार, अविनाशी सच्चिदानन्द घन ब्रह्म का निरन्तर ध्यान करते हुए उपासते हैं वे भी वासुदेव को ही प्राप्त होते हैं। परन्तु उन्हें विशेष क्लेश होता है। जो अपने समस्त कर्मों को वासुदेव में अर्पण करके तथा उनका चिन्तन करते हुए उन्हें भजते हैं, भगवान् मृत्युसंसारसागर से उनका उद्धार कर देते हैं। इसके वाद कृष्ण अर्जुन को अपना चित्त भगवान् में लगाने तथा अपनी बुद्धि उनमें निवेशित करने का उपदेश देते हैं। यदि वह अपना मन दृढ़ता के साथ भगवान् में न लगा सके तो भगवान् के सतत स्मरण द्वारा उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न करे। यदि भगवान् का सतत अनुस्मरण भी सम्भव न हो तो भगवान् के लिए कर्म करना चाहिए। ऐसा करते हुए भी सिद्धि को प्राप्त करेगा। किन्तु यदि इसको भी करने के लिए असमर्थ है तो उसे अपने समस्त कर्मों के फल की इच्छा का त्याग कर देना चाहिये। तदुपरान्त भगवान् के भक्तों एवं प्रियजनों के गुणों का वर्णन किया गया है। यथा समस्त भूतों

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

के प्रति अद्वेष भाव, सभी का प्रिय होना, निरहङ्कार होना तथा सुख दुःख में सम रहना।

इस अध्याय में अक्षर, अव्यक्त की उपासना को व्यक्तित्व-सम्पन्न भगवान् की उपासना से भिन्न बतलाया गया है। पूर्व अध्यायों के इस प्रकार के स्थलों में भक्ति-परक वाक्यांश जोड़कर सगुण रूप दे दिया गया है। परन्तु इस अध्याय में अव्यक्त की उपासना को भगवान् को प्राप्त कराने वाली बतलाया है, किन्तु आचरण में अति कठिन होने के कारण इसकी आलोचना भी की गई है और इस प्रकार ग्रन्थ के भक्तिपरक उद्देश्य को सामने रखा गया है।

अध्याय १३—यह शरीर क्षेत्र है तथा वह क्षेत्रज्ञ है जो इसे जानता है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का यह तत्त्व ऋषियों द्वारा विविध छन्दों में और नाना प्रकार से कहा गया है तथा ब्रह्मसूत्र के विनिश्चित और हेतुमत् पदों द्वारा भी वैसे ही कहा गया है। सांख्य दर्शन में उल्लिखित चौबीस तत्त्व तथा इच्छा द्वेष, सुख, दुख, संघात, चेतना और धृति, जो कि वैशेपिकों के अनुसार आत्मगुण हैं, क्षेत्र हैं। इसके बाद भगवान् ने अमानित्व, अदम्भित्व आदि गुणों की गणना कराई है। इन्हें ज्ञान कहा है किन्तु वस्तुतः इन्हें ज्ञान का साधन माना जाना चाहिए। इसके बाद ज्ञान और अज्ञान का निर्देश किया गया है। तदुपरान्त उन्होंने ज्ञेय (ज्ञान के विपय) का उल्लेख किया है। यह ज्ञेय परब्रह्म है, जो अनादि और अनन्त है, न सत् है, न असत् है, जो सब ओर से हाथ पैर वाला (सर्वतः पाणिपादं), सब ओर से नेत्र, शिर और मुख वाला, सब ओर से श्रोत्र वाला और संसार में सभी को व्याप्त करके स्थित है। इस प्रकार उपनिषदों के शब्दों में ईश्वर का वर्णन प्रारम्भ होता है। प्रकृति और पुरुष अनादि हैं। समस्त विकार और गुण प्रकृतिसम्भूत हैं। कार्य के उत्पन्न करने में प्रकृति हेतु है और सुख दुःखों के भोक्तृत्व में पुरुष हेतु है। पुरुप प्रकृति में स्थित होकर प्रकृतिज कार्यों और गुणों को भोगता है अच्छी और बुरी योनियो में जन्म लेने का कारण सङ्ग ही है। पुरुष इस देह में रह कर भी वास्तव में परमात्मा, समस्त भूतों का उपद्रष्टा, भर्ता, भोक्ता और महेश्वर है। कुछ लोग ध्यान द्वारा आत्मा से आत्मा को देखते हैं। दूसरे लोग आत्मा को सांख्य योग द्वारा और अन्य कर्मयोग द्वारा देखते हैं। जो कुछ भी स्थावर या जङ्गम वस्तु उत्पन्न होती है, वह क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ के ही संयोग से उत्पन्न होती है। जो नाशवान् समस्त भूतों में समान रूप से स्थित अविनाशी परमेश्वर को देखता है, वही वास्तव में देखता है। जब वह

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

समस्त पृथक्-पृथक् भूतों को एक में स्थित देखता है तथा वहीं से सब विस्तार देखता है, उस समय वह ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है। अनादि, निर्गुण तथा अविनाशी होने से यह परमात्मा शरीर में स्थित होते हुए भी वास्तव में न करता है और न लिप्त ही होता है। जैसे कि सर्वत्र व्याप्त आकाश लिप्त नहीं होता वैसे ही आत्मा भी लिप्त नहीं होती। जैसे सूर्य सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार क्षेत्रज्ञ क्षेत्र को प्रकाशित करता है।

समस्त भूतों को समभाव से देखने वाले तथा उन भूतों और अपने में भेद न करने वाले योगी की स्थिति को प्राप्त कराने वाले कर्मयोग का वर्णन प्रथम ६ अध्यायों में किया गया है। आगे के ६ अध्यायों का प्रतिपाद्य विषय भक्तियोग है। भक्ति-योग का चरम फल पूर्णतः पवित्र चरित्र का निर्माण है, जो कि भगवान् के प्रिय भक्त का लक्षण है। तेरहवें अध्याय के साथ साथ आनुषङ्गिक विषयों पर विचार प्रारम्भ होता है। इस अध्याय में भगवान् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, अथवा आत्मा और आत्मा के निवास तथा क्षेत्र में रहने वाले एक अन्य आत्मा अर्थात् स्वयं का वर्णन करते हैं। इस प्रसङ्ग में वे पूर्व ऋषियों की कृतियों तथा ब्रह्मसूत्र के पदों का प्रमाण देते हैं। ये कृतियाँ कौन सी हैं, कह सकना कठिन है। इस उल्लेख के बाद ये विषय आते हैं प्रथम, सामान्यतः सांख्य से सम्बद्ध २४ तत्त्वों तथा ७ अन्य तत्त्वों का वर्णन जो सब क्षेत्र हैं; दूसरे, ज्ञान की प्राप्ति में सहायक गुणों की गणना; तीसरे ज्ञान तथा अज्ञान विषयक विवेचन तथा इसके बाद ज्ञेय का वर्णन। ज्ञेय के वर्णन में उपनिषदों में दिए हुये गुण उल्लिखित हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् से डेढ़ श्लोक शब्दशः उद्धृत किया गया है। उपसंहार के श्लोकों में ऐसे अन्य कथन भी हैं जो क० उ० ५, ११ तथा श्वे० उ० ५, ४ से मिलते हैं। इसके बाद पुरुष एवं प्रकृति के स्वभाव के बारे में सांख्यमत से एकदम मिलता जुलता एक कथन है परन्तु यहाँ पर शरीर में जीवात्मा के साथ परमात्मा के विद्यमान होने का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार जब कभी सांख्य के सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है वहाँ सांख्य के अनीश्वरवाद का यत्नपूर्वक परिहार कर दिया गया है। इसके बाद ईश्वर-विषयक विचार तथा परमात्मा के सर्वत्र पाए जाने का प्रतिपादन है। अतएव यह अध्याय जिन कृतियों पर आधारित है, वे हैं कतिपय उपनिषद् तथा जगत् के निर्माण एवं आचार के सिद्धान्तों को प्रतिपादन करने वाले कुछ ग्रन्थ। ये ग्रन्थ संवाद रूप में रहे होंगे, पहले स्वतन्त्र, किन्तु बाद में महाभारत के शान्ति-पर्व तथा अन्य पर्वों में मिला लिये

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

गये होंगे अथवा भिन्न रहे होंगे, जो अवशिष्ट नहीं हैं। उस अब सांख्य-दर्शन का यहाँ पर कोई उल्लेख नहीं मिलता, न तो नाम द्वारा और न किसी विशिष्ट निर्देश द्वारा ही जिसका आगे चलकर ईश्वरकृष्ण ने विकास किया। चौबीस तत्त्वों का विचार प्राचीन है। ऐसा प्रतीत होता है कि बाद में दार्शनिक संप्रदायों के संस्थापकों ने इसे अपने उद्देश्यों के अनुरूप ग्रहण किया। चौबीस तत्त्वों के उल्लेख द्वारा तिथिक्रम-सम्बन्धी कोई भी निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते। "समस्त कार्य प्रकृतिसमुद्भूत हैं, आत्मा निष्क्रिय है एवं सुख दुःख की उपभोक्ता मात्र है" इस सिद्धान्त का भी उल्लेख किया गया है। यह वास्तव में सांख्य-सिद्धान्त है, किन्तु मनुष्य को नैतिक उत्तरदायित्व से मुक्त करने के लिये निरूपित है। परन्तु यह सिद्धान्त चौवीस तत्त्वों के साथ अनुषङ्गिक रूप से आया हुआ प्रतीत होता है।

अध्याय १४—परब्रह्म भगवान् की योनि है, जिसमें वह वीज को स्थापित करते हैं। शरीर उत्पन्न करने वाली नाना प्रकार की योनियों में ब्रह्म महत् योनि है। तदुपरान्त भगवान् ने तीन गुणों, उनके कार्यों तथा परलोकों में उनके फलों के स्वरूप का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। ये गुण वन्धनभूत हैं। मनुष्य जव इन गुणों पर विजय प्राप्त कर लेता है तब वह बन्धनमुक्त हो जाता है एवं अमरत्व प्राप्त कर लेता है। इन तीनों गुणों से मुक्त पुरुष का असाधारण लक्षण उसकी शान्त, स्थिर एवं अनुद्विग्न स्थिति है। उसके सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय निन्दा-स्तुति, मिट्टी पत्थर तथा सोना सब समान होते हैं। जो पुरुष निरन्तर भक्ति-योग द्वारा भगवान् को भजता है, वह इन गुणों का अतिक्रमण कर लेता है और ब्रह्म की स्थिति प्राप्त कर लेता है। भगवान् अमृत एवं अव्यय ब्रह्म, शाश्वत धर्म तथा अक्षय आनन्द का आश्रय है।

यहाँ पर भगवान् की सतत भक्ति द्वारा गुणों से आत्मा के मुक्ति पाने की स्पष्ट घोषणा मिलती है। ब्रह्मयोनि शब्द मु० उ० ३, १, ३ में प्राप्त होता है तथा वह इस अध्याय के प्रारम्भ में "मम योनिर्महद् ब्रह्म" रूप में व्याख्यात है।

अध्याय १५—भगवान् ने संसार या यावन्मात्र की तुलना एक पिप्पल वृक्ष से की है। इस वृक्ष को असङ्ग या वैराग्य के शस्त्र द्वारा काटना चाहिये और तव उस परम पद को खोजना चाहिये जिसमें गया हुआ पुरुष फिर संसार में वापस नहीं आता। मनुष्य को आदि-पुरुष की शरण में जाना चाहिए। मन, मोह, कामनाओं तथा सुख दुःख नामक द्वन्द्वों से विमुक्त पुरुष उस अविनाशी परम पद को प्राप्त करते हैं। भगवान् का परम धाम वह है जो सूर्य, चन्द्र अथवा अग्नि द्वारा प्रकाशित नहीं है। जब जीवात्मा शरीर त्यागता

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

है तब मनषष्ठक इन्द्रियों को उस शरीर से ले जाता है और जब यह दूसरे शरीर को ग्रहण करता है तब उसमें उन इन्द्रियों को लेता आता है। आत्मा भगवान् का अंश है तथा नित्य है। इन छः इन्द्रियों का आश्रय करके यह आत्मा इन्द्रियों के समस्त विषयों का सेवन करती है। जो तेज सूर्य में स्थित हुआ सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है, जो तेज चन्द्रमा में स्थित है और जो तेज अग्नि में स्थित है, उसे भगवान् का तेज समझना चाहिये। सोम बनकर भगवान् सम्पूर्ण औषधियों को पुष्ट करते हैं। अग्नि बनकर वे अन्न को पकाते हैं। वे समस्त प्राणियों के हृदय में स्थित हैं। उनसे ही स्मृति, ज्ञान एवं अपोहन उत्पन्न होते हैं। सब वेदों द्वारा भगवान् ही वेदान्तकृत् तथा वेदवित् रूप में ज्ञेय हैं। इस संसार में नाशवान् और अविनाशी दो प्रकार के पुरुष हैं। इनके अतिरिक्त एक अन्य पुरुष है जो कि उत्तम है, जो परमात्मा कहलाता है तथा जो अव्यय ईश्वर के रूप में तीनों लोकों में प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है। लोक और वेद में भी भगवान् पुरुषोत्तम नाम से प्रथित हैं। इस अध्याय में एक नवीन बात यह प्रस्तुत की गई है कि जीवात्मा छः इन्द्रियों के साथ शरीर को त्यागता है तथा उसी अवस्था में नूतन शरीर में प्रविष्ट होता है। संसार की पिप्पल-वृक्ष से तुलना क० उ० (६,१) मै० उ० (६,४) में और भगवत् के परम धाम की अप्रकाश्यकता की चर्चा क० उ०, (५, १५) मु० उ० (२.२ १०) तथा श्वे० उ० (६,१४) में प्राप्त होती है। एक तीसरे परम पुरुष की सत्ता का सिद्धान्त भी इस भक्ति-परक ग्रन्थ की विशेषता माना जाना चाहिये। क्षर, अक्षर और आत्मा के त्रिक तथा ईश्वर का उल्लेख श्वे० उ० (१,१०) में जो भगवद्गीता से पूर्ववती है, किया गया है।

अध्याय १६—भगवान् दैवी संपत् के गुणों और आसुरी सम्पत् के दुर्गुणों की गणना कराते हैं। दैवी संपत् से मुक्ति प्राप्त होती है तथा आसुरी सम्पत् से विनाश। भूत दो प्रकारों के हैं—दैव और आसुर। आसुरी स्वभाव वाले लोगों में न शुद्धि रहती है, न श्रेष्ठ आचरण और न सत्य। वे जगत् को असत्य, आश्रय-रहित, अनीश्वर, अपरस्पर सम्भूत किंवा काम-हेतुक मानते हैं। इस दृष्टि का अवलम्बन करके ये क्रूर तथा मन्द-बुद्धि लोग अपने उग्र कर्मों द्वारा जगत् का क्षय करते हैं। अनार्य काम से पूर्ण तथा दम्भ, मान और मद से युक्त वे लोग मिथ्या सिद्धान्तों को अपनाकर भ्रष्ट आचरण करते हैं। कामोपभोगों के लिये वे अन्यायपूर्वक द्रव्य-सञ्चय करते हैं। अपने धन, शक्ति और कुल का गर्व करते हुये वे दूसरों का अपमान करते हैं और अपवित्र नरकों में गिरते हैं। यदि वे पूजा भी करते हैं तो केवल नाममात्र का उच्चारण करते हैं तथा

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

पाखण्ड का अवलम्बन करते हैं। वे अहंकार से युक्त रहते हैं। अपने एवं दूसरों के शरीर में स्थित भगवान् से द्वेष करते हैं। इन दुष्ट मनुष्यों को भगवान् आसुरी योनियों में उत्पन्न करते हैं। काम, क्रोध तथा लोभ नरक के ये तीन द्वार हैं। अतएव इन तीनों का त्याग कर देना चाहिये। जो इन तीनों द्वारों का त्याग करता है, वह परम गति को प्राप्त होता है। जो शास्त्र-विधि को त्यागता है तथा अपनी इच्छा से आचरण करता है, वह सिद्धि, सुख या परम पद को प्राप्त नहीं होता। अतएव मनुष्य को जब कुछ करना हो या जब किसी काम को न करना हो तब उसे शास्त्र-विधियों का पालन करना चाहिए।

यहाँ पर दैवी एवं आसुरी मनुष्यों की इन दो श्रेणियों का उल्लेख किया गया है। आसुरी श्रेणी में केवल ईश्वर या सदाचार को न मानने वाले सांसारिक लोगों का ही अन्तर्भाव नहीं किया गया है अपितु भागवत मत से भिन्न दार्शनिक एवं धार्मिक मतों के अनुयायी भी इसमें अन्तर्भूत प्रतीत होते हैं। वे शास्त्र-विधियों का खण्डन करते हैं, ईश्वर का निषेध करते हैं जैसा कि बौद्धों और जैनों ने किया है। वे जगत् को अतात्त्विक मानते हैं जैसे कि बौद्ध।

अध्याय १७—अर्जुन ने प्रश्न किया—जो मनुष्य शास्त्र-विधियों को भी त्याग कर श्रद्धापूर्वक पूजन करते हैं, उनकी मनःस्थिति कैसी होती है? क्या यह सात्त्विकी है? अथवा राजसी, किंवा तामसी है? भगवान् बोले—श्रद्धा तीन प्रकार की होती है, सात्त्विकी, राजसी तथा तामसी। मनुष्य की श्रद्धा उसके अन्तःकरण के अनुरूप होती है। मनुष्य की जैसी श्रद्धा होती है वह स्वयं भी वैसा ही होता है। सात्त्विक पुरुष देवों को पूजते हैं, राजस पुरुष यक्ष और राक्षसों को तथा तामस जन प्रेतों एवं भूत गणों को पूजते हैं। आसुरी स्वभाव वाले लोग दम्भ एवं अहङ्कार से युक्त होकर शरीर में स्थित भूत-समुदाय को एवं अन्तः करण में स्थित भगवान् को कृश बना देने वाले उग्र तपों को तपते हैं। तदुपरान्त भगवान् ने तीन प्रकार के भोजनों, तीन प्रकार के यज्ञों, तीन प्रकार के तपों और तीन प्रकार के दानों का वर्णन किया है। उदाहरणार्थ सात्त्विक गुण के अनुसार किया हुआ यज्ञ वह है जो कि फल की आकांक्षा के बिना शास्त्र विधि के अनुसार सम्पन्न किया जाता है। जो यज्ञ फल की प्राप्ति के लिए दम्भपूर्वक किया जाए वह राजस यज्ञ है तथा शास्त्रविधि रहित दक्षिणा और श्रद्धा से किया हुआ ही यज्ञ तामस यज्ञ होता है। जहां तक दोनों का सम्बन्ध है, दान देना कर्तव्य है, ऐसे भाव से जो दान प्रत्युपकार न करने वालों को दिया जाता है वह सात्त्विक दान कहा गया है। प्रत्युपकार

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

की इच्छा के साथ फल के उद्देश्य से दिया गया दान राजस दान है। इसी प्रकार समस्त चारों विषयों का निरूपण किया गया है। अन्त में 'ॐ तत्सत्' मन्त्र का उच्चारण करते हुए शुभ कर्मों के करने का उल्लेख किया गया है। "मनुष्य का धार्मिक विश्वास तथा उसके द्वारा पूजित ईश्वर का स्वरूप उसके अपने चरित्र पर आधारित है" इस सत्य को इस अध्याय में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है।

सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण इन तीनों में जिस गुण द्वारा मनुष्य की प्रकृति प्रभावित होती है उसके अनुसार न केवल ईश्वर का स्वरूप अपितु भोजन, पूजन प्रकार, दान और तप का स्वरूप भी भिन्न हो जाता है।

अध्याय १८—इस अध्याय का आरम्भ अर्जुन के संन्यास और त्याग विषयक प्रश्न के साथ होता है। भगवान् इसका उत्तर यह कहते हुए देते हैं कि काम्य कर्मों का परित्याग संन्यास है, तथा कर्मों के फल का त्याग त्याग है। कुछ विद्वान् कहते हैं कि समस्त कर्मों का त्याग कर देना चाहिए। अन्यों का कहना है कि यज्ञ, दान और तप त्यागने योग्य नहीं हैं। निर्णय यह दिया गया है कि यज्ञ, दान और तप का त्याग नहीं करना चाहिए क्योंकि ये आत्मा को पवित्र करने वाले हैं। उनमें आसक्त न होते हुए तथा फल की इच्छा के बिना कर्म किए जाने चाहिएँ। कर्तव्य कर्म का त्याग करना उचित नहीं है। उस कर्तव्य का त्याग मोहात्मक काम है। जब किसी कर्म को दुःखरूप समझ कर त्यागा जाता है तो वह राजस त्याग है। "करना कर्तव्य है" ऐसा समझते हुए जो नियत करणीय कर्म फल की इच्छा के बिना या अनासक्तिपूर्वक किया जाता है वह सात्त्विक त्याग माना जाता है। किसी भी देहधारी के लिए समस्त कर्मों का त्याग शक्य नहीं है। जो कर्म-फल त्यागी है, वही त्यागी है। सांख्य सिद्धान्त के अनुसार अधिष्ठान, कर्ता, करण, विविध चेष्टाएँ तथा दैव—ये पांच विभिन्न हेतु हैं। इस प्रकार यह क्रम आगे चलता है। मन की कुछ चेष्टाओं तथा दशाओं को तीन गुणों के अनुसार परिवर्तित होते हुए बतलाया गया है, जैसे कि विहित कर्म तथा कर्ता, बुद्धि, संकल्प, धृति एवं सुख तथा विभिन्न वर्णों के कर्म।

जिस परमात्मा से सर्वभूतों की उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सर्वजगत् व्याप्त है उसको अपने स्वाभाविक कर्म द्वारा पूजकर मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त होता है।

इसके उपरान्त भगवान् ने मनो-निग्रह तथा वैराग्य जैसी उन समस्त दशाओं का वर्णन किया है जो ब्राह्मी स्थिति की अनुभूति में सहायक हैं।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

इस स्थिति को प्राप्त कर लेने पर पुरुष शोक एवं आकांक्षा से मुक्त हो जाता है। सभी भूतों में समभाव रखकर वह अपने में भगवान् की परा भक्ति को विकसित करता है तथा भगवान् को तत्त्वतः और भली भांति जानकर भगवान् में प्रविष्ट हो जाता है। पुरुष को कर्म करने चाहिएँ और केवल ईश्वर पर आश्रित रहना चाहिए। तव पुरुष ईश्वर की कृपा से सनातन पद प्राप्त कर लेता है। पुरुष को अपने समस्त कर्म भगवान् में अर्पित करके अपना मन केवल भगवान् में लगाना चाहिए और तब वह भगवान् की कृपा से समस्त संकटों को पार कर लेता है। इसके वाद भगवान् अर्जुन को समभाव से उसी भगवान् की शरण में जाने का उपदेश देते हुए सारी वातों का उपसंहार करते हैं कि भगवान् सम्पूर्ण भूतों के हृदय में स्थित हैं तथा चक्र की भांति समस्त भूतों को घुमाते हैं। इसके वाद वे कहते हैं कि उस परमात्मा की दया से वह परम शान्ति एवं शाश्वत परम धाम प्राप्त करेगा। अपना सम्पूर्ण मन भगवान् में लगा देने, उसका भक्त होने, उनकी उपासना करने तथा उन्हें प्रणाम करने का उपदेश एक वार अर्जुन को पुनः देकर भगवान् उससे कहते हैं कि ऐसा करने से वह भगवान् को प्राप्त कर लेगा। इस ज्ञान को परम गुह्य कहा गया है। तदनन्तर अर्जुन को मोक्ष के अन्य समस्त उपायों का परित्याग करने तथा एकमात्र भगवान् की शरण में जाने को कहा गया है। ऐसा करने से भगवान् उसे समस्त पापों से मुक्त कर देंगे। इस प्रकार अध्याय का अन्त हो जाता है।

यह ऐकान्तिक धर्म है, जो कि नारायणीय के अनुसार अर्जुन को दिया गया था। यहां पर प्रकाशित मोक्ष का उपाय कर्ममय जीवन का यापन है किन्तु कर्मों के फलों के प्रति आसक्ति नहीं रखनी चाहिए। कर्म विना आसक्ति के किए जाने चाहिएँ अर्थात् कर्म करते समय पुरुष को निःस्वार्थ रहना चाहिए। कर्म ब्रह्म को अर्पित कर देने चाहिएँ अर्थात् कर्म इसलिए करने चाहिएँ क्योंकि जगत् की व्यवस्था में यह करणीय है। दूसरे शब्दों में मनुष्य को कर्म करना चाहिए क्योंकि ये करणीय हैं। इसका जब अधिक व्यक्तिपरक व्याख्यान किया जाए तो यह सिद्धान्त इस रूप में आता है कि पुरुष को केवल ईश्वरेच्छा की पूर्ति के उद्देश्य से ही कर्म करने चाहिएँ। इस प्रकार से निरन्तर कर्म करते रहने से जिस मनःस्थिति का उदय होता है वह है रागद्वेषादिकों से विमुक्ति, ईश्वर की सर्वव्यापकता का भाव तथा समस्त भूतों के प्रति समभाव। इससे ईश्वर में परा भक्ति की अनुभूति होती

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

है तथा इस साधन से भगवान् को पूर्णतया जानकर मनुष्य भगवान् में लीन हो जाता है।

निरन्तर और निःस्वार्थभाव से अपने कर्तव्य का पालन करना एक कठिन बात है, क्योंकि समस्त भूत तीनों गुणों के अथवा आधुनिक शब्दावली में मनोविकारों एवं वाञ्छाओं से प्रभावित होते हैं। स्वयं को ईश्वर की शरण में ले जाने से इन पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

३. भगवद्गीता में प्रतिपादित धर्म के स्रोत

फल से किसी तरह का मतलब न रखते हुए अर्थात् आसक्ति रहित होकर या निःस्वार्थभाव से कर्मों के सम्पादन पर सतत आग्रह ही भगवद्गीता का वैशिष्ट्य है। परन्तु यह विचार नया नहीं है। ईशोपनिषद् के दूसरे श्लोक में यह कहा गया है कि मनुष्य को निश्चयपूर्वक कर्म करते हुए सौ वर्षों तक जीवित रहने की इच्छा करनी चाहिए और केवल इसी प्रकार से (अन्य प्रकार से नहीं) मनुष्य कर्मों से लिप्त नहीं होता। तथा चित्त की समुन्नत अवस्था से फलित कर्मों में अलिप्तता का वर्णन छा० उ० ४, १४ ३, बृ० उ० ४.४.२३ तथा मै० उ० ६.२० में किया गया है।

परमात्मा के विशेषण गीता ने उपनिषदों में से ग्रहण किए हैं, जैसा कि विभिन्न अध्यायों पर दिए गए उल्लेखों में पहले ही दिखलाया जा चुका है। जहां उपनिषदों के कुछ भागों में ईश्वर के व्यक्तित्व को पूर्णतया स्वीकार किया है वहीं अन्य स्थलों में ऐसे ब्रह्म का भी वर्णन है जिसका व्यक्तित्व उतना अधिक व्यक्त नहीं है। भगवद्गीता में जब इन स्थलों को लिया गया है, तो जैसा कि हम दिखला चुके हैं, अक्षर या ब्रह्म को स्पष्ट रूप से व्यक्तित्व से विभूषित करने का ध्यान रखा गया है। आत्म-निग्रह एवं शान्ति और स्थिरता दशा की प्राप्ति से सम्बद्ध सिद्धान्त भगवद्गीता ने धार्मिक एवं भावनाओं के उस सामान्य वातावरण में से प्राप्त किए जो प्राचीनतम औपनिषदिक चिन्तन के काल से लेकर आस्तिक एवं नास्तिक मतों के संगठन काल तक व्याप्त था। परिणामतः, यद्यपि भगवद्गीता में ब्रह्म-निर्वाण की भी बातें कही गई हैं, फिर भी इससे यह नहीं मानना चाहिए कि परा शान्ति का यह सिद्धान्त भगवद्गीता ने बौद्ध मत से ग्रहण किया है। इन सभी मतों ने जिस स्रोत का आश्रयण किया वह सभी के लिए एक ही है।

उपनिषदों तथा उस समय में प्रचलित धार्मिक और नैतिक वातावरण के अतिरिक्त गीता ने प्राचीन समय से ही चले आ रहे दर्शन से भी लाभ उठाया। यह दर्शन सांख्य और योग का है। यद्यपि भगवद्गीता ने सांख्य

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

दर्शन के चौवीस तत्त्वों, परवर्ती काल में पचीसवें तत्त्व के रूप में ख्यात पुरुष तत्त्व केवल प्रकृति की सक्रियता तथा पुरुष की निष्क्रियता के सिद्धान्तों का निर्देश किया है, फिर भी इसने उत्तम पुरुष या परमात्मा नामक एक अन्य तत्त्व को जोड़ दिया है। यह उत्तम पुरुष परवर्ती सांख्य में नहीं मिलता। इस प्रकार इस दर्शन को भक्ति परक स्वरूप प्रदान कर दिया है। अपने सृष्टि रचना वर्णन में पुराणों ने इस दर्शन का अनुसरण किया है तथा परवर्ती वैष्णव और शैव मतों ने इसे कम या अधिक परिष्कृत रूप में ग्रहण किया है। किन्तु भगवद्गीता में प्रयुक्त "सांख्य" शब्द परवर्ती अनीश्वरवादी दर्शन का बोधक प्रतीत नहीं होता। द्वितीय तथा पाँचवें अध्याय में सांख्य शब्द ज्ञान (संख्यान) पर आधारित दर्शन का बोधक है तथा योग शब्द कर्म पर आधारित दर्शन का। पुनश्च अन्तिम अध्याय में जिन पांच कारणों को सांख्य में उल्लिखित बतलाया गया है, वे परवर्ती सांख्य दर्शन में अज्ञात प्रतीत होते हैं। अतएव जो चिन्तन-प्रधान दर्शन श्वेताश्वतर उपनिषद् और भगवद्गीता के काल के आसपास विद्यमान था, वह सांख्य नाम से ख्यात था। इसी से परवर्ती काल के अनीश्वरवादी दर्शन का प्रादुर्भाव हुआ। कर्म का दर्शन योग भी उस काल में प्रचलित था किन्तु जैसा कि ऊपर सङ्केत दिया जा चुका है, सामान्य वृत्तियों को अक्षर ब्रह्म में केन्द्रित करके अक्षर ब्रह्म में चित्तवृत्तियों के निरोध के रूप में अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचा।

इस प्रकार भगवद्गीता बौद्धमत के उदय से पूर्व प्रचलित धार्मिक और दार्शनिक चिन्तन के विकास का परिणाम है। किन्तु भक्ति की विचारधारा, जो कि भगवद्गीता की अपनी विशेषता है, का उदय वर्तमान काल के अनेक विचारों का विषय बना हुआ है। अतः अब हम इसी ओर मुड़ रहे हैं। उपनिषदों में मन, सूर्य, चन्द्र, अन्न, प्राण आदि अनेक वस्तुओं में विद्यमान ब्रह्म रूप में माने जाने वाले पुरुष की उपासना बतलाई गई है अर्थात् इन वस्तुओं का ब्रह्म के रूप में चिन्तन करने का विधान है। उपासना द्वारा उपास्य वस्तु का स्वरूप महान् हो जाता है तथा इसे दिव्य स्वरूप प्राप्त होता है जिससे कि इसके प्रति अनुराग और प्रशंसा का भाव बढ़े। पुनश्च जोअन्तरात्मा है उसे बृहदारण्यक (१.४.८) में धन आदि समस्त वस्तुओं तथा पुत्र से भी प्रिय बतलाया गया है। यहाँ पर आत्मन् शब्द को सम्भवतः अपनी अन्तरात्मा का वाचक माना जाए। इसी उपनिषद् में एक अन्य स्थल है जो इस प्रकार है:—यह वह महान् अजन्मा है, जो प्राणों के मध्य बुद्धि के रूप में है, जो हृदय की गुहा में निवास करता है, जो सभी का नियामक है, सभी का ईश किंवा सभी का प्रभु है। शुभ या अशुभ कर्मों को करने से

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

वह अच्छा या बुरा नहीं होता। वह समस्त प्राणियों का शासक है; वह ऐसी परिखा है जो कि एक वस्तु को दूसरी वस्तु से भिन्न करती है तथा उनके परस्पर सांकर्य को रोकती है। वह धर्म का अधिष्ठाता या पालक है। ब्राह्मण वेद के वाक्यों, उपासना, दान एवं तप द्वारा उसे जानना चाहते हैं। उसको जानने पर पुरुष ऋषि बन जाता है। आश्रय-स्थल के रूप में उसकी कामना करते हुए संन्यासी लोग जगत् का त्याग कर देते हैं। इसी कारण प्राचीन काल के ज्ञानी-जनों ने स्वयं से यह कहते हुए सन्तति की कामना नहीं की—हमें सन्तति से क्या प्रयोजन? जब हमें इस सत्त्व (सत्ता) की प्राप्ति हो चुकी है और रहने के लिए यह जगत् प्राप्त हो चुका है? और इस प्रकार इन लोगों ने पुत्रों, सम्पत्ति और जगत् की कामनाओं का परित्याग कर दिया और मुनियों का जीवन बिताने लगे (४.४.२२)। अब यदि प्राचीन काल के उन ज्ञानी जनों ने इतने वाग्विभव के साथ वर्णित परमात्मा का चिन्तन करने या उसमें स्थित होने के निमित्त जगत् के समस्त सुखों का परित्याग कर दिया था तो क्या यह न समझा जाए कि वे भक्ति द्वारा परमेश्वर की ओर प्रेरित किए गए। यद्यपि भक्ति शब्द यहाँ पर नहीं मिलता तथा जगत् के एवं हृदय में परमात्मा के दर्शन से प्राप्त शान्ति के सम्बन्ध में कही गई इन सभी आनन्दप्रद कथनों के तह में भक्ति जैसी ही कोई भावना रही होगी। तथा उस काल में, जब कि एक या अनेक देवों के प्रति दृढ़ अनुराग का भाव प्रायः विद्यमान था, जैसा कि निम्न शब्दों से स्पष्ट है "द्यौ मेरे पिता हैं" (ऋग्वेद १,१६५,३३) "अदिति" (असीम) पिता माता तथा पुत्र है (ऋग्वेद १,८९,९०) तथा "हे पिता द्यौ, हमारे समस्त दुरितों को अपसारित करो, हमारे लिए गम्य बनो एवं जैसे पिता पुत्र के प्रति कृपालु होता है वैसे ही तुम हमारे लिए कृपालु हो जाओ" इन स्तुतियो से भी यही पुष्टि होती है। यद्यपि परवर्ती याज्ञिक अनुष्ठानों द्वारा इन ऋचाओं की भावना को विनष्ट कर दिया गया तथा इन्हें साधारण मन्त्र के रूप में परिवर्तित कर दिया गया, फिर भी इन मन्त्रों की रचना के समय जो भावना रचयिता के हृदय में थी वह आगे भी जारी रही होगी, यद्यपि कुछ काल के लिए इसकी अभिव्यक्ति नहीं हो पाई तथा उपनिषदों के काल में यह आश्चर्य एवं प्रशंसा से मिश्रित होकर पुनः प्रकट हुई। निश्चित ही यह भावना उपनिषत्-काल में दो पक्षियों—जिनसे जीवात्मा और परमात्मा अभिप्रेत है—का वर्णन ऋक्-संहिता में विद्यमान है (१.१६४. २०) तथा यही मा० उ० (७.१.१) में दुहराया गया है।

मा० उ० (३.२.३) तथा क० उ० (२.२३) में एक श्लोक है जिसका

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

आशय यह है कि इस परमात्मा को न तो गुरु के व्याख्यानों द्वारा, न बुद्धि द्वारा, न अधिक अध्ययन द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। यह उसे प्राप्त हो सकती है जिस पर परमात्मा अनुकम्पा करता है और उसके लिए अपने यथार्थ स्वरूप को प्रकट कर देता है। पुनः यह सिद्धान्त प्राप्त होता है कि परम बुद्धिमान सत्ता जो सभी का प्राण है, जिस मनुष्य को मुक्त करना चाहती है, उसे सत्कार्यों में प्रवृत्त करती है (कौ ब्रा० उ० ३.८)। "समस्त भूतों के हृदय में रहने वाला ईश्वर सभी का नियन्त्रण करता है" यह सिद्धान्त वृहदारण्यक उपनिषद् (३.७) के एक प्रसिद्ध स्थल का विषय है। इससे यह स्पष्ट है कि 'जीवात्मा परमात्मा के अधीन हैं तथा केवल परमात्मा ही उसे मुक्ति प्रदान करते हैं" यह सिद्धान्त उपनिषद् काल में मान्य था।

इस प्रकार वे सारी बातें, जो कि भगवद्गीता के ऐकान्तिक धर्म का अङ्ग हैं, प्राचीन धार्मिक साहित्य में पाई जाती हैं। किन्तु अनुराग के अर्थ में 'भक्ति' शब्द का प्रयोग श्वे० उ० के एक श्लोक को छोड़ कर अन्यत्र नहीं मिलता। परन्तु रामानुज तक ने इस शब्द का प्रयोग प्रायः इस अर्थ में नहीं किया। उनके मत में भक्ति का अर्थ सतत ध्यान है तथा यह उपनिषदों की उपासना से मिलती जुलती है। इस शब्द का व्युत्पत्ति-मूलक अर्थ आश्रय ग्रहण करना (मानना) तथा आश्रयभूत वस्तु से अनुराग करना है। पाणिनि ने ६.३.९५ में इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है परन्तु जैसी कि भाष्यकारों ने व्याख्या की है, यह शब्द भाववाचक है तथा इसका अर्थ किसी वस्तु का आश्रय पकड़ना, किसी को चाहना या अनुराग करना होता है एवं इसके लिए ऐसे सामान्य और विशेष प्रत्यय निर्धारित किए गए हैं जो किसी नाम के साथ लगाए जाने पर ऐसे व्यक्ति के वाचक हैं जो उस नाम द्वारा अभिहित व्यक्ति या वस्तु को चाहता है या उससे अनुराग करता है। यास्क ने भी भक्ति शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। उन्होंने कुछ एक वस्तुओं को "अग्निभक्तीनि" "इन्द्रभक्तीनि" अर्थात् अग्नि आदि पर आश्रित या उनसे सम्बद्ध कहा है। इस प्रकार प्राचीन काल में भी इस शब्द के साथ अनुराग की भावना जुड़ी हुई थी, यद्यपि उस समय यह शब्द प्रेम के स्थान पर "प्रिय" का बोधक था। यदि ठीक ठीक कहा जाए तो स्वयं पाणिनि के नियमों के अनुसार इस शब्द को 'प्रिय' का बोधक होना चाहिए क्योंकि 'ति' प्रत्यय भाव का बोधक है। किन्तु इस शब्द का प्रयोग कुछ परवर्ती काल में हुआ होगा। इस शब्द से अभिधेय वस्तु अर्थात् आत्मा या परमात्मा के प्रेम को उपनिषद् काल में प्रायः प्रिय या प्रेयस् शब्द द्वारा बोधित किया जाता था।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

वह वस्तुस्थिति, जिससे गीता के धर्म का विकास हुआ होगा, मेरी समझ से इस प्रकार रही होगी। धर्म की जिन शाखाओं का हम विचार कर रहे थे उनके उदय-काल के लगभग लोगों में सांसारिक जीवन को त्याग कर वनों या पर्वतों में जा वसने की एक प्रवृत्ति प्रायः सक्रिय थी जैसा कि पालिजातक कथाओं से सुव्यक्त है। बौद्ध, जैन तथा इन्हीं-जैसे अन्य सम्प्रदायों में भी यति जीवन को धार्मिक समुन्नति के लिए अपरिहार्य माना गया है। बौद्ध धर्म के उदय से पूर्व ही श्रमण विद्यमान थे, यह बात मानने के लिए तर्क हैं। जिन धार्मिक सम्प्रदायों का अभ्युदय हो चुका था वे प्रायः आस्तिक थे। भारतीय मस्तिष्क भक्ति परक विश्वास से स्वतन्त्र होकर नैतिक प्रवचनों तथा नैतिक उत्कर्ष सम्बन्धी सिद्धान्तों के निमज्जन में प्रवृत्त हो गया था जैसा कि बौद्धमत, अन्य मतों तथा महाभारत के बहुसंख्यक शुष्क नैतिक प्रसङ्गों से सुस्पष्ट हो जाता है। अत एव इन प्रवृत्तियों के प्रतीकार के निमित्त भगवद्-गीता जैसा मार्ग आवश्यक था। उपनिषदों में भक्तिपरक विचार इस तरह बिखरे पड़े थे कि व्यावहारिक उद्देश्य के लिए उन्हें सरलता पूर्वक ग्राह्य एक मुक्ति-मार्ग के रूप में ढाला जाना आवश्यक हो गया था। ये ही वे परि-स्थितियां प्रतीत होती हैं जिनमें गीता अस्तित्व में आई। मैं वासुदेव और अर्जुन को सौर आख्यान में विलीन नहीं करना चाहता हूँ किन्तु जब भगवद्-गीता की रचना वासुदेव द्वारा उपदिष्ट ग्रन्थ के रूप में हुई उस समय वासुदेव वैसे ही विद्यमान नहीं थे जैसे कि जब बुद्ध के वचनों को लिपि-बद्ध किया गया उस समय स्वयं बुद्ध जीवित नहीं थे। यह ध्यान देने की बात है कि उपदेश देते समय उन दोनों को ही भगवान् कहा गया है। अत एव भगवद्गीता के लिखे जाने से पूर्व ही वासुदेव देवता रूप में प्रतिष्ठित हो चुके होंगे।

जहाँ तक पुराने विश्वासों के प्रति भगवान् के रवैये का प्रश्न है, यह स्पष्ट है कि यह अनुदार हैं तथा वे धर्म को पूरा करने के लिए आए थे, धर्म का उल्लंघन करने नहीं। यह पहले ही देखा जा चुका है कि यज्ञीय उपासना को उन्होंने प्रायः उपनिषदों के ही दृष्टिकोण से देखा है। कामनाओं की पूर्ति को जिसे याज्ञिक अनुष्ठान प्रोत्साहित करते हैं—हानिकारक माना गया है तथा इनके द्वारा प्राप्त फल को विनाशी बतलाया गया है। चूंकि यह ऐकान्तिक धर्म इतना रूढ़िवादी था, इसी लिए इसने सामान्य रूप से हिन्दू समाज में अपना मार्ग शनैः शनैः प्रशस्त कर लिया यद्यपि यज्ञों की उपासना के उन्मूलन में यह सफल नहीं हो सका। तो भी नारियों तथा शूद्रों सहित सारी जातियों के धर्म के रूप में इसने अपने स्वरूप को सदैव कायम रखा तथा

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

परवर्ती विकास के समय जब ब्राह्मणों ने इसका व्याख्यान किया तब उस समय प्रचलित वैदिक विधानों के साथ इसका सम्बन्ध जोड़ दिया गया। किन्तु जब इसकी अनुयायी निचली जातियां थीं—जिनमें यह महान् प्रभाव डालता रहा—तब वैदिक विधि-विधानों से इसका सम्बन्ध नहीं रहा। अन्य देवों के उपासकों के प्रति भगवान् के रवैये की व्याख्या तो पहले ही की जा चुकी है। उनका रवैया पूर्णतया उदार था। समस्त उपासनाएं, चाहे जिसके लिए अभिप्रेत हों अन्ततः भगवान् को ही प्राप्त होती हैं, किन्तु अन्य देवों के भक्त भगवान् को नहीं जानते। इस प्रकार वे भूल करते हैं। निम्न-जातियों में वासुदेव कृष्ण की उपासना के प्रभाव में इन प्रवृत्तियों का कुछ न कुछ हाथ जरूर रहा होगा।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

४. वासुदेव एवं नारायण का अभेद

नारायण शब्द नाड़ायन शब्द से मिलता जुलता है। नाड़ायन शब्द पाणिनि के ४.१.९९ सूत्र द्वारा व्युत्पन्न है तथा इसका अर्थ नाडायन गोत्र है। फक् प्रत्यय अर्थान्वित है तथा इस उदाहरण में इसका अर्थ आधार या ऐसा आश्रय है जिसका आश्रयण नाड (या नडों के समूह) द्वारा किया जाता है। इस प्रकार का अर्थ नार या नरों के समूहों का आश्रय या लक्ष्य है। नारायणीय में केशव अर्जुन से कहते हैं कि "मैं नरों के आश्रय (नराणाम् अयनम्) या लक्ष्य के रूप में ख्यात हूँ। 'नृ' या 'नर' शब्द विशेषतः वेदों में वीर पुरुषों के अर्थ में देवताओं के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। अतएव 'नारायण' शब्द का व्याख्यान देवों के आश्रय रूप में भी किया जा सकता है। एक परम्परा ऐसी है जिसमें नारायण का सम्बन्ध आद्य जल से जोड़ा गया है। मनु० (१.१०) तथा उपर्युक्त स्थान में हरि कहते हैं कि क्योंकि जल नर के सुत हैं अतः उन्हें नार कहा जाता है। मनु के अनुसार जल ही ब्रह्मा का आद्य आश्रय-स्थल है और नारायणीय के अनुसार हरि का। अतः ब्रह्मा और हरि नारायण कहलाए। वायु तथा विष्णु-पुराण मनु से सहमत हैं। इसके अतिरिक्त ऐसी परम्परा भी है कि ब्रह्मदेव नारायण या विष्णु के नाभि-कमल से निकले (महाभारत ३.१२.३४ तथा १२,३४९,१८)। वायु-पुराण में नारायण को अव्यक्त (अविकसित अवस्था में प्रकृति) से पूर्ववर्ती बतलाया गया है। अव्यक्त से ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई तथा इससे ब्रह्मदेव की। विभिन्न रूपों में ये समस्त परम्पराएं ऋग्वेद १०, ८२, ५ एवं ६ से प्रारम्भ हुई प्रतीत होती हैं जिसका अनुवाद इस प्रकार है :—"दिव से परे, पृथ्वी से परे, विद्यमान देवों से परे वह कौन गर्भ है, जिसने सर्वप्रथम जल को धारण किया तथा जिसमें समस्त देव स्थित हैं? जल ने सर्वप्रथम उसी गर्भ को धारण किया जिसमें समस्त देव संगत होते हैं या स्वयं को स्थित पाते हैं। अज की नाभि में कोई ऐसी वस्तु स्थित है जिसमें समस्त भुवन स्थित हैं?" इस स्थल में सर्वप्रथम जल का उल्लेख प्राप्त होता है, इन जलों में वह 'गर्भ' स्थित है जो कि परवर्तिनी परम्परा के अनुसार प्रत्येक वस्तु के स्रष्टा ब्रह्मा का प्रतिनिधित्व करता है। अज (अजन्मा) नारायण के स्थानापन्न हैं जिनकी नाभि से ब्रह्मा निकले। यह कहा गया है कि इस गर्भ में समस्त देव विद्यमान

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

हैं। यह नरों के स्थान में है, जिनका आश्रय नारायण था। इससे मनु एवं अनेक पुराणों द्वारा उल्लिखित ब्रह्मा नारायण से अभिन्न हैं इस बात की पुष्टि हो जाती है। अत एव बतलाए हुए कतिपय लेखकों द्वारा ब्रह्मा एवं मनु से पूर्ववर्ती कहे गए नारायण एकदम भिन्न व्यक्ति हैं, विराट् प्रकृति से समन्वित हैं तथा ऐतिहासिक या पौराणिक व्यक्ति नहीं हैं। नारायण सम्बन्धी इस विचार का विकास उत्तर ब्राह्मण एवं आरण्यक काल में हुआ। शतपथ ब्राह्मण (१२.३.४) में पुरुष नारायण को क्रमशः प्रातः, मध्याह्न एवं सायंकालीन सवनों द्वारा यज्ञ स्थल से वसुओं, रुद्रों और आदित्यों को हटा देने वाला बतलाया गया है। वहाँ पर केवल वही रह गए थे। प्रजापति ने उन्हें पुनः यज्ञ करने को कहा। समस्त विवरण का सारांश यह है कि नारायण ने स्वयं को समस्त लोकों, समस्त देवों, समस्त वेदों एवं समस्त प्राणों में प्रतिष्ठित किया तथा उनको स्वयं में। इससे नारायण के परमात्मा की महिमा तक प्राप्त होने पर प्रकाश पड़ता है जो सर्वत्र व्याप्त है जिसमें समस्त भूत स्थित हैं तथा जिसने प्रारम्भ में समस्त देवों को स्वयं उनका आश्रय बन कर प्रेरित किया, जैसा कि ऋग्वेद १०,८२.६ में निर्दिष्ट है। एक अन्य स्थल (१३,६,१) में पुरुष नारायण द्वारा समस्त भूतों में वरेण्यता पाने और समस्त भूत रूप बनने के लिए पाञ्चरात्र सत्र (लगातार पाँच दिनों तक चलने वाले यज्ञ) की प्रकल्पना करने का उल्लेख किया गया है। उन्होंने यज्ञों का अनुष्ठान किया और वह माहात्म्य प्राप्त किया। यहाँ पर भी नारायण के परमेश्वर और सर्वभूत स्वरूप होने का वर्णन किया गया है। नारायण को पुरुष सूक्त के द्रष्टा ऋषि के रूप में भी चित्रित किया गया है (ऋग्वेद १०.९०)। अन्य सूक्तों के मन्त्रद्रष्टा ऋषि के रूप में विश्वकर्मा आदि के चित्रण की ही तरह यह चित्रण भी काल्पनिक ही प्रतीत होता है। जिस प्रकार विश्वकर्मा आदि मन्त्रद्रष्टाओं का सूक्त के देवता के साथ सम्बन्ध रहता है उसी प्रकार नारायण पुरुष का ही दूसरा नाम है तथा ये दोनों ही नाम परस्पर सम्बद्ध हैं, जैसा कि हम शतपथ ब्राह्मण के ऊपर निर्दिष्ट उद्धरणों में देख चुके हैं। तैत्तिरीय आरण्यक (१०.११) में नारायण को परमात्मा के उन समस्त गुणों युक्त बतलाया गया है जिनका उल्लेख उपनिषदों में प्राप्त होता है। महाभारत और पुराणों में नारायण परमात्मा के रूप में चित्रित हैं, विशेषतया सृष्टि-वर्णन के प्रसङ्ग में पुराकथाओं में उन्हें क्षीर-सागर में शेष-नाग शय्या पर शयन करते हुए दर्शाया गया है और इस प्रकार प्रलय कालीन जल से उनके सम्बन्ध होने की मूल धारणा इस काल तक सुरक्षित बनी रही है। इस प्रकार नारायण पूजनीय बन गए। ऊपर उल्लिखित

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

घोसुण्डि अभिलेख में नारायण-वाटिका का समर्पण किया गया है।

नारायण का लोक (स्वर्ग) श्वेतद्वीप था। कथासरित्सागर (५४, ६,२१, २३) में देवसिद्धि द्वारा नरवाहनदत्त को श्वेतद्वीप में नारदादि भक्तजनों से उपसेवित शेषशायी हरि के समीप ले जाए जाने का वर्णन है। इसी पुस्तक के एक अन्य स्थल (११५.१०१.३) में अनेक देवों के श्वेत-द्वीप में जाने तथा वहाँ विशाल मणि-मण्डप में चरणों के निकट आसीन लक्ष्मी से उपसेवित शेषशय्यासीन हरि के दर्शन करने का वर्णन किया गया है। हरिवंश (१४.३८४) में यह कहा गया है कि मोक्ष की कामना वाले योगी या कपिल सांख्य के अनुयायी बलि-विरचित स्तुति का पाठ करके श्वेत-द्वीप में पहुँचते हैं। अतएव स्पष्ट रूप से यह श्वेतद्वीप ही वह लोक है जहां नारायण—जिन्हें यदा कदा हरि कहा गया है—निवास करते हैं। यह विष्णु के वैकुण्ठ, शिव के कैलाश तथा गोपाल कृष्ण के गोलोक के स्थान पर माना जा सकता है। नारायण का यही वह लोक था जहां नारद गए थे और जहाँ पर उन्होंने नारायण के दर्शन किए थे तथा उनसे वासुदेव के ऐकान्तिक धर्म की शिक्षा ग्रहण की थी। अतएव यह कल्पना करना आवश्यक नहीं है कि श्वेत-द्वीप श्वेत जातियों की आबादी वाला कोई ईसाई देश था।

उत्तर ब्राह्मण काल में इस प्रकार से परमात्मा के रूप में विकास को प्राप्त नारायण वस्तुतः वासुदेव से पूर्ववर्ती थे तथा महाकाव्य में जब वासुदेव पूजा का उदय हुआ, नारायण के साथ वासुदेव का तादात्म्य कर दिया गया। वनपर्व (अध्याय १८८,१८९) में संसार के प्रलय के समय की वस्तु स्थितियों का वर्णन किया गया है, जिसमें यह कहा गया है कि उस समय सर्वत्र ही जल था तथा उस जल के मध्य न्यग्रोध-वृक्ष की एक शाखा पर एक बालक शयन कर रहा था। उसने अपना मुख खोला तथा मार्कण्डेय को अपने अन्दर खींच लिया। मार्कण्डेय उनके अन्दर घूमे। उन्होंने भीतर सारे जगत् को देखा और वे आश्चर्य चकित हो गए। तदनन्तर उस बालक ने मार्कण्डेय को उगल दिया और तब मार्कण्डेय ने वहाँ जल ही जल देखकर उस बालक से पूछा "आप कौन हैं ?" उस बालक ने कहा "पहले मैंने जल को "नाराः" नाम दिया और वे जल क्योंकि मेरे अयन (आश्रय स्थल) थे अत एव मैं नारायण हूँ" और उसने अपने महत्त्व का वर्णन जारी रखा। अन्त में मार्कण्डेय ने, जो इस सम्पूर्ण कथा को कहने वाले हैं, युधिष्ठिर से कहा कि "आपके सम्बन्धी जनार्दन ही नारायण हैं"। समस्त नारायणीय खण्ड का सार तत्त्व नारायण एवं वासुदेव के मध्य यह अभेद ही है। सर्व-स्रष्टा इन नारायण के अतिरिक्त एक दूसरे नारायण की भी परम्परा थी, जो सदा ही नर के साथ सम्बद्ध थे। एक ही

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

वृक्ष पर निवास करने वाले सयुज एवं सखा दो पक्षियों की औपनिषदिक कल्पना में भी इसी सायुज्य के चिह्न खोजे जा सकते हैं। इनमें से एक, जो स्वामी एवं साक्षी कहलाता है, वर्तमान परम्परा का नारायण है, तथा दूसरा वृक्ष के फलों के खाने में लगा हुआ नर है। प्राचीन विचार को समस्त नरों के आलय या आश्रय रूप नारायण की धारणा में परिवर्तित कर दिया गया। नारायणीय के प्रारम्भिक अध्याय में यह कहा गया है कि विश्वात्मा नारायण चार स्वरूपों सहित धर्म के आत्मज हुए। ये चार स्वरूप या पुत्र नर, नारायण, हरि और कृष्ण थे। इनमें से दो वदरिकाश्रम में तपश्चरण में लग गए। यही कथा वामन-पुराण के छठवें अध्याय में दी गई है। इन चारों को धर्म का पुत्र वतलाया गया है और अहिंसा को इनकी माता कहा गया है। यह कथा सार्थक प्रतीत होती है। जब नूतन धार्मिक मतों का अभ्युदय हुआ उस काल के लगभग जो विचार आलोड़ित हो रहे थे वे प्राचीन यज्ञीय विधान तथा पशु वध के विरुद्ध अहिंसा और धर्म सम्बन्धी विचार थे। अत एव ये चारों नाम एक ऐसे नवीन धार्मिक मत के प्रवर्तन से जुड़े हुए थे जो अनीश्वरवादी नहीं था तथा जो सदाचार और पशुओं की अहिंसा से सम्बद्ध था। धर्म को इन चारों का पिता और अहिंसा को इनकी माता कहे जाने का यही तात्पर्य प्रतीत होता है। नर और नारायण को यदा कदा ऋषि कहा गया है और इस वात के चिह्न को 'नारायण पुरुष-सूक्त के रचयिता ऋषि हैं' इस धारणा में देखा जा सकता है। जव महाभारत की रचना की गई उस समय तक ये देवता अत्यधिक प्रसिद्ध हो गए होंगे क्योंकि विभिन्न पर्वों के प्रारम्भिक श्लोक में इन दोनों देवताओं (नर एवं नारायण) की वन्दना की गई है। वन-पर्व (१२;४६,४७) में जनार्दन को अर्जुन से यह कहते हुए वतलाया गया है कि "हे अजेय तू नर और मैं नारायण हूँ तथा हम दोनों नर-नारायण ऋषि इस जगत् में उचित समय पर आए हैं; हे पार्थ तू मुझ से पृथक् नहीं है और मैं तुझ से पृथक् नहीं हूँ; हमारे मध्य कोई भेद सम्भव नहीं है। इसी पर्व (३०,१) में देवाधिदेव (शिव) अर्जुन से कहते हैं "पूर्व जन्म में तू नर था तथा अपने साथी नारायण सहित तूने सहस्रों वर्षों तक वदरी में तप किया था"। उद्योग-पर्व (४९.१९) में कहा गया है कि "दोनों वीर 'वासुदेव एवं अर्जुन, प्राचीन नर और नारायण देव हैं, यह अनुश्रुति है"। इस प्रकार अर्जुन और वासुदेव ही नर और नारायण हैं इस वारे में वहुत सारे उदाहरण हैं। इस प्रकार इन दोनों ऋषियों—जो साथ ही साथ योद्धा भी थे—की परम्परा को भगवद्गीता के दो संवादकर्ताओं के साथ जोड़ दिया गया है।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

५. वासुदेव का विष्णु से तादात्म्य

विष्णु एक वैदिक देवता हैं। यद्यपि ऋग्वेद में उनकी स्तुति कुछ एक सूक्तों में ही की गई है परन्तु उनका व्यक्तित्व किसी भी तरह कम महत्त्व वाला नहीं है। उनके विस्तीर्ण पदन्यासों तथा उनके तीन डगों—जिनके द्वारा उन्होंने समस्त विश्व को ही माप डाला था—का वर्णन सदैव बड़े ही उत्साह के साथ किया गया है। उनके दो पद-न्यास तो मनुष्यों द्वारा अवलोकनीय तथा अभिगम्य हैं किन्तु कोई भी उनके तृतीय पद-न्यास का अतिक्रमण नहीं कर सकता तथा यह तो पक्षियों की भी उड़ान से परे है (ऋग्वेद १.१५५.५)। बुद्धिमान् (सूरि लोग) ही विष्णु के परम पद को स्वर्ग में टकटकी लगाकर देख सकते हैं (ऋग्वेद १.२२.२०)। विष्णु के परम पद में मधु का एक कूप है और वहाँ पर देवता लोग आनन्द पाते हैं (ऋग्वेद १.१५४.५)। विष्णु इन्द्र के सखा एवं सहायक प्रतीत होते हैं।

किन्तु ऋग्वेद में अपेक्षाकृत गौण स्थिति से युक्त होने के बावजूद ब्राह्मण-काल में विष्णु को महत्त्व प्राप्त होने लगा था तथा महाकाव्य एवं पौराणिक काल तक उन्हें परमेश्वर का पद प्राप्त हो गया था। विकास की इस प्रक्रिया में जो तत्त्व क्रियाशील प्रतीत होता है वह है सब की पहुँच से परे विष्णु के तृतीय चरण या उनके परम पद के प्रति सम्मान की भावना। ब्राह्मण काल में हमें अग्नि का उल्लेख क्षुद्रतम देव के रूप में तथा विष्णु का उल्लेख श्रेष्ठतम देव के रूप में प्राप्त होता है (ऐ० ब्रा० १,१)। इसके अतिरिक्त शतपथ ब्राह्मण और तैत्तिरीय-आरण्यक में तेज, ऐश्वर्य और अन्न प्राप्ति के निमित्त देवों द्वारा अनुष्ठित एक याज्ञिक आयोजन की कथा आती है। उन्होंने आपस में यह प्रस्ताव किया कि उनमें से जो भी अपने कर्म द्वारा सर्वप्रथम यज्ञ के अन्त को प्राप्त कर ले, वही उनमें सर्वश्रेष्ठ पद प्राप्त करे। विष्णु ने दूसरों से पहले अन्त को प्राप्त कर लिया तथा वे देवों में श्रेष्ठ हो गए और इसीलिए यह कहा जाता है कि विष्णु देवों में श्रेष्ठ हैं (श० ब्रा० १४.१.१)। जब यह लिखा गया, इससे पूर्व ही विष्णु परम ऐश्वर्य को प्राप्त कर चुके थे तथा यह कथा यही बतलाने के लिए आविष्कृत हुई। इसके अतिरिक्त इसी ब्राह्मण (१.२.५) में वामन विष्णु की भी कथा आती है। देवता और असुर जब यज्ञ में स्थान प्राप्त करने के निमित्त परस्पर संघर्ष-रत थे तब असुर इस बात पर सहमत हो गए कि वे देवताओं को एक बौने

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

के आकार के बराबर भूमि देने की अनुमति दे देंगे। इस पर विष्णु को लिटाया गया। धीरे-धीरे विष्णु इतने बढ़ गए कि उन्होंने सारी पृथ्वी को ही आच्छादित कर लियो और देवों को सारी पृथ्वी प्राप्त हो गई। इस कथा में विष्णु को अद्भुत शक्ति से समन्वित कर दिया गया है, यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि वे परमात्मा रहे हों। मैत्री-उपनिषद् (६.१३) में अन्न को जगत् के प्रतिपालक भगवान् विष्णु का स्वरूप कहा गया है। कठ-उपनिषद् (३.९) में जीवात्मा की प्रगति की तुलना एक यात्रा से की गई है तथा जिस पथ पर वह चल रही है उसके अन्त को विष्णु का परम पद बतलाया गया है। यही अन्तिम लक्ष्य तथा शाश्वत आनन्द का आलय है तथा इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग इस दृष्टि कोण की पुष्टि करता है कि परमात्मा के गौरव तक विष्णु के अभ्युत्कर्ष का कारण यह है कि इस शब्द में इस प्रकार के अर्थ बोधन का सामर्थ्य है। कुछ काल के उपरान्त विष्णु गृह-देवता भी बन गए। विवाह संस्कार की सप्तपदी-विधि में अपना चरण आगे को रखती हुई वधू से वर कहता है "विष्णु तुम्हारे साथ हों" यह सूत्र आपस्तम्ब, हिरण्यकेशिन् और पारस्कर गृह्य-सूत्रों में प्राप्त होता है परन्तु आश्वलायन गृह्य सूत्रों में नहीं। महाकाव्य काल तक विष्णु हर मामले में परमात्मा की कोटि पर पहुंच गए और विष्णु से वासुदेव का तादात्म्य हो गया। भीष्मपर्व के पूर्वोल्लिखित ६५वें और ६६वें पर्वों में परमात्मा को नारायण और विष्णु रूप में सम्बोधित किया गया है तथा वासुदेव से उसका तादात्म्य प्रतिष्ठापित किया गया है।

आश्वमेधिक पर्व (अध्याय ५३-५५) के अनुगीता खण्ड में द्वारका से लौटते समय कृष्ण मार्ग में भृगुवंश के उट्टंक नामक ऋषि से मिलते हैं। ऋषि कृष्ण से पूछते हैं कि क्या आपने अपने संघर्षरत सम्बन्धी कुरुओं और पाण्डवों के बीच शान्ति स्थापित कर दी है तथा उनके मध्य मधुर सम्बन्ध स्थापित कर दिए हैं। कृष्ण उत्तर देते हैं कि कुरुओं का विनाश हो चुका है और पाण्डव साम्राज्य पर अधिरूढ़ हैं। इस पर ऋषि क्रुद्ध हो गए और बोले कि मैं आपको शाप दूंगा परन्तु यदि आप मुझे अध्यात्म-दर्शन की शिक्षा दें तो शाप देने से विरत हो जाऊंगा। उट्टंक की प्रार्थना पर कृष्ण इस दर्शन की शिक्षा देते हैं तथा अपने विराट् स्वरूप का दर्शन कराते हैं। यह स्वरूप वही या उससे मिलता जुलता है जो कि भगवद्गीता के अनुसार अर्जुन को दिखलाया गया था किन्तु यहां पर इस रूप को वैष्णव रूप कहा गया है। यह नाम अन्य स्थलों में प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार भगवद्गीता और अनुगीता काल के मध्य विष्णु और वासुदेव कृष्ण का अभेद प्रतिष्ठापन

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

तथ्य बन चुका था। शान्ति-पर्व के ४३वें अध्याय में युधिष्ठिर कृष्ण की स्तुति करते हुए एक श्लोक कहते हैं जिसमें कृष्ण को विष्णु माना गया है। महाकाव्य-काल में विष्णु को परमात्मा माना गया। परन्तु (इस काल में) नारायण और वासुदेव-कृष्ण नाम अधिक प्रचुरता के साथ प्राप्त होते हैं।

किन्तु महाभारत के अनेक स्थल ऐसी वस्तु स्थिति को चित्रित करते हैं जिनमें वासुदेव कृष्ण के देवत्व को सामान्यतया स्वीकार नहीं किया गया है। अनुगीता के ऊपरी प्रसङ्ग में उट्टंक कृष्ण को इस तरह शाप देने ही वाले हैं जैसे कि वे कोई साधारण व्यक्ति हों और वे विराट स्वरूप दिखलाए जाने के बाद ही शाप देने से विरत होते हैं। इसी प्रकार डा० मूर० (ओ० एस० टी० ४ पृ० २०५) द्वारा उल्लिखित अनेक स्थलों में कृष्ण के देवत्व का निषेध किया गया है तथा सञ्जय और भीष्म को इसे प्रतिष्ठापित करने के लिए बहुत प्रयत्न करना पड़ा। यहाँ पर जो तथ्य प्रतीत होता है वह यह है कि वासुदेव धर्म; जिसमें वासुदेव को देवत्व प्रदान किया गया, सात्वतों द्वारा प्रचारित किया गया था। जैसा कि ऊपर उल्लिखित कुछ एक स्थलों में देखा जा चुका है। देश की अन्य जातियों और लोगों में इस क्रमिक प्रसार पर महाभारत के इन अंशों से प्रकाश पड़ता है। पौराणिक काल के दौरान वासुदेव मत प्रबल नहीं रह गया तथा इस काल में धार्मिक चिन्तन की तीन धाराएं—एक तो वह जिसके मूल में वैदिक विष्णु थे; दूसरी विराट् एवं दार्शनिक देव नारायण से विनिःसृत और तीसरी ऐतिहासिक देव वासुदेव से निकली हुई—परस्पर मिलकर एक हो गईं और इस प्रकार इस परवर्ती वैष्णव मत का निर्माण हुआ। किन्तु एक चौथी धारा और भी है जो परवर्ती काल में कतिपय वैष्णव सम्प्रदायों में लगभग पूर्ण प्रधानता पर पहुँच गई और अब हम अपना ध्यान इसी की ओर मोड़ रहे हैं।

SRI JAGADGURU VISHWARADHYA
JNANA SIMHASAN JNANAMANDAL
LIBRARY
Jangamwadi Math, Varanasi
ACC No.........8580...............

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

६. गोपाल-कृष्ण के साथ वासुदेव-कृष्ण का तादात्म्य

अभी तक हमारे द्वारा उद्धृत साक्ष्यों में गोपाल-कृष्ण का उल्लेख प्राप्त नहीं होता। अभिलेखों, पतञ्जलि की कृति तथा स्वयं नारायणीय तक में इस प्रकार के देवता के अस्तित्व के ज्ञान के कोई भी सङ्केत नहीं हैं। नारायणीय में कंस के विनाश के निमित्त वासुदेव के अवतार के ग्रहण किए जाने का उल्लेख तो है किन्तु गोकुल के किन्हीं भी दैत्यों के वध के लिए नहीं। इस कथन में तथा हरिवंश (३८७६-५९८७ श्लोक) वायु पुराण (अध्याय ९८ श्लोक १००-१०२) एवं भागवत (२.७) पुराण के इन कथनों का अन्तर महत्त्वपूर्ण है जिनमें गोकुल के समस्त दैत्यों और कंस के विनाश के लिए कृष्ण अवतार ग्रहण किए जाने का वर्णन है। जब इन ग्रन्थों को लिखा गया उस समय तक गोकुल के कृष्ण की कथा प्रचलित हो चुकी होगी और वासुदेव कृष्ण से उन्हें अभिन्न माना जाने लगा होगा। वृष्णिवंशी राजपुत्र के गोकुल में पाले जाने की कथा महाभारत में वर्णित उनके उत्तरकालीन जीवन-चरित्र से मेल नहीं खाती और न ही महाभारत के किसी भी अंश को कृष्ण के इस प्रकार के बाल्यकाल की कल्पना करने की आवश्यकता ही प्रतीत हुई है।

किन्तु सभापर्व (अध्याय ४१) में कृष्ण की निन्दा करता हुआ शिशुपाल कृष्ण द्वारा गोकुल में किए गए पूतना वध आदि कार्यों का उल्लेख करता है तथा भीष्म द्वारा उन कर्मों की प्रशंसा किए जाने की बात भी कहता है किन्तु भीष्म (अध्याय ३८) द्वारा की गई कृष्ण की स्तुति में इन कर्मों का उल्लेख नहीं होता, अतः यह अंश प्रक्षिप्त है।

गोविन्द नाम भगवद्गीता में तथा महाभारत के अन्य भागों में अवश्य आता है। यह एक प्राचीन नाम है जो पाणिनि के ३.१.१३८ सूत्र के एक वार्त्तिक के नियम द्वारा व्युत्पादित है। यदि कृष्ण को यह नाम गोकुल में बाल्यावस्था में गायों के साथ सम्बन्ध रहने के कारण दिया गया होता तथा यदि महाभारत के अप्रक्षिप्त अंशों के लिखे जाने के समय कृष्ण के गोकुल वाले इतिवृत्त का ज्ञान रहता तो हमें इस नाम की इसी आशय की व्युत्पत्ति

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

प्राप्त हुई होती। किन्तु इसके विपरीत आदिपर्व में यह कहा गया है कि कृष्ण को गोविन्द इसलिए कहा जाता है क्योंकि वराह रूप में उन्होंने पृथ्वी को (गाम्) जल में पाया था (विन्दति) (अध्याय २१,१२)। शान्ति-पर्व (अध्याय ३४२, ७०) में वासुदेव कहते हैं "देवगण मुझे गोविन्द कहते हैं क्योंकि पूर्व-काल में मैंने खोई हुई तथा गह्वरगत पृथ्वी (गां) को प्राप्त किया था।" गोविन्द नाम की उत्पत्ति इस आख्यान में खोजी जा सकती है किन्तु अधिक सम्भव है कि "गोविन्द" "गोविद्" का ही विकसित रूप है जो कि ऋग्वेद में 'गायों को पाने वाले' के अर्थ में इन्द्र के विशेषण के रूप में प्रयुक्त है। इन्द्र के ही लिए प्रयुक्त एक अन्य विशेषण केशिनिषूदन की भांति यह विशेषण भी जब कृष्ण प्रधान देव रूप में माने जाने लगे होंगे, उस समय वासुदेव-कृष्ण के लिए अपना लिया गया होगा।

इस सब से यह प्रतीत होता है कि गोकुल में कृष्ण के बाल्यकाल की कथा ईसवीय शतक के प्रारम्भकाल के आसपास तक अज्ञात थी। इसके लिए प्रधान साक्ष्य भूत 'हरिवंश' में 'दीनार' (लैटिन डिनेरियस) शब्द प्राप्त होता है। और फलस्वरूप यह (हरिवंश) तृतीय शतक ईसवीय के लगभग लिखा गया होगा। इससे कुछ समय पूर्व कृष्ण के बाल्यकाल की कथाएं प्रचलित हो चुकी होंगी। इन्द्र-महोत्सव के आयोजन को विरत करने तथा इसके स्थान पर गोवर्धन पर्वत की पूजा करने के लिए अपने प्रतिपालक पिता नन्द से कहे गए बाल-देव कृष्ण के शब्दों से गोपालों की जाति जिसके बीच कृष्ण रहते थे—की प्रकृति का परिचय प्राप्त होता है। वे कहते हैं—"हम गो-पालक हैं) वनों में भटकते हैं, गायों पर अपना जीवन चलाते हैं, वे ही हमारी सम्पदा हैं; गौ पर्वत और वन ही हमारे देव हैं (हरि० ३८०८)। गोपालक घोषों में रहते थे जिन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान के लिए आसानी से हटाया जा सकता था। जैसा कि उन्होंने व्रज छोड़ा और वृन्दावन में जा बसे (हरि० ३५५२)। घोष को आभीरपल्ली कहा गया है, जिसे सामान्य-तया ग्वालों का बाड़ा समझा जाता है। किन्तु 'आभीर' शब्द का मौलिक अर्थ ग्वाला नहीं है। यह एक जाति का नाम है जिसका मौलिक व्यवसाय गो-पालन था और इसी के कारण परवर्ती काल में आभीर नाम गोपालक का समानार्थक बन गया। इन सभी कारणों से हम कह सकते हैं कि वे गोपालक, जिनके मध्य बाल-देव कृष्ण रहते थे, आभीर नामक यायावर जाति के थे। आभीर मथुरा के समीपवर्ती मधुवन से लेकर द्वारका के आसपास के अनूप या आनर्त तक फैले हुए एक विस्तृत क्षेत्र में आबाद थे [हरिवंश ५१६१-५१६१]। आभीरों का उल्लेख महाभारत(मुसलपर्व) अध्याय ७ में वृष्णिवंशीय

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

पुरुषों के विनाश के सद्यः उपरान्त द्वारका से कुरुक्षेत्र की ओर इस वंश की नारियों को ले जा रहे अर्जुन पर आक्रमण करने वालों के रूप में किया गया है। उन्हें दस्यु और म्लेच्छ बतलाया गया है तथा वे पञ्चनद—जो सम्भवतः पंजाब है—के समीप रहते थे। विष्णु-पुराण ने उन्हें अपरान्त (कोङ्कण) तथा सौराष्ट्र प्रदेशों में स्थित बतलाया है। तथा वराह-मिहिर ने भी उनके लिए यही स्थिति निर्धारित की है। यद्यपि उनका उल्लेख दाक्षिणात्य जनों (बृ० सं० १४.१२) तथा दक्षिण-पश्चिम में (बृ० सं० १४.१८) निवास कर रहे लोगों के रूप में किया गया है, किन्तु इस प्रदेश में आभीर-जन विशाल समूहों में आव्रजन किए होंगे। पहले वे यायावर थे। बाद में वे पंजाब की पूर्वी सीमाओं के आसपास वाले प्रदेश से लेकर मथुरा के समीप तक, दक्षिण में सौराष्ट्र या काठियाबाड़ तक अर्थात् राजपूताना तथा उससे पश्चिमोत्तर के सारे क्षेत्र पर आबाद हो गए। आबाद हो जाने पर उन्होंने विभिन्न व्यवसाय अपनाए होंगे जिनमें से एक उनका पुराना धन्धा अर्थात् गोपालन रहा होगा। प्राचीन आभीरों के वंशज आजकल अहीर कहलाते हैं तथा आजकल तो अहीर लोग बढ़ईगीरी सुनारी, गोपालन तथा पुरोहितों तक का व्यवसाय करते हुए मिलते हैं। एक समय तो उन्होंने मराठा देश के उत्तरी भाग में एक राज्य की भी स्थापना की थी तथा आभीर शिवदत्त के पुत्र आभीर नृपति ईश्वरसेन के राज्य-काल के नवें वर्ष का एक अभिलेख भी नासिक में प्राप्त हुआ है।[1] अक्षरों के आकार से यह अभिलेख सम्भवतः तीसरी सदी के अन्तिम भाग का प्रतीत होता है। पुराणों में दस राजाओं वाले एक आभीर वंश का उल्लेख मिलता है[2]। इससे भी प्राचीन एक अन्य अभिलेख काठियावाड़ में गुण्डा में प्राप्त हुआ है जिसमें सेनापति 'रुद्रभूति' जिसे 'आभीर' कहा गया है के दानों का उल्लेख है[3]। यह अभिलेख रुद्र-सिंह नामक एक क्षत्रप के शासन-काल का है, जो शक संवत् १०२ तदनुसार १८० ई० में शासनारूढ़ था। अब यदि दूसरे शतक ई० के अन्त तथा तृतीय शतक में आभीरों को उच्च राजनैतिक स्थिति प्राप्त हो चुकी थी, तो वे इस देश में प्रथम शतक में ही आबाद हो चुके होंगे। सम्भवतः वे अपने साथ बलदेव-कृष्ण की पूजा, उनके साधारण जन्म की कथा, उनके प्रसिद्ध पिता का यह ज्ञान कि वे उनके पुत्र नहीं हैं तथा अबोध शिशुओं की हत्याओं की कथाएं लाए थे। इनमें से आखिरी दो बातें नन्द के इस ज्ञान से कि वे

---

१. लूडरः लिस्ट आफ् ब्राह्मी इंस्क्रिप्शन्स नं० ११३७
२. द्रष्टव्यः वायु-पुराण भाग-२ अध्याय ३७ पृ० ४५३ (वि० ३०)
३. लूडरः—"लिस्ट ऑफ् ब्राह्मी इंस्क्रिप्शन्स" सं० ९६३

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

कृष्ण के पिता नहीं हैं तथा कंस द्वारा समस्त शिशुओं की हत्या करवाने से मिलती है। धेनुक—जो गर्दभ के आकार वाला एक दैत्य था—के वध आदि की कृष्ण के बाल्यकाल की कथाए आभीर अपने साथ लाये थे[1] तथा अन्य कथाओं का विकास भारत में उनके आने के बाद में हुआ। यह भी सम्भव है कि वे अपने साथ क्राइस्ट का नाम भी लाए हों और इसी नाम से सम्भवतः बालक कृष्ण का वासुदेव के साथ तादाम्य स्थापित हुआ हो। गोवावासी तथा बङ्गाली लोग 'कृष्ण' नाम का उच्चारण प्रायः 'कुष्टों' या 'क्रिष्टों करते' हैं। अतएव आभीरों के क्राइस्ट ही संस्कृत में कृष्ण बन गए होंगे। गोपियों के साथ में कृष्ण की लीला—जिससे वासुदेव-मत में सदाचार-विरोधी तत्त्वों का प्रवेश हुआ—यायावर आभीरों एवं उनके अधिक सभ्य आर्य पड़ोसियों के उन्मुक्त संसर्ग से प्रतिफलित परवर्ती परिणाम थी। उस समय आभीरों की सी दशा वाली जातियों में ऊंची या कठोर नैतिकता की आशा नहीं की जा सकती थी, इससे उनके विलासी पड़ोसियों ने उनके शिथिल आचरण का लाभ उठाया। इसके अतिरिक्त आजकल की तरह आभीर-रमणियां गौर-वर्ण तथा सुन्दर भी रही होंगी।

बौद्ध घटजातक में जो कथा है उसमें वासुदेव एवं उनके भाइयों को कंस की भगिनी देवगब्भा तथा उपसागर का पुत्र बतलाया गया है। इन्हें अन्धक-वेण्हु नामक एक पुरुष तथा उसकी पत्नी नन्दगोपा को सौंप दिया गया था जो कि देवगब्भा की दासी थी। इस कथा में देवगब्भा नाम है वह देवकी का स्मरण कराने वाला है तथा इसमें नन्द एवं यशोदा या गोकुल की गोपा के नामों को समस्त करके उस दासी का नाम नन्द-गोपा रख दिया गया है, जिसने देवगब्भा के पुत्र को अपने पुत्र की भांति पाला था। 'अन्धक-वेण्हु' शब्द में दो सगोत्र यादव जातियों अन्धक और वृष्णि का समास कर दिया गया जो उस दासी के पति का नाम बन गया है। चूंकि प्रामाणिकतम साक्ष्यों के आधार पर अन्धक और वृष्णि दो भिन्न २ नाम थे और ये दोनों जातियां थीं, अतएव इस कथानक में वास्तविक कथानक के व्यामिश्रित स्मृति मात्र अवशिष्ट हैं तथा यह कथा तो बाद में विकसित हुई है। सारे जातकों को किसी एक ही समय में एक ही बार में नहीं लिखा गया। कुछ जातक ईसवी पूर्व के हैं तथा कुछ बाद के। घटजातक मुझे ईसवीं शतक के बाद का प्रतीत होता है। अतः 'नन्द-गोपा' समास में यद्यपि बाल-देव कृष्ण के प्रति-पालक माता पिता का स्पष्ट चिह्न विद्यमान है तथापि इसे इस बात का द्योतक नहीं माना जा सकता है कि ईसवी संवत् के पूर्व गोपाल-कृष्ण का वासुदेव से तादात्म्य स्थापित हो गया था।

१. जे० आर० ए० एस०, १९०७ पृ० ९८१

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

७. पाँचरात्र या भागवत मत

इस प्रकार हमने परवर्ती वैष्णव धर्म की संरचना में सहायक अन्तिम तत्त्व का पर्यालोचन किया। परन्तु यह तत्त्व प्राचीन पाञ्चरात्र सिद्धान्तों पर आधारित मतों का या तो प्रधान अङ्ग नहीं है या एक दम अङ्ग है ही नहीं जैसा कि हम देख चुके हैं। एकान्तिक धर्म वह धर्म था, भो भगवद्गीता द्वारा प्रचारित था। परन्तु पाञ्चरात्र मत का, जिसमें वासुदेव तथा उनके अन्य स्वरूपों की पूजा है, इस कृति (गीता) के साथ कोई सावयविक सम्बन्ध नहीं दिखलाई पड़ा यद्यपि भक्ति दोनों ही में सामान्य तत्त्व है। इस मत का विकास तृतीय शतक ई० पू० के आसपास हुआ होगा, जैसा कि हम अभिलेखों और पूर्व-निर्दिष्ट पुस्तकों के स्थलों में देख ही चुके हैं। इस प्रकार उनके गोपाल-कृष्ण-तत्त्व से मुक्त होने की बात भी समझ में आ जाती है तथा रामानुज और मध्व दर्शनों जैसे अर्वाचीन वैष्णव मतों में न्यूनाधिक रूपों में प्राचीन भागवत सिद्धान्तों को मान्यता दी गई है। किन्तु इस गोपाल कृष्ण-तत्त्व की पूर्णतया उपेक्षा कर दी गई है। किन्तु अन्य मतों में तथा सामान्यतया लोक प्रिय वैष्णव धर्म में इस तत्त्व को स्वीकार किया गया है।

भागवत-मत जिन साक्ष्यों पर आधारित है वे पाञ्चरात्र संहिताएँ हैं। तथा ब्रह्मसूत्र २.२.३६-४२ पर अपने भाष्य में रामानुज ने इनमें से कुछ संहिताओं से उद्धरण भी दिए हैं। प्रथम उद्धरण पौष्कर-संहिता से है जो यह प्रदर्शित करने के लिए अभिप्रेत है कि जब ब्राह्मण पारम्परिक नामों द्वारा चतुर्विध आत्मा की उपासना करते हैं तो इसे प्रामाणिक माना जाना चाहिए। दूसरा उद्धरण सात्वत-संहिता से है जो इस आशय का है कि इस महाशास्त्र में ब्रह्म का रहस्य विद्यमान है तथा वासुदेव नामधारी सत्य ब्रह्म की उपासना करने वाले ब्राह्मणों को यह विवेक प्रदान करता है। दो उद्धरण परम संहिता से लिये हैं। उनमें से एक में प्रकृति का स्वरूप बतलाया गया है। प्रकृति जड़ परोपभोग्या, नित्य, सदा परिणामिनी एवं त्रिगुणात्मिका है तथा यही वह क्षेत्र है, जिसमें कर्ताओं के कर्म सम्पादित होते हैं। दूसरे उद्धरण में किसी व्यक्ति को सम्भवतः स्वयं शाण्डिल्य को ही यह कहते हुए चित्रित किया गया है कि उसने वेदाङ्गों और वाकोवाक्य

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

सहित समस्त वेदों का अध्ययन किया है परन्तु उसे उनमें परमानन्द-प्राप्ति के मार्ग का स्पष्ट निर्देश प्राप्त नहीं हुआ। इन संहिताओं में से एक सात्वत नाम धारिणी संहिता मुद्रित हो चुकी है तथा प्राप्य है। इसका प्रारम्भ इस कथन के साथ होता है कि नारद ने मलयाचल पर परशुराम को देखा और परशुराम ने उन्हें उन ऋषियों के समीप जाने तथा उन्हें सात्वत-मार्ग का उपदेश देने को कहा जो हरि के पद की खोज कर रहे हैं। नारद ने यही किया और उन ऋषियों को उन्होंने रहस्य आम्नाय का उपदेश दिया। यहाँ पर नारायण को परमात्मा बतलाया गया है। रहस्य-आम्नाय का उपदेश पहले संकर्षण द्वारा पूछे जाने पर चक्रधारी वासुदेव ने किया था। संकर्षण ने त्रेता-युग के प्रारम्भ में विष्णु से यह प्रश्न किया था कि उनका मुख रक्त-वर्ण क्यों हो गया है? विष्णु ने यह उत्तर दिया कि "क्योंकि लोग त्रेता युग में राग से अभिभूत हो जाएंगे"। यह पूछे जाने पर कि राग से उनकी विमुक्ति कैसे हो सकेगी? संकर्षण को यह बतलाया गया कि शाश्वत एवं परम ब्रह्म की तीन प्रकारों से पूजा करने से उनकी मुक्ति हो सकेगी। परमात्मा, जिसके कर, चरण एवं नेत्र सर्वत्र हैं तथा जो षड्गुण विभूषित है, पर है, वह एक है तथा सर्वभूताश्रय है, इस परमात्मा के अतिरिक्त एक त्रिक है जिसका प्रत्येक सदस्य ज्ञान एवं अन्य गुणों के पार्थक्य के कारण एक दूसरे से विभिन्न है। इन तीनों को व्यूह समझा जाना चाहिए जो कि सरलतापूर्वक वाञ्छित फल प्रदान करते हैं। तदनन्तर बलराम ने सेवा विधियों के सम्बन्ध में पूछा और भगवान् ने इसका उत्तर इस प्रकार दिया—"जब वासुदेव के उपासक गुणवान् ब्राह्मणों के हृदय में सृष्टि का लक्ष्य तथा अन्तर्भूत ब्रह्म स्थित होता है, तब संसार से तारने के लिए ब्रह्म से परम-शास्त्र-जो कि ब्रह्म का महान् उपनिषद् है—प्रकट होता है एवं विवेक प्रदान करता है। यह दिव्य विधियों से युक्त है तथा इसका फल मोक्ष है[1]। अब मैं तुम्हें उनका उपदेश दूंगा जो कि विविध प्रकारों वाला है। रहस्य युक्त यह शास्त्र उन लोगों के लिए फल-दायक है जिन्होंने अष्टाङ्गिक योग का अभ्यास किया है और जिनकी आत्मा मानसिक यज्ञ में अनुरक्त है। ऐसे ब्राह्मण योगी जो वेदों को मानकर चलने वाले हैं तथा जिन्होने मिश्रित पूजा का परित्याग कर दिया है, हृदय में वास करने वाले एक ईश्वर की उपासना के अधिकारी हैं। जहाँ तक चार व्यूहों के संस्कारों एवं विभवों[2] की क्रिया एवं मन्त्रों का सम्बन्ध है, क्षत्रि-

१. इसमें से दो पङ्क्तियां ऊपर दिए गए रामानुज के उद्धरण में प्राप्त होती हैं।
२. विभव परमात्मा के अवतार हैं।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

यादि शेष तीनों वर्ण तथा जो प्रपन्न भक्त हैं वे मन्त्रों युक्त अथवा मन्त्रों से रहित चार व्यूहों की पूजा करने के अधिकारी हैं। इन सभी लोगों को संसर्ग से विमुक्त, अपने अपने कर्तव्यों के अनुपालन में निमग्न तथा मन वचन और कर्म से परमेश्वर का भक्त होना चाहिए। इस प्रकार पूजा के लिए मन्त्रों द्वारा दीक्षित रहने पर चारों ही वर्ण अधिकारी हो जाते हैं। अब एक स्वरूप से सम्बद्ध प्रक्रिया को सुनो। इसके बाद वर्णों और मन्त्रों के रहस्य-मय विन्यास तथा समाधि के विषय में वर्णन आता है। इस कृति में आदि से अन्त तक विविध प्रकार से विन्यस्त मन्त्रों के माध्यम से पूजा की रहस्यमय विधियों का वर्णन है। इस बात की पूरी संभावना है कि इस सात्वत-संहिता में जिन विधियों का विस्तारपूर्वक वर्णन है उनका सङ्केत भीष्मपर्व के ६६ वें अध्याय के अन्त में संकर्षण द्वारा सात्वत-विधि के अनुसार की गई वासुदेव की स्तुति में पाया जाता है।

ब्रह्मसूत्र २.२.४२ पर अपनी टीका में भागवत-संप्रदाय सम्बन्धी अपनी टिप्पणी में शङ्कराचार्य ने परमेश्वर भगवान् वासुदेव की पाँच प्रकार की पूजाविधियां बतलाई हैं जो भाष्यकारों के व्याख्यानों सहित इस प्रकार हैं :—

१. अभिगमन—मन, वचन और शरीर को भगवान् पर केन्द्रित करते हुए उनके मन्दिर में जाना।

२. उपादान—पूजा की सामग्री को एकत्रित करना।

३. इज्या—अर्थात् पूजा।

४. स्वाध्याय—प्रचलित मन्त्र का जप करना।

५. योग या ध्यान।

एक सौ वर्षों तक इस प्रकार से उनकी पूजा करने पर समस्त पापों का क्षय हो जाता है और भक्त भगवान् को प्राप्त कर लेता है।

एशियाटिक सोसाइटी बङ्गाल से प्रकाशित नारदपाञ्चरात्र नामक पुस्तकों में ज्ञानामृतसार नाम की एक संहिता पाई जाती है। इस पुस्तक में बालक कृष्ण की महिमाओं का गायन किया गया है। कृष्ण के माहात्म्य तथा उनकी पूजा विधियों के जानने की इच्छा होने पर नारद को शिव के समीप जाने तथा उनसे उपदेश प्राप्त करने का निर्देश दिया गया है। नारद

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

कैलास पर्वत पर पहुँचते हैं, शङ्कर के उस प्रासाद में प्रविष्ट होते है जिसमें सात द्वार हैं। इन प्रवेश द्वारों पर कृष्ण के वाल्यकाल के तथा गोकुल में की गई उनकी लीलाओं के दृश्यों से सम्वद्ध चित्र एवं शिल्प खण्ड थे जैसे कि वृन्दावन, यमुना, गोपियों के वस्त्रों को लेकर कृष्ण का कदम्ब वृक्ष पर बैठना, नग्नावस्था में गोपियों का यमुना से वाहर निकलना, कालियनाग का मर्दन, अपने हाथ पर गोवर्धन पर्वत को धारण करना, मथुरा की यात्रा तथा गोपियों एवं प्रतिपालक माता पिता का रुदन आदि। लगभग २वर्ष पूर्व जोधपुर के निकट मन्दोर में उत्खनित एक स्तम्भ पर इन लीलाओं में से कुछ को प्रतिचित्रित करने वाले अङ्कन पाए गए हैं।[1] यह स्तम्भ चौथी सदी ईसवी से पूर्व का नहीं माना गया है। शिव-प्रासाद के द्वारों पर इस प्रकार के शिल्पों की कल्पना का विचार किसी भी लेखक के मस्तिष्क में तभी आया होगा जव कि इस प्रकार के अङ्कनों से युक्त अलङ्कृत द्वारों एवं स्तम्भों का प्रचलन काफी आम हो गया होगा। अत एव ज्ञानामृतसार चौथी सदी ईसवी से पूर्व की नहीं होनी चाहिए तथा मुझे तो यह काफी वाद की मालूम पड़ती है जैसा कि आगे दिखलाया जाएगा। गोलोक उस लोक या स्वर्ग का नाम है जिसमें कृष्ण का निवास है तथा जहाँ केवल वे ही पहुँचते हैं जो उनकी पूजा करते हैं। इस पुस्तक में ऐसे अनेकों मन्त्र वतलाये गए हैं जिन्हें जपने वालों को स्वर्ग में स्थान प्राप्त होता है। इस पुस्तक के अनुसार भक्तिपूर्वक हरि का दास्य-भाव ही उत्तम मुक्ति है। हरि को भजने के ६ प्रकार हैं :—(१) स्मरण, (२) नाम एवं यश का संकीर्तन, (३) प्रणमन, (४) चरणों का सेवन, (५) भक्ति के साथ उनका निरन्तर पूजन तथा (६) उनके आगे पूर्णरूपेण आत्मनिवेदन। भागवत-पुराण में इन ६ के अतिरिक्त श्रवण, दास्य तथा सख्य ये तीन और जोड़ दिए गए हैं। इनमें दास्य तथा सख्य पूर्ण आत्मनिवेदन से प्राक्करणीय है। इस पुस्तक में राधा का वर्णन ऐसी सर्वोत्कृष्ट नारी के रूप में है जिससे कृष्ण प्रेम करते थे तथा ईश्वर के दो भागों में विभक्त हो जाने से उनकी उत्पत्ति वतलाई गई है जिसका एक भाग राधा थी (२.३.२४वां)। इस प्रकार राधा का समुत्कर्ष भी इस संहिता का एक प्रमुख उद्देश्य है।

इस प्रकार, जिस संहिता पर हम विचार कर रहे थे वह पूर्णतया गोकुल के कृष्ण तथा उनकी प्रेयसी राधा—जोकि इसमें कृष्ण की नित्या

---

१. भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग का वार्षिक प्रतिवेदन १९०५-६ पृ० १३५

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

शक्ति की महिमा को प्राप्त हो चुकी हैं—की पूजा के प्रसार के लिए अभिप्रेत है। पाञ्चरात्र सम्प्रदाय के व्यूहों का इसमें उल्लेख नहीं है। कालान्तर में वल्लभाचार्य ने जिस मत का प्रचार किया वह ठीक वही था जैसा कि पुस्तक में प्रतिपादित है। अतएव यह संहिता वल्लभ से कुछ ही समय पूर्व अर्थात् सोलहवीं सदी के आरम्भ के आसपास लिखी गई होगी। रामानुजीय इस संहिता को अप्रामाणिक मानते हैं।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

८. विष्णु या नारायण के अवतार

किसी भी देवता का अवतार दो देवताओं के मात्र तादात्म्य से इस अर्थ में भिन्न होता है कि अवतार में वह देवता, जिसे अवतार माना जाता है, मनुष्य किंवा पशु की तरह भी चेष्टाएं करता है पर साथ ही साथ वह दैवी शक्तियों से भी सम्पन्न होता है। किन्तु तादात्म्य की कल्पना का अवतार की कल्पना में संक्रमण आसान है। हाड़ मांस वाले आदमी का तादात्म्य ऐसे देवता से किया जाता है जो कि मात्र आत्मा है। अत एव चिन्तन-प्रवृत्ति द्वारा वैदिक काल में कतिपय वैदिक देवों का तादात्म्य अग्नि से किया गया। वही अवतारों की इस धारणा के मामले में भी कार्यरत थी। भिन्न २ लेखकों ने नारायण या विष्णु के अवतार भिन्न २ प्रकार से बतलाए हैं। ऊपर अनूदित नारायणीय के प्रकरण में वराह, नृसिंह, वामन, भृगुवंशी राम, दाशरथि तथा कंस के वध के लिए गृहीत वासुदेव-कृष्ण, इन ६ अवतारों का उल्लेख है।

इस प्रकरण के आगे संक्षिप्त अन्तराल के उपरान्त एक दूसरा प्रकरण है जिसमें विष्णु के दस अवतार बतलाए गए हैं। उपर्युक्त सूची के प्रारम्भ में हंस, कूर्म और मत्स्य तथा अन्त में कल्कि को जोड़ दिया गया है। कल्कि से पूर्ववर्ती अवतार को यहाँ पर सात्वत अर्थात् वासुदेव-कृष्ण कहा गया है। प्रथम प्रकरण के इतने अधिक समीप में स्थित यह द्वितीय प्रकरण उस समय में जोड़ा गया प्रतीत होता है जब कि अवतारों की संख्या १० निर्धारित हो चुकी थी। हरिवंश में इन दोनों प्रकरणों में से प्रथम में बतलाए हुए ६ अवतारों का उल्लेख किया गया है। वायु-पुराण में अवतारों का वर्णन दो स्थलों में हैं (वायु० पु० अध्याय ९७ श्लोक ७२ और आगे तथा अध्याय ८८ श्लोक ६३)। पहले में बारह अवतार बतलाए हैं, जिनमें कुछ तो शिव और इन्द्र के अवतार मालूम पड़ते हैं। दूसरे में यह संख्या १० है जो इस समय के आसपास तक प्रचलित हो चुकी होगी। ऊपर उल्लिखित ६ अवतारों में दत्तात्रेय, वेदव्यास तथा कल्कि तथा एक अनाम एवं पञ्चम कहे गए अवतारों को जोड़कर ये अवतार १० हो जाते हैं। वराह-पुराण में हमें १०

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

अवतारों का उल्लेख मिलता है जिनमें ऊपर उल्लिखित ६ अवतारों के अलावा मत्स्य, कूर्म, बुद्ध और कल्कि आते हैं जिन्हें आगे चल कर स्वीकार कर लिया गया।[1] भागवत-पुराण के तीन विभिन्न स्थलों में अवतारों की गणना की गई है। प्रथम स्कन्ध के तृतीय अध्याय में विद्यमान प्रथम विवरण में बाईस अवतारों का उल्लेख है। दूसरे स्कन्ध के सातवें अध्याय के एक स्थल में हमें २३ अवतारों का उल्लेख मिलता है तथा ११वें स्कन्ध के चौथे अध्याय में सोलह अवतार बतलाए हैं। यह ध्यान देने योग्य बात है कि इस पुराण में उल्लिखित अवतारों में सनत्कुमार, सात्वत-मत के प्रचारक देवर्षि नारद, आसुरि को सांख्य मत का उपदेश देने वाले कपिल, अलर्क और प्रह्लाद जो आन्वीक्षकी का उपदेश देने वाले तथा यदु एवं हैहय को योग द्वारा सिद्धि प्राप्त कराने वाले दत्तात्रेय, समस्त विषयों का सङ्ग त्याग कर चित्तनैर्मल्य प्राप्त करने वाले, समस्त भूतों को समदृष्टि से देखते हुए, योगशक्ति-सम्पन्न होकर निर्जीव प्राणी की भांति आचरण करने वाले ऋषभ तथा अन्त में आयुर्वेद के आचार्य धन्वन्तरि, ये सभी आते हैं। यहाँ पर दिए गए कुल एवं अन्य लक्षणों से ऋषभ स्पष्ट रूप से जैनों के पहले तीर्थङ्कर ही प्रतीत होते हैं। सम्भवतः बौद्धों के बुद्ध की ही भांति उन्हें भी अवतार की महत्ता तक पहुँचा दिया गया। दत्तात्रेय—जिनकी पूजा अभी भी बड़ी संख्या में लोग करते हैं तथा राम—जिनके विषय में और अधिक आगे चलकर कहा जाएगा—को जोड़ कर अन्य किसी भी अवतार की बहुत अधिक व्यापक उपासना-पद्धति नहीं है। यद्यपि कृष्ण अवतारों में अन्तर्भूत हैं किन्तु वास्तव में तो उनका अपना स्वतन्त्र स्थान है और उनकी पूजा का व्यापक होना उनके अवतार होने के कारण न होकर इसलिए है कि वे एक नवीन धर्म या धार्मिक सुधार —जैसा कि इसे कहने का मैंने साहस किया है और जो सर्वप्रथम सात्वतों में उदित हुआ—के अनुयायियों के आराध्य बन गए।

---

१. अग्नि-पुराण में ये ही १० अवतार उल्लिखित हैं।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

६. भागवत-सम्प्रदाय के उत्तरकालीन चिह्न एवं सामान्य वैष्णव-धर्म

अब हम मेगस्थनीज से लेकर ई० पू० प्रथम शतक के माने जाने वाले नानाघाट के अभिलेख तक फैले हुए कालक्रम-सम्बन्धी सूत्र को पुनः पकड़ेंगे। इस काल से लगभग चार सौ शतक बाद तक किसी भी ब्राह्मण-धर्मीय मतों के कोई भी आभिलेखिक या शैल्पिक प्रमाण प्राप्त नहीं होता। ये प्रमाण उस काल के आसपास पुनः प्राप्त होने लगते हैं जबकि चतुर्थ शतक के प्रथम-भाग में गुप्तों की शक्ति का उदय हो रहा था। चन्द्रगुप्त द्वितीय, कुमारगुप्त एवं स्कन्दगुप्त, इन गुप्तसम्राटों की मुद्राओं में इन्हें परम भागवत की उपाधि दी गई है। इस प्रकार वे भगवान् या वासुदेव के आराधक थे। उनकी तिथियां ४०० ई० से लेकर ४६४ ई० तक पड़ती हैं।

उदय-गिरि के एक पार्श्व पर एक चतुर्भुजी देव की प्रतिमा है जो सम्भवतः विष्णु हैं। नीचे के अभिलेख में ८२ गुप्त संवत् अर्थात् ४०० ई० की तिथि दी हुई है।[1]

उत्तर प्रदेश के गाजीपुर जिले में भितरी में एक स्तम्भ है जिस पर एक अभिलेख है। इसमें स्कन्दगुप्त (४५४-६४ ई०) द्वारा शार्ङ्गिन् की प्रतिमा की प्रतिष्ठा कराने तथा इसकी पूजा के निमित्त एक ग्रामदान करने का उल्लेख है। शार्ङ्गिन् वासुदेव कृष्ण होने चाहिएँ, क्योंकि स्कन्द-गुप्त स्वयं भागवत था।[2]

स्कन्दगुप्त द्वारा सौराष्ट्र या काठियावाड़ के राष्ट्रिय पद पर नियुक्त पर्णदत्त के पुत्र चक्रपालित ने ४५६ ई० में विष्णु का एक मन्दिर बनवाया था। जिस अभिलेख में इस बात का उल्लेख किया गया है उसका आरम्भ वामन अवतार धारण करने वाले विष्णु की बन्दना के साथ हुआ है।[3]

---

१. कार्पस् इन्स्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम् भाग ३ पृ० ५१

२. वही पृ० ५२

३. कॉर्पस इन्स्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम् भाग ३ पृ० ५६

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

बुद्धगुप्त के शासन-काल के, १६५ गुप्ताब्द तदनुसार ४८३ ई० तिथि से अङ्कित मध्य प्रदेश के सागर जिले में एरन के एक अभिलेख में मातृ-विष्णु तथा उसके अनुज धन्य विष्णु को भगवान् जनार्दन का एक ध्वजस्तम्भ बनवाने वाला बतलाया गया है। मातृ-विष्णु को भगवान् का परम भक्त (अत्यन्त-भगवद्-भक्त) कहा गया है। अत एव भगवान् जनार्दन वासुदेव-कृष्ण ही होने चाहिएँ।[1]

बघेल खण्ड में खोह गांव के पास मिले ४६५ ई० के एक ताम्र-पत्र अभिलेख में जयनाथ नामक एक राजा द्वारा भगवान् के मन्दिर के जीर्णोद्धार तथा पूजा के लिए भगवान् को एक ग्रामदान करने का उल्लेख है।[2]

दिल्ली में कुतुब मीनार के समीप एक लौह-स्तम्भ पर उत्कीर्ण एक अभिलेख में उस स्तम्भ का वर्णन विष्णु के ध्वज रूप में किया गया है। यह स्तम्भ समस्त भूमण्डल के सम्राट् तथा विष्णु के महान् भक्त चन्द्र नामक एक नृपति ने बनवाया था। इस अभिलेख में कोई तिथि नहीं है किन्तु यहाँ पर उल्लिखित चन्द्र यदि चन्द्रगुप्त द्वितीय है तो इसे चतुर्थ शतक के उत्तरार्ध तथा पञ्चम शतक के प्रारम्भ का माना जाना चाहिए।[3] कालिदास ने अपने मेघदूत (१५वें श्लोक) में इन्द्र चाप से विभूषित मेघ की तुलना स्फुरित रुचि वाले मयूरपंख से अलङ्कृत गोपवेशधारी विष्णु से की है। यहाँ पर गोपाल-कृष्ण का विष्णु के साथ तादात्म्य किया गया है तथा यदि विक्रमादित्य—जो कालिदास के आश्रयदाता थे—गुप्तवंश के चन्द्रगुप्त द्वितीय थे, तो इसे पञ्चम शतक के प्रारम्भिक भाग का उल्लेख माना जाना चाहिए।

जोधपुर के समीप मन्दोर में उत्खनित एक स्तम्भ के शब्दों का निर्देश पहले ही किया जा चुका है। इन शिल्पाङ्कनों में बालकृष्ण द्वारा एक छकड़े के उलटाए जाने, अपने करतल पर कृष्ण द्वारा गोवर्धन पर्वत के उठा कर रखे जाने तथा ऐसी ही अन्य घटनाओं का अङ्कन है। मैं उन्हें पञ्चम शतक में रखता हूँ।

शकाब्द ५०० में दक्षिण के आरम्भिक चालुक्यवंश के मङ्गलीश नामक एक नृपति ने एक गुफा खुदवाई थी जिसमें उन्होंने विष्णु के एक मन्दिर का निर्माण कराया था तथा एक विष्णु-प्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी। नारायण-बलि के संपादन का प्राविधान इसी काम के लिए एक गांव का राजस्व

---

१. वही, पृ० ८८
२. वही, पृ० १२१
३. वही, पृ० १३९

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

देकर किया गया था।[1] इस गुफा मन्दिर में चरणसंमर्दन करती हुई लक्ष्मी वराह एवं नरसिंह तथा हरिहर (जिसमें हरि अर्थात् विष्णु तथा हर अर्थात् शिव के विशिष्ट लाञ्छनों को एक साथ मिला दिया गया है) की अनेकों प्रतिमाएं हैं।[2] कतिपय देवों की प्रतिमाओं को प्रतिष्ठापित तथा अभिषिक्त करने के अधिकारी पुरोहितों का उल्लेख करते हुए वराह-मिहिर ने कहा है कि विष्णु के सम्बन्ध में यह भागवतों द्वारा किया जाना चाहिए।[3] इस प्रकार वराह-मिहिर के समय में भागवत विष्णु के विशिष्ट आराधक माने जाते थे। वराह-मिहिर की मृत्यु शकाब्द ५०९ तदनुसार ५८७ ई० में हुई थी।[4]

सुप्रसिद्ध कोशकार अमरसिंह बौद्ध थे। सामान्य रूप से देव वाचक शब्दों को रखने के उपरान्त जब वे विशिष्ट देवों के नामों पर आते हैं तो सबसे पहले बुद्ध के नामों से इसका प्रारम्भ करते हैं और इसके उपरान्त विष्णु, नारायण आदि नामों को देते हैं जो संख्या में ३९ हैं। इनको समाप्त करने पर वे कहते हैं कि वसुदेव इनके पिता थे। इसका अर्थ यह हुआ कि वसुदेव से पहले जो नाम दिये गये हैं वे वासुदेव के नाम हैं। यदि हम इनकी परीक्षा करें तो हम पाएंगे कि अमर के समय से पहले वासुदेव का विष्णु एवं नारायण के साथ तादात्म्य माना जा चुका था। इनमें दामोदर नाम के अतिरिक्त ऐसा और कोई भी नाम नहीं है जो वासुदेव का सम्बन्ध गोकुल के साथ जोड़ता हो तथा गोकुल के साथ इन्हें जोड़ने वाले दामोदर नाम की व्युत्पत्ति भी संदिग्ध है। जहां कंसाराति (कंस का शत्रु) नाम इसमें आता है वहीं पूतनारि (पूतना का शत्रु) या अपने बाल्य काल में मारे गये अनेकों अन्य दैत्यों के नामों से व्युत्पन्न अन्य कोई भी नाम इसमें नहीं आया है।

अमर कोश में किसी अवतार के नाम भी नहीं है सिवा एक संदिग्ध नाम बलिध्वंसिन् के जिसकी व्याख्या एक टीकाकार ने "बलि अथवा आहुति द्वारा अज्ञान का नाश करने वाला" इस रूप में की है। यहां पर वस्तुतः कई ऐसे नाम भी हैं जो कि अन्य दैत्यों के नामों से व्युत्पन्न हैं, जैसे कि मधुरिपु तथा कैटभजित्। किन्तु ये वे शत्रु नहीं हैं जिनका विनाश विष्णु ने अपने अवतारों में किया हो। वासुदेव-कृष्ण के पिता का नाम देने के उपरान्त अमर संकर्षण

---

१. इण्डि० एन्टि० भाग ३, पृ० ३०५; भाग पृ० ३३३
२. फर्गुसन व बर्गेस:— केव टेम्पुल्स पृ० ४०७
३. बृ० सं ६० १९
४. भाउदाजी लिट० रिमेन्स पृ० २४०

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

या बलदेव के नाम देते हैं और इसके बाद प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध के। इसके बाद वे नारायण या विष्णु की भार्या लक्ष्मी के नामों का उल्लेख करते हैं और तब उस देवता के आयुधों एवं अलङ्करणों के नाम आते हैं और विष्णु के वाहन गरुड़ के नाम के साथ इस प्रकरण की समाप्ति करते हैं। इन नामों को समाप्त कर वे हिन्दुओं के दूसरे महान् देव शम्भु या शिव के नामों पर आते हैं। यहाँ पर यह बात स्पष्ट रूप से प्रतीत होती है कि भागवतों द्वारा स्वीकृत वासुदेव के चार स्वरूप या चार व्यूह अमरसिंह की दृष्टि में थे। अतएव उनके समय में वैष्णव मत का जनसामान्य में प्रचलित स्वरूप वही था, जो भागवतों द्वारा स्वीकृत था। अमर की निश्चित तिथि संदिग्ध है किन्तु यदि वे बौद्ध थे तो वे महायान सम्प्रदाय के अनुयायी रहे होंगे जिनकी धार्मिक भाषा संस्कृत थी। यह पन्थ चतुर्थ, पञ्चम और छठे शतकों में पूरे जोर पर था[1]। अतएव अमरसिंह इसी काल में हुए होंगे अथवा यदि हम उस पारम्परिक श्लोक पर विश्वास करें जिसमें इन्हें कालिदास के समसामयिक होने की पुष्टि की गई है तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय को यदि विद्या का प्रसिद्ध आश्रयदाता राजा विक्रमादित्य मानें तो वे पांचवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में हुए होंगे। वासुदेव-कृष्ण एवं गोपाल कृष्ण के तादात्म्य का उल्लेख बहुत कम किया गया है, जब कि विष्णु और नारायण के साथ वासुदेव कृष्ण के तादात्म्य को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है।

सातवीं सदी के मध्यकाल के आसपास अपने हर्ष-चरित में बाण-भट्ट ने दिवाकर मित्र नामक एक ऐसे साधु का वर्णन किया है जो मूलतः ब्राह्मण थे किन्तु बाद में बौद्ध बन गए थे तथा विन्ध्य पर्वत पर, जहाँ उनका निवास था, अनेक सम्प्रदायों के अपने अनुयायियों से घिरे रहते थे। इनमें से दो भागवत और पाञ्चरात्र थे।

एलोरा के दशावतार-मन्दिर में चरण-संमर्दन करती हुई लक्ष्मी तथा नाभि से निकलते हुए कमल पर आसीन ब्रह्मा के सहित शेष के शरीर पर आसीन विष्णु की एक प्रतिमा है। यहां पर नरसिंह, वामन, वराह तथा गोवर्धनधारी कृष्ण की प्रतिमाएं भी हैं। इस मन्दिर का निर्माण राष्ट्रकूट कुल के दन्तिदुर्ग राजा के काल में आठवीं सदी के मध्य-काल के आसपास हुआ था। अष्टम शतक के उत्तरार्ध में दन्ति-दुर्ग के पितृव्य कृष्ण प्रथम के काल के कैलास मन्दिर में भी अवतारों की ऐसी ही प्रतिमाएं हैं। इनमें कृष्ण द्वारा कालिय मर्दन का दृश्य भी है। इलाहाबाद से लगभग ३२ मील दक्षिण

१. 'पीप इनटू दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ् इण्डिआ' जे० आर० ए० एस० भाग २० पृ० ३९५

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

पश्चिम की ओर पमोस की एक गुफा में एक अभिलेख है, जिसके ऊपर सम्भवतया एक मानव आकृति थी तथा जो इस प्रकार है, 'श्रीकृष्ण एवं गोपियों की प्रतिमाओं का निर्माता'। इसका समय अनिश्चित है परन्तु बूहलर ने इसे सातवीं या आठवीं सदी में रखा है।[1]

रायपुर (म० प्र०) जिले के सिरपुर में एक देवायतन द्वार के अग्रभाग के ऊपर शेष नाग पर लेटी हुई विष्णु या नारायण की एक मूर्ति है। इसकी नाभि से एक कमल निकल रहा है जिस पर ब्रह्मा आसीन हैं। आयतन द्वार के दो वाह्य-पार्श्वों के नीचे विष्णु के कतिपय अवतार हैं जिनमें से एक राम का तथा दूसरा बुद्ध का है। बुद्ध की प्रतिमा सामान्यतया प्रचलित ध्यानावस्था में है। यह मन्दिर सम्भवतः आठवीं सदी का है।[2]

जोधपुर से ३२ मील उत्तर की ओर ओसिआ में एक स्थानीय जागीरदार के मकान से सटा हुआ एक प्राचीन मन्दिर है। गर्भग्रह से सभामण्डप की ओर निकले हुए दो कुड्यस्तम्भों पर दो देव-प्रतिमाएं हैं। दोनों ही गरुड़ पर आसीन हैं। दोनों ही चार हाथों वाली हैं किन्तु इनमें से एक के करों में तो शंख, चक्र, गदा और पद्म हैं जब कि दूसरी के दो करों में हल और मूसल हैं तथा इसके अन्य दो कर खाली हैं। दूसरी का मस्तक पांच फली वाले सर्प से आच्छादित है। ये स्पष्ट रूप से वासुदेव और संकर्षण हैं। यह मन्दिर नवीं सदी के बाद का नहीं हो सकता।[3]

धर्म-परीक्षा नामक एक पुस्तक में, लेखक अमितगति, जो कि दिगम्बर जैन थे, कहते हैं कि जैनों में प्रचलित आख्यान के अनुसार बारह सम्राट् चौवीस अर्हत्, नौ राम, नौ केशव और उन नौ के नौ शत्रु ये ६३ प्रसिद्ध पुरुष थे। अन्तिम केशव वसुदेव के पुत्र थे तथा उसके ब्राह्मण भक्त उसे शुद्ध तथा परमात्मा कहते हैं। वे कहते हैं:—जो मनुष्य, सर्वव्यापी अंशों से रहित अंशी, अविनाशी, नित्य, मनुष्यों को वृद्धावस्था एवं मृत्यु से मुक्त करने वाले भगवान् विष्णु का ध्यान करता है वह दुःखों से विनिर्मुक्त हो जाता है। परम्परा में वे दस स्वरूपों या अवतारों वाले कहलाते हैं। ये दस स्वरूप वही हैं जो कि वराह या अग्नि पुराणों में उल्लिखित हैं (ऊपर देखिए)

---

१. एपि० इण्डि० भाग२, पृ० ५८२

२. भारतीय पुरातत्त्व सर्वे० विभाग, पश्चिमी अञ्चल का वार्षिक प्रगति प्रतिवेदन १९०३-४ पृ० २१

३. भार० पुरातत्त्व सर्वे० का अगला वार्षिक प्रतिवेदन

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

तथा जिन्हें सम्प्रति सामान्यतया स्वीकार कर लिया गया है। इस प्रकार बुद्ध को विष्णु के अवतार के रूप में धर्मपरीक्षा की तिथि अर्थात् १०७० विक्रमाब्द तदनुसार १०१४ ई० से पूर्व ही माना जाने लगा था। यदि सिरपुर मन्दिर के लिए निर्धारित तिथि सही है तो आठवीं सदी से पूर्व ही बुद्ध को ब्राह्मण देवता-मण्डल में सम्मिलित कर लिया गया होगा। अमितगति ने भी शक्तिशाली विष्णु के नन्द के गोकुल में गोपालक बनने तथा सर्वज्ञ, सर्वव्यापी तथा संसार के त्राता राम के रूप में मर्त्य प्रेमी के समान सीता की विरहाग्नि में जलने की बात कही है।

इस प्रकार चौथी से लेकर ग्यारहवीं सदी तक मुख्यतया भागवतों द्वारा प्रचारित विधि के अनुसार विष्णु की उपासना के अस्तित्व के साक्ष्य प्राप्त होते हैं। अवतारों का सिद्धान्त भी सामान्य विश्वास बन गया तथा बौद्धमत के संस्थापक एवं जैनों के प्रथम तीर्थङ्कर भी नारद पुराण में विष्णु के अवतार माने जाने लगे।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

१०. रामोपासना

अभी जो पुरातात्त्विक अवशेष हमारे विचाराधीन थे, उनमें केवल विष्णु के अवतारों की ही प्रतिमाएं आती हैं तथा इन्हें किसी भी अवतार की पूजा के प्रचलन का पुष्टि करने वाला नहीं माना जा सकता। किन्तु आज राम की उपासना का प्रसार काफी विस्तृत क्षेत्र में है। अब तक उल्लिखित समस्त मन्दिरों एवं धार्मिक भवनों में एक भी रामोपासनार्थ विनिर्मित भवन नहीं है और न ही जनार्दन या वासुदेव-कृष्ण के नाम पर बने ध्वज स्तम्भों की भांति राम के ध्वज स्तम्भ ही मिलते हैं। किन्तु बहुत प्राचीन समय से ही राम को विष्णु का अवतार माना जाता रहा है। रामायण में ही इस तथ्य के सङ्केतक स्थल हैं किन्तु अनेक कारणों से यह मानना पड़ता है कि ये स्थल अप्रामाणिक एवं प्रक्षिप्त हैं। हमारे द्वारा अनेक बार उद्धृत नारायणीय के एक स्थल में राम का नाम मौजूद है तथा ऊपर उल्लिखित पुराणों में इतने सक्षम प्रमाण नहीं हैं कि इनके आधार पर हम उस काल का निश्चय कर सकें जब कि राम अवतार रूप में पूजे जाने लगे। किन्तु रघुवंश के १०वें सर्ग में राम जन्म की कथा से पूर्व क्षीर सागर में चरण संमर्दन करती हुई लक्ष्मी के सहित शेषनाग पर लेटे हुए विष्णु या नारायण की प्रचलित स्तुति तथा रावण के वध के लिए दशरथ के पुत्र के रूप में जन्म ग्रहण करने का उनका वचन प्राप्त होता है। जैसा कि हम देख ही चुके हैं १०१४ ई० में अमितगति ने भी यह कहा है कि राम को सर्वत्र सर्वव्यापी एवं समस्त जगत् का रक्षक माना जाता था। अपनी श्रेणी की प्राचीनतम कृति वायुपुराण ईसा की पाँचवीं सदी के लगभग लिखा गया होगा। अतः इस बात की पूर्ण संभावना है कि राम के विष्णु का अवतार होने का विश्वास प्रारम्भिक ईसवीय शतकों में विद्यमान था। किन्तु पतञ्जलि के महाभाष्य जैसे ग्रन्थों में राम नाम का कोई भी उल्लेख नहीं है ना ही किसी प्राचीन अभिलेख में ही यह प्राप्त हुआ है। अमर कोश में भी ब्राह्मण धर्म के देव-वर्ग में उन्हें कोई स्थान प्राप्त नहीं है। उपर्युल्लिखित बातों के साथ साथ

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

इन परिस्थितियों से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि राम को अवतार माना जाता था किन्तु उनका कोई स्वतन्त्र उपासना-पन्थ विद्यमान नहीं था। तब भी, जैसा कि वाल्मीकि ने वर्णन किया है, राम एक उन्नत आत्मा वाले वीर थे। कवियों ने, जिनमें प्राचीन ऋषियों के नाम पर पुराणों की संरचना करने वाले कवि भी आते हैं, और विशेषत: भवभूति ने, उनके चरित्र में और भी उत्कर्षता का आधान किया। अत एव राम ने भारत के लोगों के हृदय को वश में कर लिया और इस कारण शीघ्र ही उनका स्वतन्त्र उपासना पन्थ चल पड़ा होगा। किन्तु यह पन्थ कब प्रवर्तित हुआ, यह कहना कठिन है। मध्व या आनन्दतीर्थ, जो कि हमारे द्वारा इसके बाद वर्ण्यमान एक सम्प्रदाय के संस्थापक थे, के बारे में यह बतलाया जाता है कि वे बदरिकाश्रम से दिग्विजयी राम की एक प्रतिमा लाए थे और १२६४ ई० के आसपास नरहरितीर्थ को राम और सीता की मूल प्रतिमाएँ लाने के लिए जगन्नाथ भेजा था। इस प्रकार ग्यारहवीं सदी के लगभग ही रामोपासना अस्तित्व में आई होगी। विभिन्न मन्त्रों और मण्डलों के द्वारा उनकी विभिन्न पूजा पद्धतियों से युक्त ऐसे अनेक ग्रन्थ विद्यमान हैं, जैसे कि वासुदेव पूजा के लिए सात्वत संहिता में हैं। तेरहवीं सदी के हेमाद्रि ने अपने व्रत खण्ड[1] में चैत्रशुक्ल नवमी के दिन राम जन्म के दिन राम जन्म के समारोह का उल्लेख किया है। हेमाद्रि तथा वृद्ध-हारीत[2] ने कतिपय विशिष्ट अवसरों पर अन्य अवतारों के साथ साथ अवतार रूप में इनके पूजन की विधियाँ भी लिखी हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि वासुदेव-कृष्ण के साथ समानता पर आधारित पूजा की अपेक्षा अवतार के रूप में उनकी पूजा अधिक लम्बे समय तक प्रचलित रही होगी। इन दोनों ही लेखकों ने ऐसी चौबीस मूर्तियों या स्वरूपों का वर्णन किया है जिनमें प्रधान देव वासुदेव या विष्णु के चार करों में विन्यस्त शंख, चक्र गदा और पद्म—इन चार वस्तुओं के विन्यसन क्रम के परिवर्तन द्वारा परस्पर में विभेद किया गया है। इन चौबीसों स्वरूपों के नामों का, जिनमें चार व्यूहों के नाम भी सम्मिलित हैं, जप आजकल किए जाने वाले प्रत्येक संस्कार के प्रारम्भ में किया जाता है अर्थात् इन प्रत्येक नाम के चतुर्थी विभक्त्यन्त रूपों के बाद नम: का प्रयोग करके इस देवता के चौबीसों स्वरूपों को नमन किया जाता है, और ऐसे वाक्यों का अर्थ 'केशव को नमस्कार है, नारायण को नमस्कार है' आदि होता है। किन्तु इन चौबीस स्वरूपों में राम का नाम सम्मिलित नहीं किया गया है जब कि नरसिंह एवं वामन इन दो अन्य अवतारों का इसमें उल्लेख किया गया है। प्रत्येक श्राद्धकर्म का परिसमापन "मेरे पूर्वज या पिता, पितामह,

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

प्रपितामह-स्वरूप जनार्दन मेरे इस कर्म द्वारा तृप्त हों" इस वाक्य द्वारा होता है। इस सबसे यह सिद्ध होता है कि वासुदेववाद हमारे हर एक सामान्य संस्कार में जिसमें वैदिक मन्त्रों का उच्चारण भी होता है, अन्त: प्रविष्ट हो गया था। किन्तु रामोपासना के सम्बन्ध में यह बात एकदम लागू नहीं होती। अत: इसका विकास अर्वाचीन है। अध्यात्म-रामायण नाम की एक ऐसी कृति है, जिसे महाराष्ट्र के १६वीं सदी के एक सन्त एकनाथ ने आधुनिक रचना कहा है। प्राचीन रचनाओं से विभिन्न अवतरणों को लेकर यह विरचित है। अत एव इसके प्राचीन ऋषियों द्वारा विरचित होने की कोई गुन्जाइश ही नहीं रह जाती प्रारम्भ से लेकर अन्त तक इस कृति का उद्देश्य राम के देवत्व की प्रतिष्ठा करना है। इसके प्रथम काण्ड का नाम हृदय है जिसका उपदेश सीता ने हनुमान् को दिया है। वे कहती हैं कि मूल प्रकृति के नाते प्रत्येक कार्य वे ही करती हैं तथा रामायण में उल्लिखित समस्त कार्य उन्होंने ही किए हैं। एकमात्र सत् आत्मा के रूप में राम निष्क्रिय, नित्य आनन्दमय हैं एवं उनके कार्यों के द्रष्टा मात्र हैं। सीता के कथन के समाप्त होने पर राम ज्ञानवान् आत्मा के (१) मूल, (२) बुद्धिमय एवं (३) दृश्य इस त्रिविध प्रकृति का उपदेश देते हैं। इनमें से दो अन्तिम अवास्तविक हैं। अन्तिम काण्ड के पञ्चम सर्ग का नाम "रामगीता" है। यह वासुदेवकृष्ण की भगवद्गीता के मुकाबले में बनायी गयी प्रतीत होती है। इसका उपदेश राम ने लक्ष्मण को दिया है जो अर्जुन के स्थान पर हैं। प्रथम भाग के ही समान रामगीता का दर्शन भी अद्वैतपरक है। जीव एवं जगत् भ्रम है तथा केवल एक ही आत्मा सत्य है। मद्रास से प्रकाशित रामगीता नामक एक दूसरी पुस्तक भी है जिसे सत्त्व परायण नामक एक अधिक विशाल पुस्तक का अंग बतलाया गया है तथा मूल भगवद्गीता के समान अठारह अध्यायों से युक्त है। इसका उपदेश हनुमान को श्री राम ने किया है। प्रारम्भ में यह एक सौ आठ उपनिषदों पर आधारित बतलाता है, जिनमें से कुछ तो स्पष्ट रूप से अत्यन्त अर्वाचीन हैं। अतएव यह कृति एक अत्यन्त अर्वाचीन संकलन है। इस प्रकार धर्मोपदेशक के रूप में राम की प्रतिष्ठा करने वाले ग्रन्थ नये ही हैं।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

११. दक्षिण में वासुदेव-पूजा या वैष्णव मत

हम देख चुके हैं कि संकर्षण या वासुदेव प्रथम शतक ई० पू० के आस पास ही मराठा प्रदेश में देवता के रूप में पूजे जाने लगे थे। इस उपासना का प्रसार और अधिक दक्षिण की ओर तमिलनाडु तक हुआ होगा। किन्तु वहाँ पर यह कब प्रवर्तित हुई, यह सिद्ध करने के लिए कोई स्पष्ट साक्ष्य नहीं मिलते। भागवत पुराण (स्कन्ध ११) अध्याय ५ ३८-४० श्लोक में प्रायः प्रयुक्त भविष्य वाणी की शैली में कहा गया है कि कलियुग में नारायण में भक्ति रखने वाले लोग इतस्ततः प्राप्त होंगे किन्तु द्रविड़ देश में ये बहुत बड़ी संख्या में होंगे। इस देश में ताम्रपर्णी, कावेरी एवं अन्य नदियाँ वहती हैं तथा इन सरिताओं के जल पान करने वाले अधिकतम लोग वासुदेव के पवित्र-हृदय भक्त होंगे। भागवत-पुराण में घिसी पिटी पद्धति में कही गई इन बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि जिस समय इस पुराण का संकलन किया गया, उस समय तक तमिल देश के वासुदेव भक्तों का यश भारत के अन्य भागों में भी फैल चुका होगा। इस पुराण को तेरहवीं सदी में प्रतिष्ठित माना जाता था क्योंकि आनन्दतीर्थ (१११८-१२७८) ने इसे महाभारत की ही समान कोटि में रखा तथा महाभारत के ही समान इसके गूढ़ाशयों के निर्धारणार्थ एक प्रवन्ध लिखा था। लगभग इसी समय में अमात्य हेमाद्रि की प्रार्थना पर बोपदेव ने इसका एक संक्षिप्त संस्मरण तैयार किया था। अतएव आनन्दतीर्थ से कम से कम दो शतक पूर्व ही भागवत की रचना हो चुकी होगी। अन्यथा उनके समय में एक पवित्र ग्रन्थ के रूप इसकी ख्याति कैसे हुई होती। किन्तु यह बहुत अधिक प्राचीन भी नहीं हो सकती क्योंकि इसकी शैली प्रायः नवीन मालूम पड़ती है एवं प्राचीन पुराणों के अनुकरण में इसमें अनेकों त्रुटियाँ हो गई हैं, जिनमें से एक का निर्देश मैंने अन्यत्र किया है। अत एव भागवत में उल्लिखित ये द्रविड़ भक्त प्रायः ग्यारहवीं सदी से पूर्व ही हुए होंगे। आलवर नाम से ज्ञात इन भक्तों की संख्या सामान्यतया १२ बतलाई गई है और कृष्ण

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

स्वामी अयंगार ने प्राप्त वंशावली के अनुसार इन्हें ३ वर्गों में विभक्त किया है तथा इनके पूर्वापरक्रम के निर्धारण में भी उन्होंने इसी वंशावली का अनुसरण किया है। हालांकि इस वंशावली में इन सन्तों की प्राचीनता बहुत बढ़ा चढ़ा कर बतलाई गई है। इन सन्तों के तमिल एवं संस्कृत नाम इस प्रकार है :—

वर्ग	तमिल नाम	संस्कृत नाम
प्राचीन	पोयगै आलवर	सरोयोयिन्
	भूतचार	भूतयोनिने
	पैय आलवार	महायोगिन् या भ्रांतयोगिन्
	तिरुमलिनै आलवार	भक्तिसार
उत्तरकालीन	नम्म आळवार	शठ कोप, मधुरकवि, कुलशेखर
	पेरिय आळवार	विष्णु-चित्र
	अण्डाळ	गोदा
अन्तिम	तोण्डरडिप्पोडि	भक्ताङ्घ्रिरेणु
	तिरुप्पाण आळवार	योगिवाहन
	तिरुमङ्गै आळवार	परकाल

इनमें से प्रथम सन्त की तिथि साधारण तौर पर ४२०३ ई० पू० तथा अन्तिम सन्त की २७०६ ई० पू० बतलाई गई तथा अन्य सन्तों की तिथियां इन्हीं दोनों के मध्य में पड़ती हैं। न केवल ये तिथियां ही मनगढ़न्त हैं अपितु ऊपर दिया हुआ पूर्वापरक्रम भी अविश्वसनीय है। कृष्ण स्वामी ने सब से अन्तिम सन्त की तिथि आठवीं सदी के पूर्वार्ध में तथा समस्त पूर्ववर्ती सन्तों की तिथियां इससे पूर्व निर्धारित की हैं। किन्तु कुलशेखर बहुत बाद में हुए यह बात स्पष्ट साक्ष्यों से सिद्ध की जा सकती है। वे त्रावणकोर के नृपति थे तथा उनके द्वारा विरचित मुकुन्दमाला नामक एक कृति में भागवत-पुराण (१०-२-३६) से लिया गया एक श्लोक भी प्राप्त होता है। पुनश्च धारवाड़ जिले में नरेगल के मन्दिर के एक फलक पर अभिलिखित एवं फ्लीट द्वारा अनूदित एक अभिलेख में यह कहा गया है कि सिन्धुकुलोद्भव पेर्माडि ने कुलशेखराङ्क को जीता, चट्ट को घेर लिया, जयकेशिन् का पीछा किया, पोयसल की राजसत्ता का अधिग्रहण कर लिया तथा पोयसल कुल की राजधानी घोर समुद्र को चारों दिशाओं से घेर लिया। एक अन्य अभिलेख में पेर्माडि को ११३८ ई० से लेकर ११५० के मध्य होने वाले जगदेकमल्ल का सेवक बतलाया गया है। जब कि पेर्मादि जगदेकमल्ल के राज्यकाल के सातवें

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

वर्ष में अर्थात् १११४ ई० में महामण्डलेश्वर या ताम्बूल एवं नारियल के कुछ विक्रेताओं के एक संघ ने कुछ दान दिया था। इस पेर्माडि द्वारा जिस कुलशेखराङ्क के जीते जाने का उल्लेख है वह पश्चिमी तट पर राज्य करने वाला ऐसा ही कोई राजा रहा होगा, जैसे कि गोआ का कदम्ब राजा जयकेशी, होयसाल नृपति तथा अन्य नृपति थे। प्रस्तुत कथन एवं भागवत से गृहीत उद्धरण को एक साथ रखने पर इस बात की बहुत अधिक संभावना प्रतीत होती है कि आळवार कुलशेखर बारहवीं सदी के प्रथमार्द्ध में हुआ होगा। इसी लिए ऊपर दिया हुआ सन्तों का पूर्वापरक्रम पूर्णतया विश्वसनीय नहीं माना जा सकता। फिर भी यह माना जा सकता है कि सब से पुराने आळवार सन्त उस काल के आसपास हुए होंगे जब कि उत्तर भारत में ब्राह्मण-धर्म और हिन्दू-जीवन पद्धति का पुनरुत्थान हो रहा था और जिसका प्रसार, जैसा कि हम अभिलेखों एवं अन्य पुरातात्त्विक अवशेषों के आधार पर सिद्ध कर चुके हैं, महाराष्ट्र तक तथा इससे भी आगे सुदूर दक्षिण तक रहा होगा। सब से प्राचीन आळवार का समय लगभग चौथी या पांचवीं सदी से पूर्व निर्धारित किया जा सकता है किन्तु तमिल देश में भी पूर्व अर्थात् पहली सदी ई० में वैष्णव धर्म का प्रवेश नहीं हुआ था, यह सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण नहीं हैं। किन्तु इस बात की पूरी पूरी संभावना है कि आळवारों के उदय जैसी घटना पुनर्जागरण की शक्ति के फलस्वरूप ही घटित हुई होगी।

बौद्धों एवं जैनों के साथ आळवारों एवं नायन्मार कहे जाने वाले शैव सन्तों के उग्र-सम्बन्ध भी हमारे द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त मत की ही पुष्टि करते हैं।

देवता की वन्दना के निमित्त आळवारों ने मुख्यतया तमिल में ही अनुकम्पा एवं भक्तिभाव से पूर्ण तथा धार्मिक सत्यों से भरपूर प्रबन्धों की रचना की। ये प्रबन्ध परमपवित्र माने जाते हैं तथा वैष्णव-वेद कहलाते हैं। आळवारों को बहुत ऊंचा सम्मान प्रदान किया गया है तथा उनकी प्रतिमाएं विष्णु-नारायण या इनके अन्य स्वरूपों की प्रतिमाओं के पार्श्व में रखकर पूजी जाती हैं। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि आळवार कुलशेखर के प्रिय देव दशरथ पुत्र राम थे।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

१२. रामानुज

दक्षिण के वैष्णव गुरुओं के दो वर्ग थे—आळवार एवं आचार्य। इनमें आळवार निर्मल अनुराग-भाव तथा विष्णु या नारायण के प्रति भक्ति भाव में तल्लीन थे तथा भजनों की रचना करते थे। किन्तु आचार्यों का उद्देश्य वाद-विवाद करना एवं अपने मतों तथा सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा करना था। आलवारों का उल्लेख संक्षेप में पहले ही किया जा चुका है। ऐसा लगता है कि आचार्यों में सर्वप्रथम नाथमुनि थे। उनके उत्तराधिकारी यामुनाचार्य या यामुनमुनि थे। रामानुज इन्हीं यामुनमुनि के उत्तराधिकारी थे, अपने उत्तराधिकारी को दी गई यामुनमुनि की एक अन्तिम आज्ञा यह भी थी कि वे बादरायण के ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखें। वैष्णव मत के आचार्यों को इस प्रकार की कृति की आवश्यकता का अनुभव इस लिए हुआ क्योंकि उन्हें शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित और ब्रह्मसूत्र एवं उपनिषदों पर आधारित अद्वैत वाद के सिद्धान्त को चला पाना असंभव प्रतीत हुआ। ब्राह्मण धर्म या हिन्दू-जीवन-पद्धति के पुनरुत्थान काल में एक बार फिर विचारों का वैसा ही उफान आया जैसा कि उस समय आया था जब कि एक ओर बौद्ध, जैन एवं अन्य नास्तिक दर्शन थे तो दूसरी ओर वासुदेव मत था। किन्तु विचारों का यह उफान स्वतन्त्र चिन्तन पर आधारित न होकर पूर्वकाल परम्परागत रूप से प्राप्त धर्मग्रन्थों पर आधारित था। पाली बौद्ध धर्म के स्थान पर महायान बौद्ध धर्म आया तथा गौतम द्वारा प्रतिष्ठापित न्याय-दर्शन के आचार्यों, मीमांसकों विशेषतः शबर स्वामी और कुमारिल-भट्ट ने इसके भी विरुद्ध वाद-विवाद जारी रखा। किन्तु मीमांसकों ने न केवल बौद्धों पर अपितु औपनिषदों अर्थात् उपनिषदों के सिद्धान्तों पर आधारित विचारधारा पर भी आक्रमण किया। उन्होंने केवल याज्ञिक-उपासना की ही समर्थता का प्रतिपादन किया तथा औपनिषद् विचार धारा के विश्वासों एवं आचारों को इस सामर्थ्य से रहित बतलाया। अतएव दर्शन की इस शाखा के प्रयत्न अपने इस विश्वास के समर्थन के लिए थे कि केवल उन्हीं की विचार-धारा परमानन्द-प्रदायिनी है। इस अवसर पर जो व्यक्ति प्रमुख रूप में हमारे सामने आए, वे गौडपादाचार्य एवं उनके प्रशिष्य

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

शङ्कराचार्य थे। शङ्कराचार्य ने इस सिद्धान्त की स्थापना की कि केवल एक आत्मा का ही अस्तित्व है। अहं की अनुभूति जीवात्मा के अन्य गुणों का भान एवं जड़ जगत् की विविधता की प्रतीति तो भ्रमजन्य है फलतः अवास्तविक है। इस सिद्धान्त में यथार्थ रूप में अनुराग एवं अनुकम्पा के लिए कोई स्थान नहीं रह गया हालांकि इस मत के अनुयायियों ने जीवात्मा की साधारण भ्रमावस्था में इसे स्वीकारा है। इस प्रकार उस सिद्धान्त ने वैष्णव मत के जड़ पर ही कुठाराघात किया। वैष्णव मत के दाक्षिणात्य आचार्यों की यह प्रबल इच्छा थी कि भ्रम या माया के इस सिद्धान्त को उन्हीं औपनिषदीय आधारों पर उखाड़ फेंका जाय जिनके बल पर इसे प्रतिष्ठापित किया गया है। रामानुज ने अपने पूर्वाचार्य की यह इच्छा पूर्ण की और तभी से प्रत्येक वैष्णव सम्प्रदायों ने और एक या दो मामलों में तो शैव सम्प्रदायों तक ने औपनिषद या वेदान्त सिद्धान्तों को अपने निजी सिद्धान्तों के अनुरूप ढाल कर ग्रहण किया।

रामानुज का जन्म शकाब्द ९३८ तदनुसार १०१६ या १०१७ ई० में हुआ था। बाल्यकाल में वे काञ्चीपुर या काञ्जीवरम् में रहे। वे यादव प्रकाश के शिष्य थे जो कि अद्वैतवादी दार्शनिक अत एव आत्माद्वैतवाद के प्रचारक थे। वैष्णवमत की ओर अपना लगाव होने से रामानुज को अपने गुरु की शिक्षाओं से सन्तोष प्राप्त नहीं हुआ और अन्ततोगत्वा वे अपने गुरु से अलग हो गए। वे आळवारों के प्रबन्धों के अध्ययन में लग गए तथा उनके भावों को आत्मसात् करने लगे। यामुनाचार्य के उत्तराधिकारी होने पर वे त्रिचिनापल्ली के समीप श्रीरङ्गम् में रहने लगे और अपने जीवन के महत्त्वपूर्ण कार्य यहीं पर किए। उनके बारे में यह कहा जाता है कि वे उत्तर भारत के प्रसिद्ध तीर्थस्थलों की यात्रा पर गए। अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में उन्हें अपने समकालीन चोलनृपति द्वारा क्लेश प्राप्त हुए। यह नृपति चाहता था कि वे वैष्णवधर्म त्याग कर शैव धर्म अपनाएं। फलस्वरूप १०९६ ई० में उन्होंने होयसाल यादव राजाओं के राज्य में शरण ली। ये राजा मैसूर में राज्य करते थे तथा इनकी राजधानी द्वारसमुद्र में थी जो कि आधुनिक हेलेवड्डि है। यहाँ पर उन्होंने विट्ठिल देव को दीक्षित किया जो जनसामान्य में विट्टिदेव के नाम से ख्यात थे। बहुत संभव है कि विट्टि विट्ठल का अपभ्रंश हो। यह दीक्षा कार्य १०९८ ई० में संपन्न हुआ। विट्ठिलदेव उस समय सिंहासनासीन नृपति न होकर अपने सिंहासनाधिरूढ़ भाई बल्लाल के नाम से कतिपय सीमावर्ती प्रदेशों का शासन कार्य करते थे। वैष्णव मत में दीक्षित होने के उपरान्त वे विट्ठल-

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

देव या विट्टिदेव विष्णुवर्धन कहलाने लगे। यह प्रतीत होता है कि मूलतः उनका नाम विष्णु था जो कि उस जिले की जन भाषा कन्नड़ी में बिगड़ कर विट्ठु या विट्टि बन गया। अतएव उनका मूल नाम विट्टिदेव, विष्णुदेव नाम (जो कि उनके द्वारा दीक्षित होने पर अपनाया गया बतलाया जाता है) से भिन्न नहीं है। इनका शासनकाल ११०४ से लेकर ११४१ ई० के मध्य था। रामानुज ने निम्नलिखित कृतियों की रचना की है :—

वेदान्तसार, वेदार्थसंग्रह, वेदान्त-दीप तथा ब्रह्मसूत्र एवं भगवद्-गीता पर भाष्य।

भक्ति-भावना, भगवान् के प्रति अनुराग और उपासना की भावना का क्षेत्र तैयार करने के लिए रामानुज द्वारा प्रतिष्ठापित ब्रह्मसूत्रों एवं उपनिषदों पर आधारित वेदान्त-सिद्धान्त इस प्रकार है :—नित्य तत्त्व ३ हैं जीव या जीवात्मा (चित्), जड़ जगत (अचित्) तथा परमात्मा (ईश्वर)। इस बात की पुष्टि उपनिषदों के वाक्यों से हो जाती है। इन्हीं में एक श्वेताश्वतर उप० (१,१२) का वह वाक्य है जिसका आशय यह है कि भोक्ता भोग्य एवं प्रेरक के रूप में ब्रह्म त्रिविध है परन्तु ब्रह्मसूत्र ने उपनिषदों के प्रामाण्य पर यह प्रतिपादित किया है कि ब्रह्म जगत् का उपादान कारण और निमित्त कारण दोनों ही है। अपने मत में इस बात को संभव बनाने के लिए रामानुज ने माध्यन्दिनीय शाखा के बृ० उ० के ३.७.६ से प्रारम्भ होने वाले एक स्थल का आश्रय लिया है जिसमें परमात्मा को जीवात्मा एवं जड़ जगत् का अन्तर्यामी कहा गया है। उन्होंने अपने सिद्धान्त को जो स्वरूप दिया वह यह है :—जीवात्मा और जड़ जगत् परमात्मा के गुण हैं। वे उसके शरीर भूत हैं जैसा कि उपनिषदों में भी कहा गया है। इस प्रकार अन्तर्यामी परमात्मा सहित जीव और जड़ जगत् मिलकर ब्रह्म नामक एक सत्ता का वैसे संघटन करते हैं जैसे कि शरीर और आत्मा से मिलकर मनुष्य का संघटन होता है। सृष्टि से पूर्व परमात्मा का शरीर सूक्ष्म रूप में अवस्थित रहता है तथा सृष्टि के समय यह विद्यमान जगत् के रूप में विकसित होता है। इस तरह ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है। अन्तर्यामी आत्मा के रूप में सर्जन की इच्छा करने पर वह जगत् का निमित्त-कारण भी होता है। जड़ जगत् का सूक्ष्म रूप प्रकृति है। प्रकृति शब्द का आविष्कार सांख्य सिद्धान्त के प्रथम लेखक ने किया है। अन्तःस्थ परमात्मा के निर्देशन में इसका विकास तब तक चलता है, जब तक हिरण्यगर्भ की रचना नहीं हो जाती। महत् अहङ्कार आदि की परवर्तिनी अवस्थाएं सृष्टि वर्णन के प्रसङ्ग में पुराणों द्वारा स्वीकृत सांख्य-दर्शन की अवस्थाओं जैसी ही हैं। हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

के अनन्तर भी ब्रह्मदेव एवं दक्ष आदि अन्तर्यामी के रूप में ईश्वर द्वारा ही सृष्टि की रचना की जाती है।

ईश्वर समस्त दोषों से मुक्त है। वह नित्य, जड़ एवं चेतन भूतों में अन्तर्यामी शुद्ध आनन्दमय तथा ज्ञान शक्ति आदि समस्त शुभ गुणों से भूषित है। वह जगत् का स्रष्टा, पालक एवं संहर्ता है। वह अति जिज्ञासु, अर्थार्थी एवं ज्ञानी जनों द्वारा उपसेवित है। वह चतुर्विध पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ काम एवं मोक्ष) का प्रदाता है। वह अनतिक्रमणीय सौन्दर्य-सम्पन्न दिव्य-विग्रह से युक्त है तथा लक्ष्मी, भू एवं लीला उसकी शक्तियां हैं। इस ईश्वर के निम्नलिखित ५ विभिन्न स्वरूप हैं—

(१) पर—इस रूप में नारायण, जो परब्रह्म और परवासुदेव भी कहलाते हैं, वैकुण्ठ नामक पुरी में निवास करते हैं। यह पुरी अनेक पुरुषों द्वारा रक्षित है तथा इसमें अनेक द्वारपाल हैं। वे एक रत्न-मण्डप में धर्मादिक आठ चरणों वाले एक सिंहासन पर न्यस्त शेष-अहि-शय्या पर आसीन रहते हैं, श्री, भू एवं लीला द्वारा उपसेवित हैं, शंख चक्रादि दिव्यायुधों को धारण करते हैं, किरीटादिक दिव्याभूषणों से भूषित हैं, ज्ञान, शक्ति आदि असंख्य शुभ गुणों से समन्वित हैं तथा अनन्त, गरुड़, विष्वक्सेन आदि सनातन पुरुष मुक्तात्माएँ उनके सान्निध्य का सुख प्राप्त करती हैं।

(२) व्यूह—आराधना में सुविधा के लिए तथा सृष्टि रचनादि उद्देश्यों के निमित्त स्वयं पर (नारायण) वासुदेव संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध इन ४ रूपों को धारण करते हैं। इनमें से वासुदेव ६ गुणों से युक्त हैं। संकर्षण केवल सर्वज्ञता तथा बल इन दो ही गुणों से समन्वित हैं। प्रद्युम्न ऐश्वर्य एवं वीर्य तथा अनिरुद्ध शक्ति और तेज से युक्त हैं।

(३) विभवः—इस स्वरूप में मत्स्य कच्छप आदि १० अवतार आते हैं।

(४) अन्तर्यामी—इस स्वरूप में नारायण प्राणियों के चित्त में निवास करते हैं तथा केवल योगियों को ही दिखलाई पड़ते हैं। वे जीवात्माओं के साथ उनके स्वर्ग या नरक जाते समय भी रहते हैं।

(५) गृहों, ग्रामों, नगरों आदि में आराधक द्वारा चुने हुए पदार्थ से निर्मित प्रतिमाएं, जिनमें वह अभौतिक शरीर से निवास करता है।

अन्य लेखकों ने व्यूहों के अन्तर्गत वासुदेव को छोड़ दिया है तथा केवल तीन स्वरूपों को ही रखा है। अर्थपञ्चक में अन्तर्यामी के स्वरूप का वर्णन भिन्न प्रकार से किया गया है। इस स्वरूप में वह (नारायण) प्रत्येक पदार्थ

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

में निवास करता है, सब का नियन्त्रण करता है, अशरीरी, सर्वव्यापक एवं समस्त शुभगुणों का आगार है तथा उसके विष्णु, नारायण वासुदेव इत्यादि अनेक नाम हैं।

चैतन्यता, ज्ञान, आत्मा के रूप में किसी शरीर के साथ संयोग तथा कर्तृत्व ये परमात्मा और जीवात्मा दोनों ही के साधारण धर्म हैं। इसमें जीवात्मा स्वयं प्रकाश्य, आनन्दमय, नित्य, अणु, इन्द्रियागोचर, निरवयव, अचिन्त्य, निर्विकार, ज्ञानाश्रय. ईश्वर नियम्य, अपने अस्तित्व के लिए ईश्वर के अस्तित्व पर आश्रित तथा ईश्वर का अंश है। जीवात्मा का यह वर्णन शंकराचार्य के जीवात्मा के वर्णन से काफी भिन्न है जिन्होंने जीव में कर्तृत्व या तात्त्विकता नहीं मानी और जीवात्मा का विभिन्न प्रकार से ईश्वर पर आश्रित रहने का सिद्धान्त तो वस्तुतः अद्वैतवाद में सोचा भी नहीं जा सकता। शाङ्कर वेदान्त तथा अनेक अन्य मतों में जीवात्मा के अणु होने का भी खण्डन किया गया है। जीवात्माएं अनेक हैं तथा उनका विभाजन इस प्रकार है :—

१. बद्ध—ब्रह्मा से लेकर निम्नतम कीट, पतङ्ग तथा औद्भिज जीवों तक जीवन-चक्र में बंधे हुए जीव।

२. मुक्तः— सदा के लिए मुक्त जीव तथा

३. नित्यः—प्रथम वर्ग के चेतन जीव (जो जड़ या औद्भिज नहीं हैं) दो प्रकार के हैं :—

१. भोग की कामना वाले,

२. मोक्ष की कामना वाले,

भोग की कामना वालों में कुछ तो धनोपार्जन में लगे रहते हैं और कुछ विषय-वासनाओं की पूर्ति में। स्वर्ग का सुख चाहने वाले व्यक्ति अनेकों अनुष्ठान एवं यज्ञ करते हैं, तीर्थयात्रा करते हैं तथा दान देते हैं। इनमें से कुछ लोग भगवान् को भजते हैं तथा कुछ दूसरे देवों को। मुमुक्षुओं में कुछ तो केवल अपनी निर्मल आत्मा के चैतन्यत्व के आकांक्षी (केवली) हैं तथा अन्य शाश्वत आनन्द के। इनमें से कुछ भक्त होते हैं जो कि सर्वप्रथम वेदों का अध्ययन करके तथा वेदान्त एवं कर्म-सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त करके समस्त अङ्गों वाली भक्ति के द्वारा भगवान् को पाना चाहते हैं। भक्ति मार्ग का पालन केवल तीन उच्च वर्ण के लोग ही कर सकते हैं, शूद्र नहीं। दूसरे प्रकार के आराधक प्रपन्न हैं जो कि स्वयं को निर्धन एवं असहाय समझते हुए भगवान् की शरण में प्राप्त होते हैं। प्रपन्नों में भी कुछ तो जीवन

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

के तीन पुरुषार्थों—धर्म अर्थ और काम को प्राप्त करना चाहते हैं, और कुछ इन तीनों ही पुरुषार्थों में सुख या आनन्द न पाकर, समस्त सांसारिक पदार्थों का परित्याग करते हुए केवल मोक्ष की कामना करते हैं तथा वे भक्ति मार्ग पर चलने में अशक्त होने के कारण तथा असहाय होने से गुरु से मार्ग निर्देश प्राप्त करते हैं और उनसे कर्म के निमित्त प्रेरणा पाकर स्वयं को ईश्वरेच्छा पर छोड़ देते हैं। इस प्रपत्ति का समाचरण शूद्र-सहित समस्त वर्णों द्वारा किया जा सकता है।[1]

भक्ति मार्ग को प्रभावशाली बनाने के लिये जो ये बातें आवश्यक हैं, वे हैं कर्मयोग या कर्मों का सम्पादन, ज्ञानयोग या ज्ञान की उपलब्धि। कर्मों से प्राप्त होने वाले फलों के प्रति आसक्त हुए बिना समस्त कर्मों, विधियों एवं संस्कारों का सम्पादन ही कर्मयोग है। देवाराधना, तपश्चर्या, तीर्थयात्रा दान एवं यज्ञादि ही ये विधान हैं। यह कर्मयोग आत्मा को पवित्र करता है तथा ज्ञानयोग तथा ज्ञान के लाभ की ओर ले जाता है।—प्रकृति या जड़ जगत् से पृथक् तथा ईश्वर के अंश के रूप में स्वयं का दर्शन करना ही यह ज्ञान है। इस ज्ञानयोग द्वारा भक्ति की प्राप्ति होती है। यमनियमादि अष्टाङ्गिक योग-मार्गों के आचरण से सहगत सतत ध्यान ही भक्तियोग या भक्ति का मार्ग है। इसकी प्राप्ति निम्न उपायों द्वारा होती है :—

१. अदूषित (स्वच्छ) एवं अनिषिद्ध भोजन द्वारा शरीर की परिशुद्धि
२. विमोक या वासनाओं में अनासक्ति
३. सतत अभ्यास
४. अपने साधनों के अनुरूप पाँच महायज्ञों का सम्पादन
५. सत्य, ऋजुता, दान, दया, अहिंसा आदि सद्गुण
६. आशावादिता या अनवसाय
७. अनुद्धर्ष

इन सात साधनों से संवर्द्धित भक्ति वस्तुतः ईश्वर का दर्शन ही हो जाती है और अन्ततः इससे मानस प्रत्यक्ष की उत्पत्ति होती है। आत्म-निवेदन की भावना, प्रतिकूलता का अभाव, भगवान् रक्षा करेंगे यह विश्वास, त्राता के रूप में भगवान् का वरण या त्राण के निमित्त उनकी स्तुति तथा आत्मसमर्पण में परिणत होने वाला कार्पण्यभाव ही प्रपत्ति है। इस प्रकार प्रपत्ति आत्मसमर्पण है।

अर्थपञ्चक में आचार्याभिमानयोग नामक पांचवें मार्ग का उल्लेख किया गया है। यह मार्ग ऐसे व्यक्ति के लिए है जो कि किन्हीं अन्य मार्गों का अनुसरण

१. यतीन्द्रमतदीपिका ८

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

करने में असमर्थ है। आचार्य या गुरु की शरण में जाना तथा प्रत्येक विषय में उनके द्वारा निर्दिष्ट होना ही आचार्याभिमानयोग है। आचार्य शिष्य के उद्धार के लिए आवश्यक सभी कुछ उसी प्रकार से करता है जैसे कि माता शिशु की चिकित्सा के लिए स्वयं ही औषधि ग्रहण करती है।

विष्णु के भक्तों को षोडशोपचार पूजा करनी होती है जैसा कि रामानुज संप्रदाय के एक अर्वाचीन लेखक ने पद्मपुराण से उद्धृत एक स्थल में बतलाया है। इनमें आठ उपचार तो पूर्ववर्ती खण्डों में परिगणित भागवत पुराण में उल्लिखित भक्ति के ९ प्रकारों में ही समाविष्ट हैं, केवल सख्य को छोड़ दिया गया है। अन्य आठ प्रकार निम्नलिखित हैं :—

१. हरि के शंख, चक्र तथा अन्य आयुधों के लाञ्छन शरीर पर अङ्कित करना
२. ललाट पर लम्बी रेखा को अङ्कित करना
३. अवसरों पर मन्त्रों का जप करना
४. हरि चरणों के प्रक्षालन में प्रयुक्त जल का पान करना
५. हरि को समर्पित नैवेद्य का अशन
६. उनके भक्तों की सेवा करना
७. प्रत्येक चान्द्र मास के कृष्ण एवं शुक्ल पक्षों की एकादशी तिथि पर उपवास करना
८. हरि-प्रतिमा पर तुलसीदल चढ़ाना

हारीत-स्मृति के एक ऐसे स्थल को भी उदधृत किया गया है जिसमें भक्ति के नौ प्रकार दिए गए हैं। इनमें तीन तो भागवत-पुराण में दिए हुए प्रकारों जैसे ही हैं। अन्य ६ ऊपर दिए हुए आठ प्रकारों से मिलते जुलते हैं, प्रथम दो प्रकारों को एक साथ रख दिया गया है और तीसरे को छोड़ दिया गया है। ऊपर उल्लिखित ललाट की लम्बी रेखा में उजाली मिट्टी से बनाई गई दो खड़ी रेखाएं रहती हैं जिन्हें नीचे की एक पड़ी रेखा जोड़ती है। मध्य में हरिद्रा से बनाई हुई एक पीली रेखा या चूना मिश्रित हरिद्रा से निर्मित एक लाल रेखा रहती है।

उत्तर-भारत में रामानुज के अनुयायियों की संख्या बहुत अधिक नहीं है किन्तु दक्षिण में वे बहुत बड़ी संख्या में हैं। इनमें बडकलै (औदीच्य शाखा) तथा टेङ्कलै (दाक्षिणात्य शाखा) नामक दो पन्थ हैं। इन दोनों का मौलिक अन्तर इनके द्वारा दिए गए उन पृथक्-२ उदाहरणों के कारण है जो ये मुक्ति प्राप्ति में भगवदनुकम्पा और मानवीय प्रयत्नों का सम्बन्ध बताने में देते हैं।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

वडकलै (औदीच्यों) द्वारा दिया गया उदाहरण वानरी और उसके बच्चे का है। वानरी के बच्चे को सुरक्षित स्थान पर ले जाए जाने के लिए अपनी माता के पेट को मजबूती से पकड़ना पड़ता है। टेङ्कले (दाक्षिणात्य) बिल्ली और उसके बच्चों का उदाहरण देते हैं। बिल्ली बच्चे को पकड़ लेती है और सुरक्षित स्थान को ले जाती है। बच्चे को स्वयं कोई भी प्रयत्न नहीं करना होता। पहले उदाहरण में सिद्धान्त यह है कि उद्धरण की प्रक्रिया का प्रारम्भ उद्धार चाहने वाले व्यक्ति के प्रयत्नों से होना चाहिए। दूसरे उदाहरण में इस प्रक्रिया का आरम्भ स्वयं भगवान् करते हैं। इसी भेद से मिलता जुलता दोनों पन्थों का प्रपत्ति-विषयक विचार भी है। औदीच्यों का मत है कि प्रपत्ति भक्त द्वारा गृहीत अनेक मार्गों में से एक है तथा इसका प्रारम्भ भक्त से ही होता है। दाक्षिणात्य पन्थ यह मानता है कि प्रपत्ति अनेक मार्गों में से एक नहीं है अपितु यह तो वह मन:स्थिति है जो सभी पूर्णता-भिलाषियों में होती है तथा जिसके लिए वे लोग अन्य समस्त उपायों का परित्याग कर देते हैं। अन्य उपायों का आश्रयण करने वाले लोग ईश्वर को प्राप्त कराने वाली उचित मनोदशा पर पहुंचे हुए नहीं होते। जब कोई भी जीवात्मा इस मन:स्थिति में होती है तो भगवान् स्वयं उसे पूर्णतया अपना लेते हैं, जब कि अन्य मार्गों द्वारा लोग उसकी ओर पहुंचना चाहते हैं। वडकलै यह निर्धारित करते हैं कि प्रपत्ति उन लोगों के लिए है जो कि कर्मयोग, भक्तियोग एवं ज्ञानयोग जैसे अन्य मार्गों का आश्रयण नहीं कर सकते। टोङ्कलै का कहना है कि प्रपत्ति अन्य मार्गों के आश्रयण में समर्थ या असमर्थ समस्त व्यक्तियों के लिए है। वडकलै पन्थ का कहना है कि कोई भी व्यक्ति जब अपने द्वारा गृहीत अन्य मार्गों को निष्फल समझे तो वह ईश्वर के आगे आत्म-समर्पण कर दे। टेङ्कलै पन्थ का मत है कि ईश्वर के समक्ष आत्मसमर्पण अन्य मार्गों को ग्रहण करने से पूर्व होना चाहिए। आत्म स्वीकरण प्रथम पन्थ का वैशिष्ट्य है किन्तु द्वितीय पन्थ ने इसका निषेध किया है एवं आत्म-निक्षेप का विधान किया है। औदीच्यों का कहना है कि ऊपर बतलाए गए प्रपत्ति के ६ मार्ग या उपाय प्रपत्ति के ही पूर्वरूप हैं और इन्हीं से प्रपत्ति परिणमित होती है। दाक्षिणात्यों का मत है कि प्रपत्ति का स्थान इन ६ उपायों से पूर्व होना चाहिए और इन्हें प्रपत्ति के परिणामों के रूप में प्रपत्ति के बाद आना चाहिए। औदीच्य शाखा की शिक्षा है कि केवल वार्तालाप में ही अधम-जाति के लोगों के साथ सद्व्यवहार होना चाहिए। दाक्षिणात्यों का कहना है कि प्रत्येक मामले में उन्हें समानता का व्यवहार प्राप्त होना चाहिए और किसी भी तरह का भेदभाव नहीं करना

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

चाहिए । वडकलै के अनुसार अष्टाक्षर मन्त्र का उपदेश जब ब्राह्मणेतरों को दिया जा रहा हो तो उसमें से ओं अक्षर को हटा देना चाहिए किन्तु टेङ्कलै यह भेद नहीं करते तथा सभी लोगों के लिए सम्पूर्ण मन्त्र को एक ही रूप में दिए जाने का विधान करते हैं ।

यहाँ पर दिए गए संक्षिप्त सार से यह दिखाई देता है कि रामानुज की तत्त्वमीमांसा उपनिषदों एवं ब्रह्मसूत्रों से निस्सृत है जबकि उनका जगत् की उत्पत्ति का सिद्धान्त वही है जो कि पुराणों ने माना है तथा जो सांख्य दर्शन के चौबीस तत्त्वों पर आधारित है । उनका वैष्णव-धर्म नारायण एवं विष्णु तत्त्वों से समन्वित वासुदेव-मत या प्राचीन पाञ्चरात्र मत है । उनकी शाखा के साहित्य में विष्णु का नाम बहुत अधिक नहीं आता । सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नाम 'नारायण' है यद्यपि परमात्मा एवं व्यूहों का वर्णन करने में 'वासुदेव' शब्द को उसका उचित स्थान प्राप्त हुआ है । वासुदेव कृष्ण नाम का अभाव तो सुस्पष्ट है । रामानुज का सम्प्रदाय वैष्णव धर्म के उस घृणित स्वरूप से मुक्त है, जिसे राधा एवं अन्य गोपियों के प्रवेश के उपरान्त उसने ग्रहण कर लिया था । राम भी प्रिय देव प्रतीत नहीं होते । परमात्मा की प्राप्ति के सम्बन्धी रामानुज के सिद्धान्त भगवद्गीता के ही सिद्धान्त हैं या उन सिद्धान्तों के परिवर्द्धित रूप हैं । किन्तु इस सम्प्रदाय में भक्ति का रूप घटाकर परमात्मा के निरन्तर ध्यान का रूप दे दिया गया है । इस प्रकार यह बादरायण-वर्णित उपासना के समान है और इसका अर्थ भगवान् के प्रति असीम अनुराग नहीं है, जैसा कि सामान्यतया समझा जाता है, यद्यपि ध्यान अव्यक्त रूप से अनुराग की भावना का ही द्योतक है । रामानुज के सिद्धान्तों की भावना यह प्रतीत होती है कि वे भक्ति के पारम्परिक प्रकार को पूर्ण ब्राह्मण-परक स्वरूप प्रदान करना चाहते थे । यह बात वड़कलै के सिद्धान्तों में सुव्यक्त रूप में देखी जा सकती है जबकि टेङ्कलै अधिक उदार हैं और उन्होंने अपने संप्रदाय के सिद्धान्तों को ऐसा स्वरूप प्रदान किया है ताकि वे शूद्रों के लिए भी व्यवहार्य हो सकें । किन्तु रामानन्द के शिष्यों एवं मराठा सन्त एवं आचार्य नामदेव एवं तुकाराम का वर्णन करते समय हम देखेंगे कि शूद्र भी अपने पक्ष का समर्थन कर रहे थे ।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

१३. मध्व या आनन्दतीर्थ

ग्यारहवें शतक एवं परवर्ती, वैष्णव आचार्यों का महान् लक्ष्य मायावाद या जगत् की अयथार्थता का खण्डन करना तथा सुदृढ़ आधार पर भक्ति के सिद्धान्त की स्थापना करना था। रामानुज ने अपने द्वारा प्रचारित उस मत से यह कार्य सम्पन्न किया जिसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। किन्तु उपनिषदों के आधार पर ब्रह्मसूत्र में प्रतिपादित इस सिद्धान्त से ब्रह्म जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण दोनों ही है, अपने सिद्धान्तों की संगति बैठाने के लिए उन्होंने ईश्वर के संश्लिष्ट व्यक्तित्व के सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना की तथा जीव एवं जड़ जगत् को ईश्वर का शरीर बतलाया। मध्व ने इस बात को भी आपत्ति-जनक माना क्योंकि इसमें तो ईश्वर की स्वतन्त्र महिमा को घटाने की प्रवृत्ति पाई जाती है और इसी लिए उन्होंने ईश्वर के जगत् के उपादान कारण होने का खण्डन किया। इस सिद्धान्त की स्थापना करने वाले बादरायण के समस्त सूत्रों की व्याख्या उन्होंने एकदम भिन्न प्रकार से की। संभवत: उन्होंने तो ब्रह्मसूत्र का ही खण्डन कर दिया होता किन्तु वे ऐसा नहीं कर सके क्योंकि उनसे पूर्व ही धार्मिक सत्य के रूप में इस कृति को निर्विवाद प्रामाणिकता प्राप्त हो चुकी थी। अत एव उन्हें यह प्रदर्शित करना पड़ा कि उनका मत ब्रह्मसूत्रों के विरुद्ध नहीं है। अत एव उन्होंने ब्रह्मसूत्र को स्वीकार किया और व्याख्या लगभग मनमाने ढङ्ग से की। उनके सिद्धान्त से मेल न रखने वाले उपनिषदों के स्थलों के साथ भी उन्होंने यही किया। शङ्कर के शुद्धाद्वैत तथा रामानुज के विशिष्टाद्वैत के विरोध में आनन्दतीर्थ ने पांच शाश्वत भेदों या पार्थक्यों का वर्णन किया।

१. ईश्वर तथा जीवात्मा का भेद
२. ईश्वर तथा जड़ जगत् का भेद
३. जीव तथा जड़ जगत् का भेद
४. एक जीवात्मा से दूसरी जीवात्मा का भेद
५. एक जड़ पदार्थ से दूसरे जड़ पदार्थ का भेद

त्रिविक्रम के पुत्र नारायण द्वारा रचित माधव-विजय के अनुसार रजतपीठ नामक नगर में मध्यगेह नाम से विश्रुत एक कुल था। मध्व के

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

पिता मध्यगेह भट्ट कहलाते थे। जन्मोपरान्त मध्व का नाम वासुदेव रखा गया। ब्राह्मण के लिए निर्धारित सामान्य शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त वासुदेव को अच्युतप्रेक्षाचार्य ने संन्यासी के रूप में दीक्षित किया। इस प्रकार वे मध्व के गुरु हो गए। दीक्षा के उपरान्त वे हिमालय में स्थित बदरिकाश्रम गए तथा वहां से दिग्विजय राम एवं वेद-व्यास की मूर्तियां लाए। राजाओं की उपस्थिति में उन्हें आचार्य के उच्च पद पर बैठाया गया। वे मायावादियों एवं दूसरे लोगों को पराजित करते हुए एक प्रदेश से दूसरे प्रदेशों में घूमे एवं उन्होंने वैष्णव-मत की प्रतिष्ठा की। पद्मनाभतीर्थ नरहरितीर्थ, माधवतीर्थ तथा अक्षोभ्यतीर्थ उनके शिष्य थे। राम एवं सीता की मूल प्रतिमाएं लाने के लिए नरहरितीर्थ को उड़ीसा स्थित जगन्नाथ पुरी भेजा गया। आनन्दतीर्थ के अन्य नाम पूर्णप्रज्ञ एवं मध्यमन्दार (या मध्यकुल की इच्छा पूर्ति करने वाले) थे।

कतिपय मठों में सुरक्षित सूची में उनकी मृत्यु तिथि शकाब्द ११११६ दी गई है तथा चूंकि वे ७९ वर्ष जीवित रहे थे अतएव उनकी जन्म-तिथि शकाब्द १०४० रही होगी। किन्तु ये कथन गम्भीर सन्देह से ग्रस्त है। गञ्जाम जिले के शीकाकुलम् तालुका में श्रीकूर्मम् के कूर्मेश्वर मन्दिर में एक अभिलेख है जिसमें यह बतलाया गया है कि नरहरितीर्थ ने एक राम मन्दिर निर्माण कराया तथा शकाब्द १२०३ में योगानन्द नरसिंह की प्रतिमा इस मन्दिर में प्रतिष्ठित की। इसमें उल्लिखित प्रथम व्यक्ति पुरुषोत्तम तीर्थ हैं जो कि अच्युतप्रेक्ष ही हैं। इसके बाद उनके शिष्य आनन्दतीर्थ और अन्त में आनन्दतीर्थ के शिष्य नरहरितीर्थ हैं। इन नरहरितीर्थ को कुछ लोगों ने उड़ीसा का शासक माना है। किन्तु यह धारणा इनके और किञ्चित् परिवर्तित रूप में लगभग वैसे ही नाम वाले नरसिंह राजा के बीच भ्रम हो जाने से उत्पन्न हुई है। यह राजा ११९१ से १२२५ शकाब्द के लगभग इस प्रदेश का शासक था। स्वयं नरहरितीर्थ के श्रीकूर्मम् के एक अभिलेख में नरसिंह का उल्लेख मिलता है, जिसमें शकाब्द १२१५ उत्कीर्ण है, जिसे इस नृपति के शासन का १८वां वर्ष बतलाया गया है। यह राजा नरसिंह द्वितीय था तथा यह वही राजा था जिसकी वन्दना अलङ्कार शास्त्र की एक कृति एकावली में की गई है। अन्य अभिलेखों से प्राप्त नरसिंह-तीर्थ की अन्य तिथियाँ शकाब्द ११८६ से लेकर १२१३ तक पड़ती हैं। इन समस्त अभिलेख साक्ष्यों से इस परम्परा प्राप्त सत्य की पुष्टि होती है कि आनन्दतीर्थ ने नरहरितीर्थ को उड़ीसा भेजा था।

अब यदि नरहरितीर्थ का सक्रिय जीवन-काल शकाब्द ११८६ से लेकर

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

शकाब्द १२१५ तक था तो फिर उनके आचार्य की मृत्यु शकाब्द १११९ में ही अर्थात् नरहरितीर्थ से पूरे ६७ वर्ष पूर्व नहीं होनी चाहिए। अतएव मध्व के महाभारत तात्पर्य निर्णय में दी हुई तिथि (कलि सं० ४३००) को मध्व की सही जन्म-तिथि मानना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। यह तिथि शकाब्द ११२१ में पड़ती है और इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि कुछ लोग सम्वत् के चालू वर्ष का प्रयोग करते हैं तथा कुछ लोग विगत वर्ष का, हमें इस तिथि को शकाब्द १११९ में मानना चाहिए। यह तिथि सूचियों में आनन्दतीर्थ की मृत्यु तिथि के रूप में दी गई है। किन्तु उनकी मृत्यु तिथि मानने की अपेक्षा हमें इस तिथि को उनकी जन्म तिथि मानना होगा। तत्कालीन विवरण के अनुसार वे ७९ वर्षों तक जीवित रहे अत एव उनकी मृत्यु की तिथि शकाब्द ११९८ में रखी जानी चाहिए। इस प्रकार इन दोनों तिथियों को सुनिर्धारित मान लिया जाना चाहिए। इस तरह आनन्द-तीर्थ तेरहवीं सदी के प्रथम तीन भागों में विद्यमान थे। सूची के अनुसार उनके उत्तराधिकारी पद्मनाभतीर्थ थे जिन्होंने महन्तपद को (वर्षों तक अर्थात् १२०५ शकाब्द तक धारण किया। इनके भी उत्तराधिकारी नरहरितीर्थ थे जो कि ९वर्षों तक अर्थात् १२१४ शकाब्द तक महन्त रहे। यदि हम कलि सम्वत् की सूक्ष्म व्याख्या के अनुसार प्रथम महन्त की जन्मतिथि शकाब्द ११२१ मानें तो वे (नरहरितीर्थ) १२१६ श० अ० तक महन्त बने रहे। हम यह देख ही चुके हैं कि अभिलेखों में उल्लिखित उनकी सबसे अन्तिम तिथि शकाब्द १२१५ है।

माध्वों ने वैशेषिकों की पद्धति का अनुसरण किया तथा उन्होंने समस्त सत् पदार्थों को अपने कतिपय संशोधनों सहित द्रव्य, गुण आदि वर्गों में विभक्त किया। ईश्वर द्रव्य है, परमात्मा असंख्य या अनन्त गुणों से भूषित है। उसके निम्नलिखित आठ कार्य हैं :—

१. सर्जन,
२. पालन,
३. विनाश,
४. समस्त भूतों का नियन्त्रण,
५. ज्ञान प्रदान करना,
६. स्वयं-प्रकाशन,
७. प्राणियों को जगत् के बन्धन में बांधना तथा
८. उद्धरण

वह (परमात्मा) सर्वव्यापी सर्वशब्दाभिव्यञ्ज्य तथा जीव एवं जड़ जगत्

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

से पूर्णतया भिन्न है। वह ज्ञान आनन्द आदि से निर्मित शुद्ध विग्रह वाला, सर्ववस्तुविनिर्मुक्त तथा भिन्न-२ स्वरूपों को धारण करता हुआ केवल एक है। उसके समस्त स्वरूप उसके पूर्ण प्रकाशन हैं तथा गुणों, अंशों में वह अपने अवतारों से पूर्णतया अभिन्न है। लक्ष्मी परमात्मा से भिन्न हैं किन्तु वे पूर्णतया परमात्मा पर आश्रित हैं। परमात्मा की ही भांति वे नित्य एवं मुक्त हैं तथा उसकी शक्ति हैं। उनके विभिन्न स्वरूप हैं, किन्तु भौतिक शरीर नहीं है। इस प्रकार वे परमात्मा के ही समान हैं और परमात्मा की ही भांति वे सर्वशब्दाभिव्यञ्ज्य हैं अर्थात् वे परमात्मा के ही समान देश और काल में व्यापक हैं अर्थात् वे परमात्मा की अनुषङ्गिनी हैं। जीव सामान्य जीवन चक्रों में से होकर गुजरते हैं तथा अज्ञान एवं अन्य दोषों से दूषित हैं। वे असंख्य हैं। उनमें से कुछ ब्रह्मत्व की प्राप्ति में समर्थ ऋजुस् जैसे हैं तथा कुछ अन्य ऐसे हैं जो रुद्र, गरुड़, असुरों एवं दैत्यों की महिमा को प्राप्त करने में सक्षम हैं। वे ३ प्रकार के हैं —

१. पूर्ण ब्रह्मत्व प्राप्त करने योग्य
१. सदा जीवन-चक्र में रहने वाले
३. अन्धकार की स्थिति में रहने योग्य

देवता, ऋषि, पितर तथा श्रेष्ठ मनुष्य प्रथम कोटि में आते हैं, साधारण मनुष्य द्वितीय कोटि में आते हैं तथा दैत्य, भूत अधम श्रेणी के मनुष्य तृतीय कोटि में आते हैं। ये समस्त प्राणी एक दूसरे से एवं परमात्मा से भिन्न हैं। सृष्टि रचना का कार्य तब प्रारम्भ होता है जब परमात्मा प्रकृति की सामान्यावस्था को भग्न करता है और तब प्रकृति पुराण-संशोधित सांख्य दर्शन के समस्त अन्य तत्त्वों के रूप में तब तक विकसित होती रहती है जब तक ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति नहीं हो जाती। इसके बाद चेतन एवं अचेतन पदार्थों को अपने अन्दर प्रविष्ट कराकर परमात्मा ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट हो जाता है। इसके बाद एक सहस्र दिव्य वर्षों के अन्त में उसकी नाभि से एक कमल निकलता है, जो कि चतुरानन ब्रह्मदेव का आसन है और तब बहुत लम्बे समय के बाद ब्रह्मदेव से साधारण सृष्टि रची जाती है।

समस्त ज्ञानों का उदय परमात्मा से होता है, भले ही इसके उदय का साधन कुछ भी क्यों न हो। यह दो प्रकार का होता है :—

१. जो संसार की ओर ले जाता है,
२. जो मोक्ष प्राप्त कराता है।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

विष्णु अज्ञानियों को ज्ञान तथा ज्ञानियों को मोक्ष प्रदान करते हैं। वह ज्ञान या वह भावना जो शरीर, पुत्र एवं पत्नी आदि से लगाव पैदा करता है, संसार की ओर ले जाने वाला ज्ञान है। यह यथार्थ ज्ञान नहीं है अपितु अज्ञान है जिससे सांसारिक जीवन का उदय होता है तथा इस अज्ञान का निवारण ईश्वर के ज्ञान द्वारा होता है। मोक्ष प्राप्ति सेवा-विधि के उपायों द्वारा हरि के साक्षात् ज्ञान या दर्शन द्वारा होती है। यह केवल उपयुक्त शरीर द्वारा ही प्राप्य है। यह साक्षात् दर्शन ब्रह्मदेव से लेकर उत्तम मनुष्यों तक समस्त सद्-जीवात्माओं के लिए संभव है। यह प्रत्यक्ष दर्शन अनेक उपायों द्वारा प्राप्त करना होता है। मोक्ष प्रदायक साक्षात् ज्ञान के लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं—

१. वैराग्य या इस लोक तथा परलोक के आनन्दों से विरक्ति यह इस जगत् की नश्वरता तथा सत्सङ्गति से उत्पन्न होती है।

२. शम एवं दम आदि,

३. ज्ञान से संसर्ग

४. शरणागति, इसमें अपने चित्त को समस्त प्राणियों में श्रेष्ठ भगवान् में लगा दिया जाता है तथा चित्तसर्वोत्कृष्ट प्रेम से आप्लावित रहता है; इसमें प्रत्येक वस्तु भगवदर्पित कर दी जाती है तथा भगवान् का पूजन भक्तिपूर्वक तीन प्रकार से किया जाता है, इसमें यह विश्वास रहता है कि भगवान् निश्चित रूप से भक्त की रक्षा करेंगे और यह भावना रहती है कि भक्त भगवान् का है।

५. गुरु या आचार्य की सेवा तथा उनकी आराधना, जो कि मोक्ष प्राप्ति के लिए आवश्यक है।

६. ज्ञान की प्राप्ति गुरु से पुस्तकों से नहीं या फिर गुरु के अभाव में किसी सद् वैष्णव से तथा बहुत कम अवसरों पर पुस्तकों से भी।

७. प्राप्त उपदेश का मनन

८. अपने गुरु अपने से श्रेष्ठ व्यक्ति या सम्माननीय व्यक्तियों की योग्यता या गुण के क्रम से भक्ति

९. परमात्मा की महानता एवं सर्वश्रेष्ठता के ज्ञान से जनित परमात्मा के प्रति भक्ति। यह भक्ति दृढ़ होनी चाहिए तथा अन्यों के प्रति जो भक्ति है, उस सब से उत्कृष्ट होनी चाहिए। यह भक्ति मोक्षप्रद होती है।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

१०. अपने से छोटे किन्तु सद् व्यक्तियों के प्रति सहानुभूति, अपने समान स्तर के लोगों के साथ आत्मवत् प्रेमभाव तथा अपने से श्रेष्ठों के प्रति प्रेम पूर्ण सम्मान।

११. इच्छा रहित होकर विचार के साथ आत्मा को पवित्र करने वाले विधि विधानों एवं संस्कारों का सम्पादन।

१२. निषिद्ध कर्मों अर्थात् छोटे या बड़े पापों का परित्याग।

१३. प्रत्येक कर्मों को हरि में समर्पण, जैसे कि ये कर्म हरि द्वारा ही किए गए हैं, स्वयं द्वारा नहीं।

१४. भूतों की आपेक्षिक स्थिति तथा सर्वश्रेष्ठ भूत के रूप में विष्णु की स्थिति का ज्ञान।

१५. पूर्वोल्लिखित ५ प्रभेदों का ज्ञान।

१६. प्रकृति का पुरुष से पार्थक्य (का ज्ञान)। नारायण से लेकर साधारण मनुष्यों तक सभी अपनी शक्तियों समेत पुरुष हैं तथा जड़ जगत् प्रकृति है।

१७. मिथ्या सिद्धान्तों की गर्हा

१८. उपासना।

उपासना दो प्रकार की हैं :—

(१) शास्त्रों का अध्ययन

(२) ध्यान (निदिध्यासन)

मन के नेत्रों के सामने अन्य समस्त वस्तुओं को हटाकर भगवान् को रखना ही निदिध्यासन है। यह निदिध्यासन वही व्यक्ति कर सकता है जो कि किन्हीं ग्रन्थों के पठन, श्रवण या चिन्तन द्वारा अज्ञान, सन्देह या मोह का निराकरण करके अधिगत वस्तु का सुस्पष्ट ज्ञान रखता हो। कुछ व्यक्ति एक तत्त्व के रूप में भगवान् का निदिध्यासन करते हैं तो कुछ व्यक्ति सत्, चित्, आनन्द एवं आत्मा इन तत्त्वों से युक्त भगवान् का निदिध्यासन करते हैं। इसके बाद देवों एवं ब्रह्मसूत्र में उल्लिखित कतिपय अन्य व्यक्तियों द्वारा अधिगृहीत निदिध्यासनों का वर्णन किया गया है। ये अट्ठारहों प्रकार या मार्ग भगवान् का साक्षात् ज्ञान कराते हैं। यह ज्ञान ब्रह्मदेव से मनुष्य तक सभी को प्राप्त हो सकता है। मनुष्यों द्वारा प्राप्त भगवान् के प्रत्यक्ष ज्ञान की तुलना बिजली की चमक से तथा देवों द्वारा प्राप्त भगवान् के प्रत्यक्ष ज्ञान की तुलना सूर्य के प्रभामण्डल से की जा सकती है। गरुड़ एवं रुद्र को यह ज्ञान प्रतिबिम्ब के रूप में प्राप्त है जबकि ब्रह्मदेव को सम्पूर्ण

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

अङ्कों सहित पूर्ण भगवान् का ज्ञान प्राप्त है। कुछ लोगों को भगवान् का ज्ञान जगत् में निवास करने वाले तथा जगत् से परिच्छिन्न सत्ता के रूप में है। प्रत्यक्षज्ञान विशुद्ध रूप से मानस होता है।

मध्व के अनुयायी अपने ललाट पर नासिका सेतु के ऊपर गोपीचन्दन नामक मृत्तिका से बनाई हुई दो धवल खड़ी रेखाओं वाला एक चिह्न अङ्कित करते हैं। दोनों के मध्य में एक काली रेखा रहती है और इसके मध्य में एक रक्त बिन्दु रहता है। दोनों धवल रेखाओं को नासिका सेतु पर एक पड़ी रेखा जोड़ती है। कन्धे तथा अन्य शरीरावयवों पर वे इसी धवल मृत्तिका से निर्मित शंख, चक्र तथा विष्णु के अन्य आयुधों के लाञ्छन अङ्कित रहते हैं। यदा कदा ये लाञ्छन स्थायी छाप छोड़ने के उद्देश्य से किसी तप्त धातु द्वारा त्वचा पर अङ्कित कर दिए जाते हैं। सम्प्रदाय के अनुयायी बम्बई राज्य के कन्नड़ी जिलों में मैसूर तथा पश्चिमी तट पर गोआ से लेकर दक्षिण कर्नाटक तक काफी बड़ी संख्या में विद्यमान हैं। उत्तर भारत में इस मत के अनुयायी छिट पुट रूप में ही हैं। इस मत के प्रसार एवं सुरक्षा के निमित्त दक्षिण कर्नाटक में आठ तथा भीतरी भाग में तीन मठ हैं। इनमें से कुछ की स्थापना तो स्वयं आनदतीर्थ ने की थी।

आनन्दतीर्थ ने ३७ विभिन्न ग्रन्थों की रचना की है। अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होंने जिन प्रमाणभूत ग्रन्थों को गिनाया है, उनमें पाञ्चरात्र संहिताओं का भी अन्तर्भाव है। किन्तु ऊपर दिए हुए विवरण से यह देखा जा सकता है कि उनके मत में वासुदेव आदि व्यूहों का कोई भी स्थान नहीं है तथा परमात्मा के वर्णन के लिए उन्होंने अधिकतर विष्णु नाम का प्रयोग किया है। विष्णु के कुछ अवतारों विशेष कर राम एवं कृष्ण की भी स्तुति की गई हैं। किन्तु ऐसा लगता है कि उनके मत में गोपाल-कृष्ण तत्त्व का पूर्णतया अभाव है तथा राधा एवं गोपियों का उल्लेख नहीं किया गया है। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि आनन्द तीर्थ ने पाञ्चरात्र या भागवत मत का या तो एकदम प्रत्याख्यान किया या फिर वह इसकी पृष्ठ भूमि में रह गया है। उनके समय के आसपास भागवत सम्प्रदाय का पारम्परिक वासुदेव वाद शनैः शनैः तिरोहित हो चला था और उसका स्थान सामान्य वैष्णव-धर्म ग्रहण कर रहा था।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

१४. निम्बार्क

इस प्रकार हमने दक्षिण भारत में ग्यारहवीं सदी के मध्य से १३वीं सदी के मध्य तक वैष्णव धर्म द्वारा जो स्वरूप ग्रहण किया था, उसे देखा। इस नूतन मार्ग के निर्देशक तत्त्व भक्ति की दृढ़ भावना एवं मायावाद के भयंकर परिणामों का भय था। इसका प्रभाव उत्तर की ओर फैला तथा इसके सम्प्रदाय प्रवर्तकों को दो वर्गों में रखा जा सकता है :—

१. जिन्होंने संस्कृत में लिखा

२. जिन्होंने अपने मत के प्रचार के लिए जन भाषाओं का प्रयोग किया।

प्रथम वर्ग के सम्प्रदाय-प्रवर्तकों में सर्वप्रथम उल्लेखनीय आचार्य निम्बार्क हैं। निम्बार्क को जन्मतः तैलङ्ग ब्राह्मण तथा निम्ब-नामक गांव का निवासी बतलाया जाता है जो कि संभवतः बेल्लरी जिले का निम्बपुर हो है। उनका जन्म वैशाख शुक्ल पक्ष की तृतीया तिथि को हुआ था तथा उनके पिता का नाम जगन्नाथ था और वे भागवत थे। उनकी माता का नाम सरस्वती था। उनके अनुयायी भक्त उन्हें भगवान् विष्णु के सुदर्शन चक्र का अवतार मानते हैं। वे कब हुए इस विषय में हमारे पास कोई निश्चित प्रमाण नहीं हैं किन्तु ऐसा लगता है कि वे रामानुज के कुछ समय बाद हुए। निम्बार्क ने वेदान्त-पारिजात-सौरभ की रचना की है, जो कि ब्रह्म-सूत्रों पर एक प्रकार की टीका है। उन्होंने दश श्लोकों की एक छोटी सी कृति की भी रचना की जिसका नाम सिद्धान्त-रत्न है तथा जो अपने दश श्लोकों के कारण सामान्यतया दशश्लोकी कहलाती है। निम्बार्क के ही परवर्ती अनुयायी श्रीनिवास ने उनकी प्रथम कृति पर भाष्य नामक टीका लिखी तथा परम्परा की सूची में बत्तीसवें शिष्य हरिव्यासदेव ने उनकी द्वितीय कृति पर। सूची में तेरहवें देवाचार्य ने सिद्धान्त-जाह्नवी नामक कृति लिखी तथा उनके परवर्ती सुन्दरभट्ट ने इसी कृति पर सेतु नामक एक टीका लिखी। सूची में तीसवें व्यक्ति ने ब्रह्मसूत्रों पर एक भाष्य लिखा। इनका नाम केशव कश्मीरी था।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

निम्वार्क का वेदान्त-सिद्धान्त द्वैताद्वैतवादी है। जड़ जगत्, जीवात्मा और परमात्मा परस्पर में अभिन्न भी हैं और भिन्न भी। अभिन्न वे इस अर्थ में हैं कि जड़ जगत् और जीवात्मा की अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है अपितु अपनी सत्ता और क्रिया के लिए वे परमात्मा पर आश्रित हैं। ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है। ब्रह्मसूत्रों के इस सिद्धान्त को इस प्रकार समझा जाना चाहिए—

किसी भी कार्य का उपादान-कारण होने का तात्पर्य यह है कि

१. उसमें उस कार्य के रूप ग्रहण करने की शक्ति रहती है

२. वह ऐसा करने के योग्य है।

ब्रह्म ऐसी विभिन्न प्रकार की शक्तियों से समन्वित है जो कि चेतन एव अचेतन जगत् की प्रकृति से युक्त हैं। सूक्ष्म रूप में ये ही शक्तियाँ ब्रह्म की स्वाभाविक स्थिति है। इससे दो में से प्रथम आवश्यकता की पूर्ति होती है। इन शक्तियों में कार्य अर्थात् का मूल तत्त्व सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहता है। इससे (उपादान-कारण की) दूसरी शर्त पूरी हो जाती है। इन शक्तियों का अनुभव करके तथा सूक्ष्म तत्त्व को स्थूल स्वरूप प्रदान करके ब्रह्म जगत् का उपादान कारण हो जाता है। निम्वार्क का सम्प्रदाय रामानुज के इस सिद्धान्त का खण्डन करता है कि जड़ और चेतन जगत् के रूप में ब्रह्म का संश्लिष्ट व्यक्तित्व है और इस संश्लिष्ट व्यक्तित्व के शारीरिक पक्ष के विकास के मामले में ब्रह्म उपादान कारण है। इस मत के और अधिक परिचय के लिए मैं दशश्लोकी का अनुवाद दे रहा हूँ।

१. जीव ज्ञान है, हरि पर आश्रित है, शरीर से संयुक्त या वियुक्त होने की दशा में रहता है, अणु है, भिन्न शरीरों में भिन्न २ है, ज्ञाता है तथा असंख्य है।

यह पर जीव को ज्ञान यह प्रदर्शित करने के लिए कहा गया है कि इसे ज्ञानेन्द्रियों के विना भी ज्ञान हो सकता है तथा यह नहीं समझना चाहिए कि आत्मा ज्ञान मात्र है, तत्त्व नहीं, जैसा कि शंकराचार्य का सिद्धान्त है।

२. माया या अनादि त्रिगुणात्मिका प्रकृति से संसर्ग के कारण जीवात्मा का स्वरूप विकृत हो जाता है। इसके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान भगवान् की अनुकम्पा द्वारा होता है।

जीवात्माएं दो प्रकार की हैं :—

(१) मुक्त या परमानन्दमयी स्थिति में,

(२) भव-चक्र में निबद्ध।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

प्रथम प्रकार की जीवात्माएं पुनः दो प्रकार की हैं :—

(१) जो कि (अ) गरुड़, विष्वक्सेन आदि तथा (ब) प्राणी रूप में माने गए मुकुट, कर्णाभूषण वंशी आदि के रूप में सदा ही परमानन्दमयी स्थिति में रहते हैं।

(२) वे जो जीवन-चक्र से मुक्त हैं। इनमें से कुछ तो ईश्वर सायुज्य प्राप्त करते हैं तथा कुछ अपनी आत्मा के स्वरूप के प्रत्यक्ष से ही संतुष्ट रहते हैं।

इन्हीं के अनुरूप मुमुक्षु भी तो प्रकार के हैं :—

(१) जो ईश्वर-सायुज्य प्राप्त करना चाहते हैं,

(२) जो आत्म-स्वरूप-साक्षात्कार से ही तुष्ट हैं।

३. अचेतन पदार्थ तीन प्रकार के हैं।

(१) जो प्रकृति से उद्भूत नहीं हैं,

(२) जो प्रकृति से उद्भूत हैं,

(३) काल

प्रकृति से उद्भूत वस्तुओं में रक्त धवल एवं कृष्ण वर्ण वाली सामान्य भौतिक वस्तुएं आती हैं।

प्रथम वर्ग में वे वस्तुएं आती हैं जिनका वर्णन आलङ्कारिक रूप से द्वितीय वर्ग की वस्तुओं के नामों का प्रयोग करके किया गया है। उदाहरणार्थ परमात्मा की सदृश प्रभा। यह प्रभा प्रकृति से समुद्भूत नहीं है। इसी प्रकार परमात्मा का शरीर कर, चरण, आभूषण तथा उद्यान प्रासाद सदृश पार्श्ववर्ती स्थल भी प्रथम वर्ग के हैं। वे जड़ हैं किन्तु प्राकृत नहीं।

४. मैं उस परब्रह्म कृष्ण का ध्यान करता हूं जो कमल-नयन हैं, जो प्रकृति से ही सर्वदोष-विनिर्मुक्त हैं, समस्त शुभ गुणों के आगार हैं, व्यूह जिनके अंश भूत हैं तथा जो सर्वपूजित हैं।

यहाँ पर उल्लिखित व्यूह वे ही हैं जो कि प्रायः पाञ्चरात्र और रामानुज के मतों में वर्णित हैं। भाष्यकारों ने व्यूह शब्द से अवतारों का भी ग्रहण किया है। एक भाष्यकार ने तो बड़ी संख्या में अवतारों का उल्लेख किया है और कतिपय सिद्धान्तों के आधार पर इन्हें श्रेणियों में विभक्त किया है। कृष्ण को वरेण्य या सर्ववन्दित कहा गया है क्योंकि वे दिव्य विग्रह एवं सौन्दर्य, कोमलता, माधुर्य एवं ओज जैसे शारीरिक गुणों से भूषित हैं। वस्तुतः सभी गुण अप्राकृत हैं यद्यपि तीसरे श्लोक के अनुसार ये अचेतन भी हैं।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

५. मैं वृषभानु की सुता (राधिका) का ध्यान करता हूँ जो कृष्ण ही के समान सौन्दर्य से जगमगाती हुई कृष्ण के वाम पार्श्व पर अनेक सखियों द्वारा उपसेवित हैं तथा जो सदैव समस्त अभीप्सित पदार्थों को देने वाली हैं।

६. आच्छादित करने वाले अज्ञानान्धकार से मुक्ति पाने के लिए मनुष्यों को सदैव इस पर ब्रह्म की पूजा करनी चाहिए। नारद इसी प्रकार के थे। उन्होंने सनन्दनादि द्वारा उपदिष्ट परम सत्य का प्रत्यक्ष साक्षात्कार किया था।

७. श्रुतियों और स्मृतियों के अनुसार ब्रह्म ही समस्त भूतों का आत्मा है अतः यह ज्ञान कि "ब्रह्म सब कुछ है" यथार्थ ज्ञान है। यह वेद जानने वालों का सिद्धान्त है। साथ ही साथ तीन स्वरूप भी सत्य हैं जैसा कि स्मृतियों और सूत्रों द्वारा निर्धारित किया गया है।

यहाँ पर "ब्रह्म सभी में है, सभी का नियन्ता है, तथा सभी की सत्ता एवं क्रियाएं उसी पर आश्रित हैं," इस रूप में समस्त वस्तुओं का अभेद तथा "जड़ जगत्, जीव तथा परमात्मा ये तीनों पृथक्-२ तत्त्व हैं" इस रूप में समस्त पदार्थों का भेद प्रतिपादित किया गया है।

८. कृष्ण के कमल सदृश एवं ब्रह्मदेव, शिव आदि द्वारा वन्दित चरणों के अतिरिक्त मुक्ति का अन्य कोई भी मार्ग प्रतीत नहीं होता। भक्तों की इच्छा पर वे ध्यान सुलभ स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं। उनकी शक्ति अचिन्त्य है तथा उनका सार अगोचर है।

९. उनकी अनुकम्पा का प्रसार दैन्य तथा अन्य गुणों से युक्त व्यक्तियों पर होता है तथा इसी द्वारा ऐसी भक्ति का उदय होता है, जिसमें इन अनीश्वर हरि के प्रति अनन्य प्रेम की भावना रहती है। यह भक्ति दो प्रकार की होती है :—एक परम भक्ति और दूसरी भक्ति वह है जो कि परम भक्ति की साधन भूत है।

दैन्य तथा अन्य गुणों से यहां रामानुज के मत के प्रसङ्ग में दिए गए भक्ति के ६ प्रकार अभिप्रेत हैं :—परमभक्ति के लिए साधनभूता साधन-भक्ति पूर्व खण्डों में उल्लिखित ६ या ९ प्रकारों जैसी है।

१०. भक्तों को निम्न ५ बातों का ज्ञान होना चाहिए :—

(१) जिनकी पूजा की जाती है, उसकी सत्ता के स्वरूप का ज्ञान

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

(२) उपासक का स्वरूप
(३) ईश्वरानुकम्पा का फल
(४) भक्ति से फलित आनन्दानुभूति और
(५) ईश्वर की प्राप्ति में प्रत्यवाय

परमात्मा, सच्चिदानन्द है, दिव्य विग्रह (अ-भौतिक शरीर) से युक्त है; व्योमपुर कहलाने वाले व्रज जैसे स्थानों में निवास करता है, समस्त भूतों का कारण है, सर्वशक्तिमान्, मृदु, दयालु तथा अपने भक्तों के प्रति अनुकम्पायुक्त है, इस रूप में परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान ही सत्ता के स्वरूप का ज्ञान है।

उपासक को अणु, ज्ञान एवं आनन्द से युक्त कृष्ण के दास आदि के रूप में जानना ही उपासक के स्वरूप का ज्ञान है।

आत्मनिक्षेप तथा आत्मनिक्षेप में परिणत होने वाली भगवत्-सेवा के अतिरिक्त अन्य समस्त कर्मों का परित्याग ही ईश्वरानुकम्पा के फल का ज्ञान है।

आनन्दानुभूति का उदय, शान्ति, सेवावृत्ति, सौहार्द, वात्सल्य एवं उत्साह से होता है। इन मनोदशाओं की परिणति ईश्वर के साथ प्रत्येक व्यक्ति के विशिष्ट सम्बन्धों के रूप में होती है। जैसे कि वात्सल्य, देवकी, वसुदेव तथा नन्द के भाव हैं और उत्साह राधा एवं रुक्मिणी के।

शरीर को आत्मा समझना, ईश्वर और अपने गुरु को छोड़ कर अन्यों पर आश्रित होना, शास्त्रों में उल्लिखित ईश्वर की आज्ञाओं के प्रति औदासीन्य, अपने विशिष्ट कर्तव्यों का परित्याग, अकृतज्ञता, अप्रशस्तरूप में जीवन-यापन, सद्पुरुषों की निन्दा तथा अन्य अनेक बातें ईश्वर प्राप्ति में प्रत्यवाय हैं।

इन्हीं दश श्लोकों में निम्बार्क के मत का सार निहित है। यह रामानुज के दर्शन पर आधारित तथा उसी का एकपक्षीय विकास प्रतीत होता है। इसमें ऊपर वर्णित छः प्रकार की प्रपत्तियों को प्राधान्य दिया गया है तथा ईश्वर विषयक प्रेम को ईश्वरानुकम्पा से ही जनित बतलाया गया है। इनकी साधन-भक्ति में रामानुज मत के समस्त योगों का ग्रहण कर लिया गया है। जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं, रामानुज ने भक्ति के मौलिक अर्थ को बदल दिया है तथा इसे उपासना या उपनिषदों में निर्धारित ध्यान जैसा बना दिया है। किन्तु निम्बार्क ने भक्ति का मौलिक अर्थ कायम रखा है। उनके सिद्धान्त रामानुजियों की टेङ्कलै या दाक्षिणात्य शाखा के अधिक समीप हैं। किन्तु इन दोनों महान् आचार्यों के मध्य का अन्तर यह है कि जहाँ रामानुज

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

ने स्वयं को नारायण एवं उनकी शक्तियों लक्ष्मी, भू तथा लीला तक सीमित रखा है वहीं निम्बार्क ने कृष्ण तथा सहस्रों सखियों से उपसेवित कृष्ण की शक्ति राधा को लगभग पूर्ण प्राधान्य प्रदान किया है। इस प्रकार हम वैष्णव धर्म के जिस चतुर्थ तत्त्व का उल्लेख कर चुके हैं, वह वैष्णव मत के धरातल पर उतरा और उन सम्प्रदायों के अतिरिक्त जिनके उपास्य देव राम हैं, कृष्ण नहीं, यह तत्त्व बङ्गाल समेत सारे उत्तर-भारत में फैल गया। अब हम रामोपासक सम्प्रदायों का विचार करेंगे। तदनन्तर कृष्ण मत पर पुनः आएंगे। निम्बार्क के सम्प्रदाय का नाम सनकसम्प्रदाय (सनक द्वारा प्रवर्तित मत) है। निम्बार्क यद्यपि दाक्षिणात्य थे किन्तु वे मथुरा के समीप वृन्दावन में रहे। यही कारण है कि उन्होंने वैष्णव धर्म में राधकृष्ण तत्त्व को प्राधान्य प्रदान किया। उनके अनुयायी समस्त उत्तर-भारत में फैले हैं किन्तु मथुरा और बङ्गाल में अधिक हैं। वे ललाट पर गोपीचन्दन से बनाई दो लम्बी रेखाओं को धारण करते हैं, जिनके मध्य में एक बिन्दु रहता है वे तुलसी की लकड़ी की कण्ठी और माला धारण करते हैं। संन्यासी और गृहस्थ इन दो वर्गों में विभक्त हैं। यह भेद हरिव्यासदेव के उपरान्त ही उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है जैसा कि मैंने एक टिप्पणी में उल्लेख किया है, इनके बाद निम्बार्क के उत्तराधिकारी दो शाखाओं में विभक्त हो गए थे। विभाजन का कारण संभवतः यह नया प्रभेद था।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

१५. रामानन्द्

हिन्दू समाज की निचली जातियों एवं वर्गों के प्रति सहानुभूति की भावना प्रारम्भ से ही वैष्णव धर्म की खास विशेषता रही है। फिर भी अभी तक हमने जिन महान् आचार्यों का वर्णन किया है, उन्होंने इन जातियों और वर्गों को वाह्य मण्डल या परिधि तक ही सीमित रखा हालांकि नूतन व्यवस्था जैसे इस संगठन के लाभों से वे भी लाभान्वित हुए। उनके लिए जैसा कि शुद्ध वेदान्तियों ने निर्धारित किया था, अपनी निम्न स्थिति के लिए निर्धारित कर्तव्यों को करने का बन्धन नहीं था, जिससे कि वे परवर्ती जन्मों में क्रमशः ऊपर को उठे और अन्ततो गत्वा ब्राह्मण के रूप में जन्म ग्रहण करें और तभी वे मोक्ष के लिए निर्धारित नियमों का लाभ उठा सकते हैं। भक्ति का आश्रय लेकर वे मोक्ष की प्राप्ति अधमतम जाति के सदस्य रहते हुए भी कर सकते हैं किन्तु रामानुज एवं अन्य ब्राह्मण आचार्यों ने वैदिक साहित्य के अध्ययन पर आधारित उपायों को केवल उच्च जातियों द्वारा ही आश्रयणीय बना दिया और अन्य उपाय अन्यों के लिए रखें। किन्तु रामानन्द ने मौलिक सुधार किए एवं ब्राह्मणों तथा निम्न जातियों के लोगों के बीच कोई भी भेद नहीं रखा। यहां तक सभी लोग एक साथ मिल कर भोजन भी कर सकते थे, बशर्ते कि वे विष्णु के भक्त हों और सम्प्रदाय में दीक्षित हो चुके हों। दूसरा सुधार, जो रामानन्द द्वारा प्रवर्तित माना जाना चाहिए, नूतन मत के प्रचार के लिए जनभाषाओं का प्रयोग था। तथा उनके द्वारा किया हुआ तीसरा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सुधार कृष्ण एवं राधा के स्थान पर राम-सीता की अधिक पवित्र और निर्मल पूजा को लागू करना था।

मैकोलिफ महोदय ने रामानन्द के जन्म-स्थान के रूप में मैलकोट का उल्लेख किया है तथा कहा है कि रामानन्द चौदहवीं सदी के अन्त में तथा पन्द्रहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में विद्यमान थे। वे कहते हैं कि यह तिथि उस गणना से मेल खाती है, जिसमें कबीर की जन्म तिथि १३९८ ई० बतलाई गई है। इससे तो रामानन्द का समय चौदहवीं सदी की परिसमाप्ति से काफी पूर्व हो जाता है क्योंकि कबीर इनसे परवर्ती थे और साधारणतया उनके शिष्य

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

भी माने जाते हैं। मैंने जिस साक्ष्य का उपयोग किया है उनमें बतलाया गया है कि रामानन्द प्रयोग में एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण के घर में उत्पन्न हुए थे। इन ब्राह्मण का नाम पुण्यसदन था तथा उनकी पत्नी का नाम सुशीला था। उनकी जन्म की तिथि ४४०० कलि संवत् दी गई है जो कि १३५६ विक्रम संवत् में पड़ती है। यह तिथि १२९९ या १३०० ई० में पड़ती है तथा इसकी संगति इस पारम्परिक अनुश्रुति से अधिक बैठती है कि रामानन्द और रामानुज के बीच तीन पीढ़ियों का अन्तर था। रामानुज की की मृत्यु तिथि प्रायः ११३७ ई० में बतलाई जाती है हालांकि इससे तो उनका जीवनकाल १२० वर्षों का हो जाता है। ११३७ एवं १३०० ई० के बीच तीन पीढ़ियों का बीत जाना ११३७ ई० एवं चौदहवीं सदी के बीच केवल तीन पीढ़ियों के अन्तराल की अपेक्षा अधिक तर्क संगत प्रतीत होता है। अत एव रामानन्द को चौदहवीं सदी के अन्त में रखना नितान्त असंगत है तथा मेरे द्वारा प्रयुक्त ग्रन्थ में उल्लिखित तिथि बहुत संभव है, ठीक हो।

ब्राह्मणोचित शिक्षा के लिए रामानन्द को प्रयाग से वाराणसी भेजा गया। इस शिक्षा को समाप्त करके वे रामानुज के विशिष्टाद्वैत मत के एक आचार्य राघवानन्द के शिष्य हो गए। कुछ समय के उपरान्त उन्होंने बिना किसी के देखे हुए भोजन करने जैसे कतिपय नियन्त्रित आचरणों का परित्याग कर दिया और अपने गुरु से सम्बन्ध तोड़ लिया तथा स्वयं एक सम्प्रदाय के संस्थापक बन गए। जैसे कि ऊपर बतलाया जा चुका है उन्होंने अपने शिष्य अधम जाति से भी बनाए। उनमें से तेरह प्रसिद्ध हुए और उनके नाम हैं:—

१. अनन्तानन्द
२. सुरसरानन्द
३. सुखानन्द
४. नरहरियानन्द
५. योगानन्द
६. पीपा
७. कबीर
८. भावानन्द
९. सेना
१०. धन्ना
११. गालवानन्द

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

१२. रैदास और
१३. पद्मावती।

इनमें से पापी राजपूत थे। कबीर शूद्र थे तथा उन्हें जुलाहे का पेशा करने वाला मुसल्मान भी कहा जाता है। सेना नाई थे, धन्ना जाठ थे; रैदास मोची या चमार थे और पद्मावती स्त्री थी। इनमें से प्रथम बारह शिष्यों के साथ उन्होंने तीर्थों का दर्शन करते हुए, मायावादियों, जैनों, बौद्धों आदि के साथ शास्त्रार्थ करके अपने विशिष्टाद्वैत मत की प्रतिष्ठा करते हुए, लोगों को अपने मत में दीक्षित करते हुए तथा उन्हें अपना शिष्य बनाते हुए रामानन्द ने देश का पर्यटन किया। कहा जाता है कि उनकी मृत्यु विक्रम संवत् १४६७ तदनुसार १४११ ई० में हुई। यह मानने से उनका जीवन काल १११ वर्षों का हो जाता है जो कुछ असम्भव सा लगता है। उनके कुछ शिष्य विभिन्न पन्थों के प्रवर्तक हुए और उनके जरिए रास की उपासना का प्रसार गोपाल कृष्ण की उपासना की ही भांति उत्तर तथा मध्य भारत के विस्तृत भू-भाग में हो गया।

———:o:———

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

१६. कबीर

कबीर के जन्म और जीवन के विषय में हमें परम्परा से जो कुछ विवरण प्राप्त हुए हैं, वे ये हैं कि कबीर एक ब्राह्मण विधवा के पुत्र थे। उस विधवा ने उन्हें जन्म लेते ही लोकं लाज से बचने के लिए बनारस में लहरतारा तालाब के निकट फेंक दिया था। संयोग वश उसी समय नीरू नामक एक मुसलमान जुलाहा नीमा नामक अपनी पत्नी के साथ उसी रास्ते से जा रहा था। नीमा ने शिशु को देखा और उसे घर ले गई। उसने तथा उसके पति नीरू ने कबीर का पालन पोषण किया और बड़े होने पर कबीर ने भी जुलाहे के पेशे को अपनाया। उनका झुकाव हिन्दू मत की ओर हुआ तथा रामानन्द को अपना गुरु या आचार्य बनाने का विचार उनके मन में उठा। परन्तु जब उन्हें यह असम्भव लगा कि वह साधु एक मुसलमान को शिष्य के रूप में भला कैसे स्वीकार करेंगे, उन्होंने एक युक्ति का सहारा लिया। वे गङ्गा के उस घाट पर जहाँ रामानन्द बहुत तड़के स्नान करते थे, लेट गए। रास्ते में रामानन्द उस बालक से भिड़ गए और बोल पड़े 'राम, राम' जिसे मैंने कुचल दिया वह कितना दीन प्राणी है? कबीर उठ खड़े हुए और उन्होंने 'राम राम' के उच्चारण को रामानन्द द्वारा उन्हें दिए गए मन्त्र के रूप में ग्रहण किया और उन्होने यह समझ लिया कि इस रीति से उन्हें शिष्य बना लिया गया है। एक दूसरा विवरण यह है कि पैर से कुचले जाने पर कबीर उठ खड़े हुए और जोर से चिल्लाये तब रामानन्द ने उन्हें शान्त रहने और 'राम' नाम का जप करने को कहा। यह सोच कर कि इस प्रकार उन्हें शिष्य बना लिया गया है, कबीर ईश्वर की आराधना में लग गए और उन्होंने यह घोषणा की कि वे रामानन्द के शिष्य हैं। कुछ हिन्दू रामानन्द के पास गए और उनसे पूछा कि क्या आपने कबीर को दीक्षित कर लिया है? इस पर रामानन्द ने कबीर को बुलवाया और उनसे पूछा कि मैंने तुम्हें कब दीक्षित किया है? कबीर ने उनसे घाट पर अपने कुचले जाने वाली घटना का स्मरण दिलाया। तब रामानन्द को उस घटना का स्मरण हुआ और उन्होंने कबीर को अपने हृदय से लगा लिया। तब से कबीर नियमित रूप से अपने गुरु के मठ में जाने लगे और पण्डितों के साथ होने वाले शास्त्रार्थ में उनका साथ देने लगे। कुछ समय तक कबीर मानिकपुर में रहे जैसा कि उनकी एक रमैणी में

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

उल्लिखित है। यहां पर उन्होंने शेख तकी तथा इक्कीस पीरों के यश को सुना। उन्होंने उनके उपदेश सुने, उनकी शिक्षा की निन्दा की और कहा :— 'ऐ शेख लोगो, जो भी तुम्हारा नाम हो, मेरी बात सुनो, अपनी आंखें खोलो तथा समस्त पदार्थों का आदि अन्त तथा उनकी रचना और विनाश देखो।" इस सम्प्रदाय की एक किताब में शेख तकी को कबीर का शत्रु, पीर तथा सिकन्दर लोदी का धार्मिक गुरु बतलाया गया है। उसकी सलाह से शाहंशाह सिकन्दर लोदी ने कबीर को यातनाएं दीं तथा उन्हें नष्ट करने के लिए विभिन्न उपाय किए। परन्तु कबीर चामत्कारिक रूप से मृत्यु के मुंह से बच निकले। संयोगवश सिकन्दर लोदी से उनका मेल भी हो गया और वे उनके कृपापात्र बन गए। कबीर की मृत्यु मगहर में हुई। हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच उनके मृत शरीर, जो कि कपड़े के एक चादर से ढका हुआ था, के अन्तिक संस्कार के विषय में झगड़ा उठ खड़ा हुआ। जब कपड़े का चादर हटाया गया तो शरीर तिरोहित हो चुका था और इसके स्थान पर फूलों की एक राशि विद्यमान थी। मुसलमानों ने फूलों का आधा भाग ले लिया और इसे मगहर में दफना दिया तथा इसके ऊपर एक कब्र बनवा दी। हिन्दू लोग अपना भाग बनारस ले गए जहां उसका दाह-संस्कार किया गया। कबीर का कमाल नामक पुत्र तथा कमाली नामक पुत्री थी। किन्तु कबीर ने इन्हें कैसे प्राप्त किया, इस सम्बन्ध में चामत्कारिक कहानियां हैं।

इस विवरण का कितना भाग ऐतिहासिक है और कितना काल्पनिक, कह सकना कठिन है। परन्तु इस बात को तथ्य के रूप में माना जा सकता है कि प्रारम्भ में वे एक मुसलमान जुलाहे थे। मुसलमान पीर शेख तकी जिसका उल्लेख उनकी एक रमैणी में है, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है—उनके प्रतिद्वन्द्वी थे और वे सिकन्दर लोदी के शासन काल के आसपास विद्यमान थे, इसे भी ऐतिहासिक माना जा सकता है। कबीर रामानन्द के शिष्य थे या नहीं, इसमें कुछ सन्देह है, जैसा कि अभी विचार किया जाएगा। श्री वेस्टकॉट इस बात को असम्भव नहीं मानते कि कबीर मुसलमान और सूफी दोनों ही रहे हों[1] किन्तु उनकी रचनाओं में हिन्दू धार्मिक साहित्य में प्राप्त होने वाले नामों, हिन्दू रीति-रिवाजों से पूर्ण परिचय प्राप्त होता है और इससे तो मुझे ऐसा लगता है कि उनके उपदेशों का आधार मुसलमान धर्म

१. जी० एच० वेस्टकॉट, कबीर एण्ड दि कबीर पन्थ, कानपुर १९०७, पृ० ४४

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

है, यह सिद्ध करने के लिए उनकी रचनाओं में बहुत कम या कुछ भी नहीं है। उनका आधार विशुद्ध रूप से हिन्दू प्रतीत होता है। कबीर एक दृढ़ और कभी न झुकने वाले सुधारक थे तथा उन्होंने पण्डितों, अपनी जाति पर अहङ्कार करने वाले ब्राह्मणों तथा हिन्दुओं के तत्कालीन सम्प्रदायों के उपदेशकों की भर्त्सना की और यहीं पर वे मुस्लिम धर्म से प्रभावित प्रतीत होते हैं।

विभिन्न लेखकों ने कबीर के जन्म और मृत्यु की जो तिथियां दी हैं वे परस्पर विरोधी हैं। वेस्टकॉट महोदय ने १४०० ई० से लेकर १५१८ ई० तक अर्थात् ७८ वर्षों तक जीवित रहने वाला बतलाया है[1]। मैकोलिक के अनुसार उनका जन्म सं० १४५५ तदनुसार १३६८ ई० में हुआ[2] और उनकी मृत्यु १५१८ ई० में हुई[3]। वे ११९ वर्ष पांच महीने और सत्ताईस दिनों तक जीवित रहे। एक पाद-टिप्पणी में उन्होंने एक मूल पुस्तक से शकाब्द १३७० तदनुसार १४४८ ई० को उनकी मृत्यु-तिथि के रूप में उद्धृत किया है। १४८८ ई० से लेकर १५१७ ई० तक सिकन्दर लोदी दिल्ली के सिंहासन पर आसीन था। ऊपर बतलाई तीन तिथियों में से अन्तिम का इस बात से मेल नहीं बैठता अत एव यह त्याज्य है। हम यह देख चुके हैं कि रामानन्द का जन्म १२९८ ई० में तथा मृत्यु १४११ ई० में बतलाई जाती है। यदि वेस्टकाट द्वारा बतलाई हुई कबीर के जन्म की तिथि सही है तो कबीर रामानन्द के शिष्य नहीं हो सकते। यदि मैकोलिफ द्वारा उल्लिखित तिथि मानी जाय तो यह किसी तरह सम्भव है कि वे रामानन्द के शिष्य बन गए हों, क्योंकि रामानन्द की मृत्यु के समय कबीर तेरह वर्षों के रहे होंगे। एक कथानक में उन्हें उस समय बालक ही बतलाया गया है जब वृद्ध महात्मा ने उन्हें शिष्य के रूप में स्वीकार किया था दोनों ही लेखकों द्वारा उनकी मृत्यु के लिए दी गई तिथि १५१८ ई० को सही माना जा सकता है। किन्तु यदि मैकॉलिफ द्वारा दी गई उनकी जन्म की तिथि को भी स्वीकार कर लिया जाता है तो हमें यह कल्पना करनी होगी कि कबीर ११९ वर्षों तक जीवित रहे। पिछले खण्ड में दी हुई तिथियों के अनुसार रामानन्द भी ११३ वर्षों तक जीवित रहे थे। क्या ये दोनों इतने लम्बे काल तक जीवित रहे होंगे ? इस पर सन्देह किया जा सकता है किन्तु जब तक अन्य प्रमाण प्राप्त नहीं हो जाते, मेकॉलिफ द्वारा दी हुई कबीर की तिथियों तथा रामानन्द की पूर्वोल्लिखित तिथियों को स्वीकार कर लेना चाहिए। इस प्रकार

१. वही, तिथिक्रम पृ० ७
२. दि सिख रिलीजन भाग ६, पृ० १२२
३. वही, पृ० १३९-४०

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

कबीर वास्तव में रामानन्द के शिष्य हुए थे यह स्वीकार किया जा सकता है, यद्यपि तेरह वर्षों की आयु में पण्डितों के साथ होने वाले अपने गुरु के शास्त्रार्थों में उन्होंने भाग नहीं लिया होगा। किन्तु कबीर की कृतियों में, जहां तक इन्हें मैंने देखा है, रामानन्द का नाम नहीं आता हालांकि परमात्मा के अर्थ में राम का नाम, राम के साथ जीव का सम्बन्ध एवं ईश्वर के देहरहित या निर्गुण होने के सिद्धान्त का खण्डन ये सभी बातें रामानन्द के सिद्धान्तों से ली गई होंगी, जो कि रामानुज के मत पर आधारित हैं।

अब हम कबीर के उपदेशों के प्रकाशक कतिपय स्थलों का अनुवाद दे रहे हैं[1] :—

पहली रमैणी[2]

१. जीव या जीवात्मा नामक एक तत्त्व अन्दर स्थित है, अन्तर्ज्योति इसे प्रकाशित करती है।

२. इसके बाद तृष्णा नामक एक नारी आई तथा इसे गायत्री कहा गया।

३. इस नारी ने ब्रह्मा, विष्णु और महेश, इन तीन सुतों को जन्म दिया।

४. तब ब्रह्मा ने उस नारी से पूछा कि 'तुम्हारा पति कौन है और तुम किसकी पत्नी हो?'

५. (उसने उत्तर दिया) 'तू' और 'मैं' 'मैं' और 'तू' और तीसरा कोई नहीं है। तू ही मेरा पति है और मैं तेरी पत्नी हूँ।

६. पिता और पुत्र दोनों की एक ही पत्नी थी तथा एक माता का द्विविध चरित्र था, ऐसा कोई भी पुत्र नहीं है जो कि एक अच्छा पुत्र हो जो अपने पिता को पहचानने का साहस करे।

दूसरी रमैणी

१. प्रकाश में शब्द था, जो एक नारी थी।

२, तथा उस नारी से हरि, ब्रह्मा और त्रिपुरारि (शिव) हुए।

३. तब ब्रह्मा ने एक अण्डे को रचा और इसे चौदह भुवनों में विभक्त कर दिया।

४-५. तब हरि, हर और ब्रह्मा तीन लोकों में बस गए और तब उन्होंने समस्त ब्रह्माण्ड ६ दर्शनों एवं ९६ मिथ्या दर्शनों की व्यवस्था की।

---

१. रीवां के महाराजा रघुराजसिंह की आज्ञा से सं० १९२४ में टीका सहित प्रकाशित संस्करण का यहां उपयोग किया है।

२. रमैणी एक छन्द है, जिसमें अनेक चौपाइयां और अन्त में एक साखी रहती है।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

उस समय वेदों का अध्यापन कोई भी जीविका के लिए नहीं करता था और तुरुक मुसलमानी कराने नहीं आता था।

यह नारी अपने गर्भ से बच्चों को जन्म देती थी। वे ही भिन्न-२ व्यक्ति बन गए और उन्होंने कर्मों के भिन्न-भिन्न मार्ग पकड़ लिए।

८. अत एव मैं और तूं एक ही रक्त के हैं, और एक ही जीवन है। भेद अविद्या-जनित है।

६. एक ही नारी से सभी निकले। तब वह कैसा ज्ञान है जो इनमें अन्तर बतलाता है।

(१३ साखी) कबीर का कहना है कि यह साधारण जगत् विनाशी है; राम के नाम को जाने बिना सभी प्राणी भवसागर में डूबे हुए हैं।

कबीर का सृष्टि-रचना सम्बन्धी विवरण—यह प्रतीत होता है :—राम की ज्योति में एक तत्त्व था जो कि जीवों की आत्मा की समष्टि के रूप में एक सूक्ष्म-तत्त्व था। तब उस ज्योति द्वारा वह तत्त्व प्रकाशित किया गया। फिर नारी के रूप में तृष्णा का आगमन हुआ, जिसकी संज्ञा उस समय गायत्री और शब्द हुई उससे सृष्टि का प्रारम्भ हुआ। इस प्रकार कबीर का विचार यह प्रतीत होता है कि जीवात्माओं का अस्तित्व एवं विकास उस तत्त्व से हुआ जो उनका सूक्ष्म रूप था। यह परमात्मा की इच्छा से हुआ जो (इच्छा) शब्द रूप में अभिव्यक्त हुई। कहने का तात्पर्य यह है कि परमात्मा जगत् का उपादान कारण नहीं है, प्रत्युत एक स्वतन्त्र सूक्ष्म सत्ता है। उपनिषदों की भाषा में जो विभिन्न रूपों में (बहुधा) हो गया, वह यही सूक्ष्म सत्ता थी न कि स्वयं परमात्मा। इस प्रकार कबीर का दर्शन अद्वैत वाद न होकर द्वैतवाद है। सभी प्राणी एक ही कारण से अस्तित्व में आए। एक ही रक्त और एक ही जीवन था। फलतः जातियों और प्रजातियों का प्रभेद बाद की कल्पना है। इस प्रकार कबीर इस भेद के विरोधी मालूम पड़ते हैं।

पांचवीं रमैणी

पहली पांच चौपाइयों का भावार्थ यह प्रतीत होता है कि हरि, हर और ब्रह्मा ने राम नाम के दो अक्षरों के सहारे समस्त ज्ञानों की आधारशिला रखी और फिर शनैः शनैः वेदों एवं कितावों की रचना होने लगी।

६-८. चारों युगों में भक्तों ने पन्थ चलाए किन्तु उन्हें इस बात का ध्यान नहीं रहा कि उन्होंने जिस गठरी को बांधा है वह फटी हुई है। भय-

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

भीत होकर लोग मोक्ष-प्राप्ति के निमित्त चारों दिशाओं में दौड़ने लगे। अपने ईश्वर को छोड़ कर वे नरक की ओर दौड़े।

आठवीं रमैणी

१. 'तत्त्वमसि' की शिक्षा उपनिषदों का सन्देश है।
२. वे इस पर बड़ा जोर देते हैं और जो योग्य हैं वे विस्तार पूर्वक इस (तत्त्वमसि) की व्याख्या करते हैं।
३. सनक एवं नारद परम तत्त्व को अपने से भिन्न मान कर आनन्द को प्राप्त हुए।
४. जनक और याज्ञवल्क्य के बीच हुए संवाद का यही आशय है तथा इसी मधुर भाव का आश्रयण दत्तात्रेय ने भी ग्रहण किया।
५. वशिष्ठ और राम ने मिलकर इसी बात का गायन किया और उद्धव को इसी बात की व्याख्या की गई।
६. जनक ने भी इसी बात का अनुमोदन किया और देह से युक्त होते हुए भी वे विदेह हुए।
७. साखीः—कोई भी मर्त्य जन्म का अभिमान त्यागे बिना अमर नहीं हो सकता। कोई भी मनुष्य जिसे अनुभव से नहीं देख पाता उसे अदृश्य या अगोचर समझा जाता है।

इस रमैणी में कबीर ने उपनिषदों तथा हिन्दू धार्मिक साहित्य की अन्य शाखाओं से अपना परिचय प्रदर्शित किया है अतः एव वे केवल सूफी एवं मुसल्मान नहीं रहे होंगे। उन्होंने परमातमा और जीवात्मा के मध्य के अभेद के सिद्धान्त का खण्डन किया है, जिसे छान्दोग्य उपनिषद् के 'तत्त्वमसि' वाक्य में प्रतिपादित किया हुआ समझा जाता है। भाष्यकार का कहना है कि 'तत्' को सोलह अवयवों से बना हुआ सूक्ष्म शरीर समझा जाना चाहिए और 'तत्त्वमसि' इस वाक्य का अर्थ है कि "तुम वही सूक्ष्म शरीर हो"। इस रमैणी में उल्लिखित सभी व्यक्तियों को कबीर के द्वैत का उपदेशक माना है।

चौदहवीं रमैणी में पुराणों में विद्यमान अनेक धार्मिक पन्थों तथा ब्रह्मा, हंस, गोपाल, शंभु, भूत, प्रेत और मुसलमानों ने नेवाज़ पर्यन्त विविध प्रकार की पूजाओं की निन्दा की हैं।

चौतीसवीं रमैणी

१. गुणों पर आधारित वेदों के अध्ययन के द्वारा पण्डित लोग अपने

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

सच्चे स्वरूप तथा सच्चे सखा (परमेश्वर) को नहीं जानते।

२. वे सन्ध्या, तर्पण पट्कर्म तथा ऐसे ही नाना उत्सवों को करते हैं।

३. चारों युगों में गायत्री का उपदेश दिया गया है। जरा पूछो तो किसने इसके माध्यम से मोक्ष पाया है ?

४. जब तुम्हें दूसरे लोग छू लेते हैं तो तुम स्नान करते हो। मुझे बताओ तो तुमसे अधिक पतित और कौन है ?

५. तुम्हें अपने गुणों का बहुत अधिक घमण्ड हैं। अत्यधिक घमण्ड भी अच्छा नहीं होता।

६. जिसका नाम समस्त गर्वों को नष्ट कर देता है वह गर्वयुक्त व्यवहार को कैसे सहन कर सकता है ?

७. साखी—अपने कुल की पारम्परिक पूजा-पद्धति को त्याग कर वे निर्वाण-पथ की खोज करते हैं। बीज और अङ्कुर का विनाश करने पर वे विदेह अथवा निर्गुण बन जाते हैं।

कबीर ने यहां पर ब्राह्मणों के धार्मिक-विधानों; संस्कारों, अन्य क्रिया कलापों, इनसे उत्पन्न होने वाले उनके दर्प-भाव, उनकी वह हेयदृष्टि जिससे वे अन्य जातियों को देखते हैं तथा निर्वाण की उनकी खोज अर्थात् निर्गुण स्थिति या उनके द्वारा अनुसृत अद्वैत मार्ग—इस सब की निन्दा की है।

चालीसवीं रमैणी

१. जल राशि समुद्र एक परिखा है और इसमें सूर्य, चन्द्र तथा तेंतीस करोड़ देवता हैं।

२. इस प्रकार के भव-चक्र में मनुष्य और देव पड़े हुए हैं और इसी में सुख की कामना करते हैं किन्तु वे दुःख के स्पर्श को नहीं त्याग सके हैं।

३. दुःख के रहस्य को कोई भी नहीं जानता और यह दुनिया विविध प्रकार से बावरी हो गई है।

४. हर मनुष्य स्वयं में मूर्ख या मुनि है और राम को कोई नहीं जानता है जो उसके हृदय में हैं।

५. साखी :—वे स्वयं हरि हैं, वे स्वयं ईश्वर हैं और वे स्वयं हरि के दास हैं, जहां पर कोई गारन्टी नहीं है तो नारी (मुक्त) निराश होकर लौट जाती है।

यहां पर पुनः एक बार विभिन मतों और उनको जन्म देने

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

वाले आत्म-विश्वास तथा हृदय में निवास करने वाले ईश्वर की उपेक्षा की निन्दा की गई है।

साखियां

(१)

३१ जिन मार्गों पर पण्डित जन चले थे लोग उन्हीं पर चले। राम के पास जाने की सीढ़ी बहुत ऊंची है। कबीर इस पर चढ़ गए हैं।

१३५ समस्त संसार अपने-२ पन्थ के प्रति पक्षपाती होने से भटक गया है। जो पक्षपात से मुक्त होकर हरि की उपासना करता है, वही बुद्धिमान साधु है।

१३८ बड़े लोग अपने बड़प्पन में ही खोए रहते हैं, उनके रोम-२ से घमण्ड टपकता है; जब तक बुद्धिमान गुरु नहीं मिलता, सभी लोग चमार की जाति के रहते हैं।

१४२ कलियुग एक दुष्ट युग है; संसार अन्धा है तथा कोई भी सच बात पर विश्वास नहीं करता। जिसे हितकारक परामर्श दिया जाता है, वही शत्रु बन जाता है।

२११ (शरीर, चञ्चल चित्त और चोर मन) ये तीनों एक तीर्थ में गए। उनके एक भी पाप का नाश नहीं हुआ, उलटे मन ने दस से और सम्बन्ध जोड़ लिया।

२६० कबीरों (सामान्य जनों) ने पत्थर और पत्थरियां पूज कर भक्ति के मार्ग को मलिन कर दिया, विष को अन्दर रखकर अमृत को बाहर फेंक दिया।

३५८ "मैं ही समस्त रचना का स्रष्टा हूँ। मुझ से श्रेष्ठ और कोई नहीं है" (ऐसा ही कुछ लोग सोचते हैं) कबीर कहते हैं कि जब मनुष्य यह नहीं जानता कि वह क्या है, तो वह सोचता है कि सभी कुछ उसी में है।

२६५ इस संसार में सभी अपने को राम समझते हुए चले गए, लेकिन कोई वास्तव में राम नहीं हुआ। कबीर कहते हैं कि जो राम का सच्चा स्वरूप समझते हैं, वे अपने सभी विषय प्राप्त कर लेते हैं।

२६६ यह संसार पागल हो गया है और यहाँ लोग ऐसी चीज के प्रति प्रेम की कल्पना करते हैं जो अनुभव का विषय नहीं हो सकती। वास्तविक अनुभव के समस्त साक्ष्यों का निषेध करते हुए वे विदेह आत्मा से अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

३७२ शून्य को देखकर लोग भटक गए और मृत्यु पर्यन्त वे सारी दिशाओं में उसकी खोज में भटकते फिरे किन्तु वे विदेह रूप नहीं पा सके।

(२)

६१ उद्यान के असंख्य फूलों द्वारा ललचाई हुई मधुमक्खी बाग में भटकती रहती है। इसी प्रकार जीवात्मा इन्द्रिय विषयों में भटकती रहती है और अन्त में निराश होकर चली जाती है।

६५ आत्मा, मन के लिए वैसी ही है जैसे कि मदारी के लिए बन्दर। तरह-तरह से नचाकर मन इसे फिर अपने हाथों में ले लेता है।

६६ चित्त चञ्चल, चोर और पूरा ठग है। देवता और ऋषि मन के ही कारण पतित हो गए। मन को लाखों छिद्र मिल जाते हैं।

यदि मनुष्य अपनी सम्पत्ति को त्याग देता है तो यह बहुत बड़ी बात नहीं है। अहंकार को त्यागा नहीं जा सकता है। अहङ्कार जिसने बड़े-२ ऋषि मुनियों को भटका दिया, सभी को खा लेता है। सोने और नारियों के पीछे दौड़ रहे लोग भ्रम जनित आसक्ति से जल रहे हैं। कबीर कहते हैं कि आग के सम्पर्क में आई रुई की भांति उनकी रक्षा कैसे हो सकती है?

१४७ ब्रह्मा, विष्णु, महेश, नारद, शारद, सनक और गौरीसुत गणेश, ये सभी माया की शक्ति के विषय बने।

२०६ किसी निरीह प्राणी को मत मारो, सभी का जीवन एक तरह का है। हत्या के पाप से तुम मुक्त नहीं होंगे, चाहे तुम करोड़ों पुराण सुनो।

(३)

१२२ जिसे पाने के लिए बड़े-बड़े साधु (मुनि) तपस्याएं करते हैं तथा जिसके गुणों का ज्ञान वेदों ने किया है, उसने स्वयं शिक्षा या उपदेश दिया है किन्तु उस पर कोई भी विश्वास नहीं करता।

२०८ एक अकेली निरीह आत्मा अनेकों बन्धनों में बंधी है। यदि ईश्वर जीव को मुक्त नहीं करेगा तो आत्मा के पास स्वयं को मुक्त कराने की शक्ति कहाँ है?

२४३ मैं (ईश्वर) उसे उपदेश देता हूँ किन्तु वह नहीं समझता और परायों के हाथ स्वयं को बेच देता है। मैं उसे अपनी ओर खींचता हूं किन्तु वह मृत्यु (यम)की पुरी की ओर भाग जाता है।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

२८१ यदि तुम एक (ईश्वर) की साधना करो तो सब वस्तुएं तुम्हें प्राप्त होंगी। यदि तुम वृक्ष की जड़ को सींचो तो तुम्हें फल और बीज प्रचुर मात्रा में प्राप्त होंगे।

३१० यदि तुम मुझे चाहते हो तो अन्य सभी वस्तुओं की इच्छाओं को त्याग कर मेरे बनो और तब सारी चीजें तुम्हारी अपनी हो जाएंगी

३३३ वह प्रत्येक शरीर में बैठा हुआ है और पूरी तरह से जागरूक है। जब जब कोई कुछ प्राप्त करना चाहता है तब वह उसमें उस प्रकार के विचारों को जन्म देता है (जो उसे सफलता-प्राप्ति में समर्थ बनाएं)।

यहाँ पर पहले वर्ग (की साखियों) में प्रचलित धार्मिक सिद्धान्तों की निन्दा है, द्वितीय वर्ग में कबीर की आचरण-सम्बन्धी शिक्षाओं का नमूना है, और तृतीय वर्ग में इस बात की व्याख्या है कि मनुष्य की मुक्ति के लिए ईश्वर की कृपा किस प्रकार कार्य करती है। अतएव कबीर जितने अधिक रचनात्मक सुधारक थे उतने ही अधिक विध्वंसक भी। प्रथम वर्ग की साखी सं० ३६० में कबीर मूर्तिपूजा की निन्दा करते हैं। अत एव उन्होंने जिस धर्म का प्रचार किया वह विशुद्ध आध्यात्मिक भक्ति का धर्म था। आज तक उनके अनुयायी जिस पूजा-पद्धति का प्रयोग करते हैं उसमें केवल भजन और प्रार्थनाएं ही रहती हैं। कबीर ने एक पन्थ की स्थापना की और इस पन्थ के मठ भारत के कई भागों में पाए जाते हैं। प्रधान मठ बनारस में है जिसकी शाखा गोरखपुर जिले के मगहर में भी है, जहाँ उनकी मृत्यु हुई थी। कहा जाता है कि मगहर वाला मठ एक मुसलमान महन्त की देख रेख में है। दूसरे मठ की स्थापना कबीर के प्रमुख शिष्य धर्मदास[1] ने की थी, जो मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ़ के जिलों के थे। कबीर के अनुयायी प्रधानतया निम्न जातियों में पाए जाते हैं किन्तु सभी वैष्णव, चाहे वे किसी भी जाति या वर्ण के हों, कबीर का अत्यधिक सम्मान करते हैं।

---

१. विस्तार के लिए देखिए जी० एच० वेस्टकॉट द्वारा लिखित कबीर एण्ड दि कबीर पन्थ

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

१७. अन्य रामानन्दी

मलूकदास, जो अकबर के शासन काल के अन्त के आसपास अर्थात् सोलहवीं सदी के अन्त के लगभग विद्यमान थे, राम के उपासक थे। यह परम्परा सही प्रतीत होती है कि रामानन्द के सम्प्रदाय के थे। कबीर के समान वे भी मूर्ति-पूजा के विरोधी जान पड़ते हैं क्योंकि एक पद्य में, जिसे मैंने देखा है उन्होंने ऐसे नर और नारियों की खिल्ली उड़ाई है, जो मूल्यवान् धातुओं को गढ़ कर देवता बनाते हैं, उसकी पूजा करते हैं और जब जरूरत आ पड़ती है उसे धातु की ही कीमत में बेच देते हैं। मलूक कहते हैं कि उनके ज्ञानी गुरु ने उन्हें सत् मार्ग दरसाया। मलूकदास के सम्प्रदाय के सात मठ हैं तथा उनके मानने वाले गृहस्थ आश्रम में रहने वाले हैं।

दादू अहमदाबाद के एक रुई धुकने वाले थे। बारह वर्ष की आयु में वे सम्भर चले गए और अन्त में वे जयपुर से लगभग २० कोस की दूरी पर स्थित नरैना में बस गए। वे अकबर के शासन-काल के अन्त में लगभग १६०० ई० के आसपास हुए। उनके सिद्धान्त कबीर के सिद्धान्तों जैसे ही प्रतीत होते हैं। एकमात्र पूजापद्धति जप या राम नाम का उच्चारण था। इस मत में राम मूर्तियों की पूजा नहीं की जाती तथा यह पन्थ मन्दिर भी खड़े कहीं करवाता। दादू ने राम में विश्वास, उनसे प्रेम और उनका ध्यान करने का उपदेश दिया है। उनके अनुयायी ३ वर्गों में विभक्त थे :—

१. विरक्त,
२. नागा और
३. बिस्तरधारी

विरक्त संन्यासी होते हैं, नागा आयुध धारण करते हैं तथा सैनिकों की भांति राजाओं के यहाँ नौकरी करते हैं। बिस्तरधारी साधारण जीवन व्यतीत करते हैं।

रामानन्द के ही एक दूसरे शिष्य रैदास एक पन्थ के संस्थापक थे जिसके मानने वाले चमार जाति में पाए जाते हैं। अपनी भक्तमाल में नाभा जी ने उनके विषय में अनेक आख्यान बतलाए हैं। रोहिदास नाम से महाराष्ट्र में लोग उन्हें जानते हैं तथा उनका सम्मान करते हैं तथा सन्तों की जीवनी लिखने वाले मराठा लेखक महीपति ने उनके विषय में पूरे एक अध्याय में लिखा है।

रामानन्द के एक शिष्य सेना नाई ने भी एक सम्प्रदाय चलाया था। वे भी महाराष्ट्र में प्रसिद्ध हैं।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

१८. तुलसी दास

उत्तर भारत में राम-भक्ति के प्रचार में योगदान करने वाले दूसरे प्रसिद्ध व्यक्ति तुलसीदास थे जिनका उल्लेख अब हम संक्षेप में करेंगे। तुलसीदास सरवरिया या सरयूपारीण ब्राह्मण थे तथा इनका जन्म सं० १५८९ तदनुसार १५३२ ई० में मूल नक्षत्र में हुआ था। माता पिता ने उनका परित्याग कर दिया और एक साधु ने उन्हें पाला पोसा और इन्हीं के साथ तुलसीदास ने भारत के अनेकों स्थानों की यात्रा की। उनके पिता का नाम आत्माराम शुक्ल दुबे, माता का नाम हुलसी तथा उनका अपना नाम राम बोला था। उनके श्वसुर, दीनबन्धु पाठक नाम के एक व्यक्ति थे तथा उनकी पत्नी का नाम रत्नावली था। उनके पुत्र का नाम तारक था।

तुलसीदास ने अपने महान् ग्रन्थ रामचरितमानस जिसका जनप्रचलित नाम रामायण है—की रचना का आरम्भ अयोध्या में १५७४ ई० में किया तथा इसे बनारस में पूर्ण किया। उन्होंने ग्यारह ग्रन्थ रचनाएं लिखीं जिनमें ६ तो कुछ लघु आकार वाली हैं। तुलसीदास कबीर की भांति प्रबल सुधारक नहीं थे और न ही ऐसा ही लगता है कि उन्होंने किसी सम्प्रदाय की स्थापना की या किसी विशिष्ट वेदान्त सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इस मामले में वे इस देश में होने वाले अन्य व्यक्तियों की तरह भक्तिमार्ग के एक आचार्य थे। यह भक्ति-मार्ग द्वैतपरक है किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से उसका झुकाव अद्वैत मत के आत्माद्वैतवाद की ओर है। तुलसीदास की मृत्यु १६३२ ई० में हुई।[1]

अब मैं तुलसीदास की शिक्षाओं की संक्षिप्त बानगी रामसतसई से दे रहा हूँ। इसकी रचना का आरम्भ, जैसे कि प्रथम अध्याय के २१वें दोहा में बतलाया गया है, सम्वत् १६४२ (तदनुसार १४८५ ई०) के वैशाख शुक्ल नवमी गुरुवार को हुआ।

अध्याय १

दोहा ३—परमात्मा और परमपद राम ही हैं कोई दूसरा नहीं, तुलसी ऐसा समझते है उन्होंने ऐसा ही सुना भी है।

---

१. विस्तार के लिए देखिए, डा० ग्रियर्सन का लेख, इण्डियन एण्डिक्वेरी भाग १२

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

दोहा ४—सब का मङ्गल करने वाले राम स्वयं समस्त कामनाओं से मुक्त हैं। वे सभी कामनाओं को पूरा करते है, सभी के हितैषी हैं, ऐसा सन्तों का कहना है।

दोहा १५—तुलसी अनुभव करते हैं कि राम के रोम-रोम में अनन्त ब्रह्माण्ड हैं। वे शुद्ध, निर्विकार और परम शक्तिमान् हैं।

दोहा ६—मंगलमयी जानकी जगत् की माता हैं—और राम जगत्-पिता। दोनों ही कृपालु हैं। उनकी कृपा पाप का अपसारण करती है और चेतना को जन्म देती है (सद्-असद् विवेक प्रदान करती है)

दोहा ४४—जहां राम हैं वहां (बुरी) बासना नहीं है और जहां (बुरी) वासना है वहाँ राम कैसे हो सकते हैं? हे तुलसी! भला सूरज और रात एक साथ कैसे रह सकते हैं।

दोहा ४५—जब राम दूर हैं तब माया प्रवल रहती है, जब उनको जान लिया जाता है, माया क्षीण हो जाती है। जब सूर्य दूर रहता है, छाया लम्बी रहती है, किन्तु जब सूर्य सिर पर रहता है, छाया पैरों के नीचे हो जाती है।

दोहा ४८—तुलसी कहते हैं, "अगर राम के प्रति प्रेम न हो तो सब ज्ञान चूल्हे में झोंक दिया जाता है, तथा यम ज्ञान को ले जाता है और निगल जाता है प्रत्येक वस्तु जल कर खाक हो जाती है और मूल ही नष्ट हो जाता है"।

अध्याय २

दोहा १७—तुलसी कहते हैं। "भगवान् की अवज्ञा करने से मनुष्य अपने तथा अपने सम्बन्धियों पर आपत्तियाँ बुलाता है। राज्य करता हुआ कौरव राजा अपनी सेना और वंश के सहित धूल में मिल गया"।

दोहा १८—तुलसी कहते हैं, "मधुर वचनों से सर्वतः मंगल होता है। यह ऐसा जादू है कि सब को वश में कर लेता है। इसलिए कटु वचन मत बोलो"।

दोहा १८—"राम की कृपा से मनुष्य को आनन्द की प्राप्ति होती है तथा इसके बिना आनन्द चला जाता है। तुलसी कहते हैं कि यह जानते हुए भी दुर्जन राम की कृपा से जी चुराते हैं।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

अध्याय ४[1]

८२ (८६ बि० ३०)—उत्तम धारणा-शक्ति को गिरा या सरस्वती कहते हैं तथा अक्षय धर्म ही वट वृक्ष है। धर्म में पापनाशिनी नदियों के त्रिक का सङ्गम होता है। हे तुलसी, इनमें अरुचि मत रख और इन्हें स्वीकार कर।

टीकाकार ने त्रिक का अर्थ कर्म, ज्ञान और भक्ति (इन तीनों का समुदाय) किया है।

८३ (९० बि० ३०) (इन तीन नदियों के संगम में) नहा कर अर्थात् विवेक पूर्वक इस त्रिक का सेवन करने से शुद्धि हो जाती है। अनाचार की धूल धुल जाती है। और राम पद सुलभ हो जाता है।

८४ (९१ बि० ३०)—क्षमा पवित्र वाराणसी है। भक्ति पवित्र देव-नदी गङ्गा जैसी है और विमल ज्ञान विश्वेश्वर है तथा पार्वती स्वरूपा करुणा के साथ ये सब मिलकर सुशोभित होते हैं।

टीकाकार का कहना है कि जैसे गंगा, विश्वेश्वर और पार्वती से युक्त काशी मुक्तिदायिनी है वैसे ही क्षमा, भक्ति, ज्ञान और करुणा भी मुक्ति देने वाली है।

८५ (बि० ३०) वाराणसी उससे दूर नहीं है जिसका हृदय क्षमारूपी घर में निवास करता है। अरे तुलसी, इस वाराणसी में भक्ति के रूप में दिव्य गङ्गा शोभायमान है, जिससे अनेकों पुण्य होते हैं।

८६ (९४ बि० ३०) काशी महीने का शुक्लपक्ष तथा मगध महीने का कृष्ण-पक्ष है, जिसमें काम, लोभ, मोह और मद निवास करते हैं। अरे तुलसी क्या लाभप्रद है और क्या हानिकारक है इस पर अच्छी तरह विचार करके दिन कीं सभी घड़ियों में जहाँ रहना हो तय करले।

काशी, ऊपर उल्लिखित चार गुणों से सम्बद्ध है तथा मगध यहाँ पर उल्लिखित दुर्गुणों से। अतः यहाँ मनुष्य को जो लाभप्रद है उसे करने तथा जो हानिकारक है उसे छोड़ने का उपदेश दिया गया है।

८७ (९४ बि० ३०) जो चला गया है वह फिर लौटकर नहीं आएगा। अत एव ज्ञान को अवश्य प्राप्त करो। अरे तुलसी, जो बात आज है वह कल

---

१. यहाँ इन संस्करणों का उपयोग किया है
(अ) १८८६ में लखनऊ में नवलकिशोर द्वारा प्रकाशित
(आ) बिब्लियोथिका इण्डिका में १८९७ में प्रकाशित

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

भी रहेगी, इसलिए सब मोह त्याग दे।

इसका भावार्थ यह प्रतीत होता है कि दीर्घसूत्रता में समय नष्ट मत करो, तुरन्त भक्ति आरम्भ कर दो।

८८ (९५ बि० ३०) अतीत और भविष्य दोनों वर्तमान पर अवलम्बित हैं। अरे तुलसी, सन्देह न कर। जो वर्तमान में है पहले उसी को पूरा कर।

८९ (९६ बि० ३०) अच्छी आत्मा मानस (सरोवर) है। उसमें राम की मधुर कीर्ति का निर्मल जल है। उसमें नहाने से पापों का प्रक्षालन हो जाता है और हृदय शुद्ध हो जाता है। बुद्धिमान के लिए यह प्रशान्त जल अप्राप्य नहीं है।

अभिप्राय यह है कि अच्छी आत्मा में राम-भक्ति के प्रति रुचि उत्पन्न होती है और भक्ति का उदय होने पर आत्मा शुद्ध हो जाती है।

इन अनुच्छेदों के अनुसार यह स्पष्ट है कि तुलसीदास के अनुसार राम परमेश्वर हैं तथा उनकी कृपा से मनुष्य पवित्र और आनन्दित होता है। अत एव उनकी उपासना करनी चाहिए। जहाँ वे हैं वहां पाप नहीं है और इस लिए मन की शुद्धि के लिए उनका ध्यान और चिन्तन करना चाहिए। तुलसीदास का कथन है कि ईश्वर को पाने के लिए प्रायः जिन मार्गों का अनुसरण किया जाता है, वे समर्थ ही नहीं हैं अतः वे त्याज्य हैं।

———

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

१६. वल्लभ

अब हम अपना ध्यान गोकुल के कृष्ण की अधिक व्यापक और एकनिष्ठ उपासना की ओर मोड़ रहे हैं। इसके संस्थापक वल्लभ थे। वे लक्ष्मणभट्ट नामक एक तैलङ्ग ब्राह्मण के पुत्र थे जो कि कृष्ण यजुर्वेद के छात्र थे तथा तेलुगु देश में कानकरव नाम गांव में रहते थे। एक समय लक्ष्मणभट्ट अपनी पत्नी एलमागार के साथ तीर्थयात्रा के लिए बनारस गए। रास्ते में एलमागार ने विक्रम संवत् १५३३ तदनुसार १४७६ ई० में वैशाख कृष्ण की एकादशी के दिन एक पुत्र को जन्म दिया[1]। इस पुत्र का नाम वल्लभ हुआ। वल्लभ कुछ समय तक वृन्दावन में रहे और कुछ समय तक मथुरा में। कहा जाता है कि लगभग इसी काल में गोपाल-कृष्ण देवदमन नाम से (जिन्हें श्रीनाथ जी भी कहते हैं) गोवर्धन-पर्वत पर प्रकट हुए थे। भगवान् ने स्वप्न में वल्लभ से वहाँ पर आने और उनका दर्शन करने को यह सूचित करते हुए कहा कि "जब मैं कृष्ण-रूप में अवतरित हुआ था उस समय के गोकुल के मेरे सखाओं ने अब वर्तमान में पुनः जन्म लिया है। तुम आओ और उन्हें मेरा परिचारक बनाओ, जिससे मैं उनके साथ पहले की तरह लीला कर सकूँ"। तदनुसार वल्लभ वहाँ गए और उन्होंने देव-दमन या श्रीनाथ जी का दर्शन किया। श्रीनाथ जी ने उन्हें एक देवायतन बनवाने की तथा अपनी पूजा की उस पद्धति का प्रसार करने की आज्ञा दी जिसके बिना कोई भी व्यक्ति पुष्टिमार्ग, जिसकी स्थापना स्वयं वल्लभ ने की, में प्रवेश करने का अधिकारी नहीं हो सकता। इसका अर्थ यही प्रतीत होता है कि वल्लभ ने अपने मत का सम्बन्ध श्रीनाथ जी नाम से विश्रुत कृष्ण के विशिष्ट स्वरूप के साथ जोड़ा[2]।

वल्लभ का वेदान्त-सिद्धान्त विष्णु स्वामी नामक उनसे पूर्ववर्ती एक अन्य लेखक जैसा ही था। इन विष्णु स्वामी को दिल्ली के शाहंशाह के अधीनस्थ एक द्रविड़ राजा के मन्त्री का पुत्र बतलाया जाता है। नाभा जी ने अपनी 'भक्तमाल' में ज्ञानदेव, नामदेव, त्रिलोचन और वल्लभ को विष्णु

---

१. यज्ञेश्वर, आर्यविद्यासुधाकर
२. द्रष्टव्य हरिराय महाराज, गोवर्धन प्राकट्य की वार्ता। संवत् १६३५ पृ० ११

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

स्वामी का उत्तराधिकारी बतलाया है। प्रथम उत्तराधिकारी ज्ञानदेव हैं जिन्हें उनके सम्प्रदाय का अनुयायी बतलाया गया है। वे एक ऐसे मनुष्य के तीन पुत्रों में से एक थे जो संन्यास आश्रम में प्रविष्ट होने के उपरान्त पुनः गृहस्थ बन गया था। इसी कारण से ज्ञानदेव को जाति-बहिष्कृत कर दिया गया था और उन्हें वेदों के अध्ययन की अनुमति नहीं दी गई थी। किन्तु अपनी अद्भुत शक्ति द्वारा उन्होंने एक महिष से वेद-मन्त्रों का उच्चारण करवाया। यह कहानी भगवद्गीता पर जनभाषा में टीका लिखने वाले महाराष्ट्र के ज्ञानदेव की कथा से मिलती जुलती है। किन्तु मराठा लोगों को विष्णु स्वामी के उनके गुरु या शिक्षक होने अथवा ज्ञानदेव के उनके उत्तराधिकारी होने की बात का ज्ञान नहीं है। किन्तु यदि नाभाजी द्वारा उल्लिखित परम्परा सही है तो विष्णु स्वामी तेरहवीं सदी के मध्य भाग के आसपास विद्यमान रहे होंगे। ऊपर निर्दिष्ट टीका की तिथि भी शकाव्द १२१२ तदनुसार १२९० ई० है।

विष्णु स्वामी का वेदान्त सिद्धान्त, जो कि वल्लभ के वेदान्त-सिद्धान्त से भिन्न नहीं है, इस प्रकार है :—आदि ब्रह्म आनन्द अनुभव नहीं कर रहा था क्योंकि वह एकाकी था (बृ० उ० १.४.३) तथा अनेक होने की कामना करते हुए वह स्वयं जड़ जगत्, जीवात्मा और अन्तर्यामी आत्मा बन गया। ये सब उससे उसी प्रकार निकले जैसे कि अग्नि से स्फुल्लिङ्ग निकल पड़ते हैं तथा ये सब उसी के अंश हैं (मु० उ० २,१)। अपनी ही असीम शक्ति द्वारा उसने जड़ जगत् में चित् एवं आनन्द तथा जीवात्मा में आनन्द नामक तत्त्व को अदृश्य व तिरोहित बना दिया जबकि अन्तर्यामी आत्मा में समस्त गुण व्यक्त हैं। इस प्रकार शुद्ध ब्रह्म में आनन्द सर्वथा विद्यमान रहता है।[1]

वल्लभ-सम्प्रदाय की दो रचनाओं से निम्नलिखित विवरण एकत्रित किया गया है[2] :—

ब्रह्म, समस्त जगत् का उपादान कारण है। ब्रह्म से स्पष्टतया भिन्न रूप में सांसारिक पदार्थों के रूप का दर्शन अविद्या या भ्रम के कारण तथा ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप के अव्यक्त रहने के कारण होता है। जीवात्मा, ब्रह्म से अभिन्न, उसी का एक अंश तथा अणु है। सच्चिदानन्दमय अक्षर (ब्रह्म) से अंश उसी प्रकार निकलते हैं जैसे कि अग्नि से स्फुल्लिङ्ग। उनमें सत् अंश का प्राधान्य होने से आनन्द अंश तिरोहित हो जाता है और इस प्रकार

---

१. श्री निवास सकलाचार्यमतसंग्रह, चौखम्भा ग्रन्थमाला
२. गिरिधर—शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, बालकृष्णभट्ट—प्रमेयरत्नार्णव, चौखम्भा ग्रन्थमाला

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

जीवात्माएँ सत् एवं चित् से समन्वित होती हैं। जीवात्मा परमात्मा का माया जैसी किसी तीसरी शक्ति द्वारा रूपान्तरित कोई विकार नहीं है अपितु परमात्मा जैसा ही एक तत्त्व है। अन्तर यही है कि जीवात्मा में एक गुण अव्यक्त है। इस प्रकार दोनों के मध्य जो सम्बन्ध है वह अद्वैत का ही है। दोनों ही शुद्ध एवं अविकृत हैं। इस प्रकार यह शुद्ध आत्माओं का अद्वैत (शुद्धाद्वैत) है। जीवात्मा दो प्रकार की है :—

१. भव-चक्र में संसरण करने वाली

२. जीवन-चक्र से विमुक्त

इनमें से प्रथम जीव अपने इस भ्रम के परिणाम स्वरूप दुःखों में फंसे हैं कि उनके शरीर और इन्द्रियां ही उनकी आत्मा हैं। वे तब तक इस स्थिति में रहते हैं, जब तक उन्हें ज्ञान प्राप्त नहीं हो जाता, जगत् की नश्वरता का दर्शन नहीं हो जाता तथा वे स्वयं को ध्यान में एवं भगवान् के प्रेम में नहीं लगा देते। मुक्त जीव वे हैं :—

(१) जो अपनी पूर्व-अवस्था में अज्ञान या भ्रम का अपनयन करके मुक्त हो चुके है जैसे कि सनक आदि,

(२) जो व्यापी-वैकुण्ठ[1]—जहां पर वे भगवान् की कृपा से शुद्ध ब्रह्म की स्थिति प्राप्त कर लेते हैं—को छोड़ कर भगवान् के अन्य लोगों में निवास करते हैं।

(३) कुछ मुक्त-जन ऐसे भी हैं, जो दैवी-प्रकृति से युक्त हैं तथा सज्जनों की सङ्गति में आकर तब तक भगवान् की भक्ति के विभिन्न मार्गों का अनुसरण करते हैं जब तक कि उनके हृदय में भगवान् के प्रति शुद्ध ऐकान्तिक प्रेम का उदय नहीं हो जाता है और अन्ततः वे भगवान् की शाश्वत लीलाओं और रसकल्लोल में उनके सखा नहीं बन जाते। यही परम मोक्ष है। जो जीवात्माएं दैवी भाव से युक्त नहीं हैं तथा जिनमें पाप-वृत्ति का प्राधान्य है वे

---

१. व्यापी-वैकुण्ठ जगत् के त्राता विष्णु के वैकुण्ठ के ऊपर स्थित है। यहाँ पुरुषोत्तम का निवास है जो अपने अनेक प्रकार के भक्तों के लिए नाना रूप धारण करते हैं। जिनमें भक्ति चरम अवस्था पर पहुँच जाती है और व्यसन बन जाती है उनके लिए वे लीलाधारी कृष्ण के रूप में प्रकट होते हैं। व्यापी-वैकुण्ठ में वृन्दावन सहित समस्त गोकुल है। इस वृन्दावन में दूर दूर तक फैले वृक्ष, लता कुंज और यमुना नदी है। भक्त इसी वृन्दावन में जाते हैं और कृष्ण इनके साथ लीला करते हैं।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

सदा ही भव-चक्र में भटकती रहती हैं। दैवी प्रकृति से युक्त आत्माएं दो प्रकार की हैं :—

(१) जो कतिपय नैतिक नियमों के विषय बन जाते हैं (मर्यादा जीव),

(२) जो पूर्णतया ईश्वर की कृपा पर अवलम्बित हैं (पुष्टि जीव)।

ये दोनों ही मुक्ति प्राप्त करते हैं किन्तु इन दोनों के मध्य वैसा ही अन्तर है जैसा ऊपर बतलाए गए आत्माओं के द्वितीय और तृतीय प्रकार में है तथा जिसकी और अधिक व्याख्या आगे की जाएगी।

श्रीकृष्ण परब्रह्म है। उनके कर और चरण साधारण पदार्थों से निर्मित न होकर (अप्राकृत) दिव्य हैं। उनका विग्रह (शरीर) सच्चिदानन्दमय है। वे समस्त प्राणियों में सर्वोत्कृष्ट होने से पुरुषोत्तम कहलाते हैं और उनमें वे समस्त गुण हैं जो साधारण न होकर दैवी हैं। उनकी समस्त लीलाएं शाश्वत हैं। अपनी चार या दो भुजाओं से वे विशाल वनों युक्त वृन्दावन से विभूषित अपने व्यापी-वैकुण्ठ में अपने भक्तों के साथ लीला करते हैं। इस प्रकार कृष्ण परमानन्द हैं। उनकी इच्छा से उनका सत्त्व अंश उनके आनन्द अंश का अभिभव करता है तथा अक्षर रूप में वे समस्त कारणों के कारण हैं और जगत् के स्रष्टा हैं। यह अक्षर ब्रह्म दो प्रकार का है :—

(१) जिसे भक्तजन पुरुषोत्तम-पद—जिसमें व्यापी-वैकुण्ठ आदि समस्त लोकों के चिह्न हैं—के रूप में देखते हैं तथा

(२) मुक्त-जनों को यह रूप सच्चिदानन्दमय देश-काल से परे स्वप्रकाश और गुणातीत रूप में दिखलाई पड़ता है।

अत एव जिस रूप में मुक्त जन इन्हें देखते हैं, उसमें सभी गुण तिरोहित रहते हैं या ऊपर बतलाई गई असीम शक्ति द्वारा अदृश्य कर दिए जाते हैं। इस लिए इन गुणों की सत्ता में सन्देह नहीं करना चाहिए। ब्रह्म निर्गुण कहे जाने का तात्पर्य यही है। इस प्रकार परमात्मा के (१) पुरुषोत्तम (२-३) यहाँ पर उल्लिखित दो प्रकार के अक्षर रूप, ये तीन प्रकार के स्वरूप हैं। पुरुषोत्तम सभी का नियमन करते हैं। उनका वह रूप जो सूर्य, देवताओं और पृथ्वी इत्यादि में रहता है, अन्तर्यामी कहलाता है। यही अन्तर्यामी उन विभिन्न रूपों में अवतार ग्रहण करते हैं, जिनका सामान्यतया उल्लेख किया जाता है। कृष्ण का दैवी सत्त्व गुण विष्णु बन जाता है, और इसी रूप में वे सब के रक्षक हैं। इसी प्रकार रज और तम ब्रह्मदेव और शिव का स्वरूप धारण करते हैं तथा सृष्टि और प्रलय का कार्य करते हैं।

पुष्टि भगवान् का अनुग्रह है जो कि इससे प्राप्त होने वाले उन फलों

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

द्वारा अनुमेय है जो साधारण या ऐहलौकिक तथा असाधारण या पारलौकिक दो प्रकार के हैं। महापुष्टि वह है जो बड़े-२ विघ्नों का अपनयन करती है तथा स्वयं भगवान् की प्राप्ति कराती हैं। पुष्टि व्यक्ति को जीवन के चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति करने के योग्य बनाती है। महापुष्टि, भक्ति की ओर उन्मुख करती है जिससे ईश्वर की प्राप्ति होती है। इस महापुष्टि द्वारा जनित भक्ति पुष्टि भक्ति कहलाती है। इस प्रकार की भक्ति द्वारा उत्पन्न मनोदशा में अन्य समस्त वस्तुओं को छोड़ कर केवल भगवान् की प्राप्ति की इच्छा रहती है। यह पुष्टि भक्ति चार प्रकार की है :—

१. प्रवाह पुष्टि-भक्ति,

२. मर्यादा पुष्टि-भक्ति,

३. पुष्टि पुष्टि-भक्ति और

४. शुद्ध पुष्टि-भक्ति

इनमें से पहली भक्ति उन लोगों का मार्ग है जो 'मैं' और 'मेरा' के साथ सांसारिक जीवन—जो कि एक प्रवाह के समान है—में लगे हुए ईश्वर-प्राप्ति में सहायक कर्मों के सम्पादन में रत हैं। द्वितीय प्रकार की भक्ति उन लोगों की भक्ति है जो सांसारिक सुखों से अपने मन को खींच कर ईश्वर विषयक उपदेशों के श्रवण, उनके नाम-कीर्तन तथा अन्य क्रियाओं द्वारा ईश्वर की भक्ति में लगाते हैं। तीसरी भक्ति उन लोगों की भक्ति है जिन्हें पहले से ही भगवान् की अनुकम्पा प्राप्त है। वे भगवान् के पुनः अनुग्रह (पुष्टि) द्वारा उपासना के लिए उपयोगी ज्ञान को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं और इस प्रकार के ईश्वर के सभी मार्गों को जान जाते हैं। इस मार्ग के अनुयायियों को कथित ज्ञान की उपलब्धि के निमित्त अपने ही प्रयत्नों पर निर्भर रहना पड़ता है। चौथी भक्ति उन लोगों की भक्ति है जो कि केवल प्रेम के साथ भगवान् के भजन और कीर्तन में इस तरह लग जाते हैं जैसे कि यह उनका व्यसन हो। इस भक्ति को स्वयं भगवान् उत्पन्न करते हैं तथा यह भक्ति ऊपर उल्लिखित तीसरी भक्ति की भांति मनुष्य की अपनी इच्छा पर निर्भर नहीं है। सर्वप्रथम भगवान् उस व्यक्ति के मन में अपने प्रति प्रेम उत्पन्न करते हैं जिसे वह अपनी कृपा का पात्र बनाते हैं। तदुपरान्त वह व्यक्ति ईश्वर-विषयक ज्ञान को अर्जित करने के लिए यत्नशील होता है। यह सब प्रेमभक्ति कहलाता है। इसके विकास की अवस्थाएं ये हैं :—

(१) प्रेम, (२) आसक्ति और (३) व्यसन, जो प्रथम दो की ही उन्नत अवस्था है। व्यसन, लक्ष्य अर्थात् परमानन्द-प्राप्ति की ओर ले जाता है। जिन लोगों की भक्ति इस सीमा तक पहुँच चुकी होती है वे तिरस्कार के साथ

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

मुक्ति के चारों प्रकारों को त्याग देते हैं और हरि की शाश्वत सेवा को चुनते हैं जैसा कि पाञ्चरात्र मत के एक खण्ड में देखा जा चुका है। हरिविषयक व्यसन द्वारा उन्हें सर्वत्र देखा जा सकता है और इसलिए हर वस्तु प्रेमपात्र हो जाती है और भक्त प्रत्येक वस्तु से अपना तादात्म्य कर लेता है। तब भक्त के लिए आन्तरिक और बाह्य जगत् पुरुषोत्तम से परिपूर्ण बन जाता है। कृष्ण की लीलाओं में प्रवेश भक्ति का चरम फल है। भक्त-गण गायों, पशुओं, पक्षियों, वृक्षों, नदियों आदि के रूप ग्रहण करके इन लीलाओं में सम्मिलित होते हैं तथा पुरुषोत्तम के सायुज्य का आनन्द प्राप्त करते हैं जो उन्हें असीम आनन्द देते हैं। नित्यलीलाएं उन लीलाओं जैसी ही होती हैं जो कि कृष्ण ने उस समय की थीं जब उन्होंने व्रज और वृन्दावन में अवतार लिया था। दिव्य वृन्दावन में कुछ भक्त गोप और गोपी हो जाते हैं और इन लीलाओं में सम्मिलित होते हैं। मर्यादी भक्त सायुज्य-प्रकार की मुक्ति प्राप्त करते हैं। इसमें भक्त हरि से एक रूप हो जाता है। पुष्टि भक्त तुच्छ कह कर इसका परित्याग कर देते हैं और हरि की लीलाओं में सम्मिलित होने के लिए यत्नशील रहते हैं।

वल्लभ सम्प्रदाय के ये ही सिद्धान्त हैं। अब हम व्यावहारिक पूजा पद्धति का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत करेंगे। वल्लभ के विट्ठलेश नाम के एक पुत्र थे तथा ये दोनों क्रमशः आचार्य और गोसाईं या गोस्वामी कहलाते थे। गोसाईं के गिरिधर, गोपाल, गोविन्दाचार्य, बालकृष्ण, गोकुलनाथ, रघुनाथ, और घनश्याम नामक सात पुत्र थे। इस सम्प्रदाय के गुरु लोग, जो सामान्यतया महाराज कहलाते हैं, इन्हीं सातों के वंशज हैं। प्रत्येक गुरु का अपना मन्दिर रहता है और इस सम्प्रदाय के कोई सार्वजनिक मन्दिर नहीं होते। भक्त को बतलाए गए अन्तरालों पर अपने गुरु के मन्दिर में जाना चाहिए। ये अन्तराल (अवधियां) दिन में आठ हैं। पूजा की पद्धति इस प्रकार है :—

पूजा करने वाले को प्रातः काल उठना चाहिए, भगवान् के नाम का जप करना चाहिए और मुंह धोकर भगवान् का चरणामृत पीना चाहिए। तदुपरान्त वह उत्तर या पूर्व की ओर अपना मुख करके अपने गुरु के नाम का उच्चारण करे, उनकी स्तुति करे और झुककर उनको प्रणाम करे। यही विट्ठलेश के प्रति करे। उनके सातों पुत्रों का नामोच्चार करे और फिर अपने गुरु का नाम ले और तब गोवर्धन आदि नामों का जप करने के उपरान्त कृष्ण को झुक कर प्रणाम करे। तब यमुना नदी का स्मरण करे और उन्हें प्रणाम करे। भ्रमरगीता नामक छः श्लोकों वाली पुस्तक का पाठ करे और तब गोपियों की पूजा करे। इसके उपरान्त आराधक नित्य-क्रिया से निवृत्त

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

होकर अपने हाथ पैर और मुख का प्रक्षालन करे और तब कृष्ण के परमामृत का पान करे। इसके बाद कृष्ण द्वारा खाए हुए समझे जाने ताम्बूल प्रसाद को ग्रहण करे। तदुपरान्त वह अपने शरीर को तैललिप्त करे और स्नान करे। स्नान के उपरान्त उसे नारायण के नाम का जप करके आचमन करना चाहिए। इसके बाद वह श्वेत मृत्तिका (गोपीचन्दन) से अपने ललाट पर एक खड़ी रेखा खींचे, अपने वक्षःस्थल पर कमल तथा भुजाओं पर वंश पत्र इत्यादि बारह चिह्नों को अङ्कित करे जिससे विष्णु, केशव, नारायण माधव आदि द्वादश स्वरूपों को मुद्रित करे और वल्लभाचार्य को प्रणाम कर गोपियों सहित कृष्ण की पूजा करे। इसके बाद उसे मन्दिर का द्वार खोलना चाहिए और शयनागार में प्रवेश करके बासी पुष्पमालाओं आदि को बाहर निकालना चाहिए। तब वह झाड़ू लगाए, पूजा पात्र को साफ करे। तब वह सिंहासन को मांजे और निद्रा से जगे हुए कृष्ण के स्वागत के लिए आवश्यक सभी प्रबन्ध करे। तदुपरान्त वह शयन-कक्ष में पहुँचे और कृष्ण से जगने, तैयार किए गए जलयानों को ग्रहण करने एवं अपने सखाओं सहित गोचरण-हेतु वन में जाने के लिए स्तुति करे। कृष्ण को बाहर लाकर सिंहासन पर बैठाया जाए। राधा को उनके वाम भाग पर आसीन करे और तब पुजारी उनके आगे साष्टाङ्ग प्रणाम करे। तब पहले ही तैयार किए हुए जलपान को उन दोनों के सामने रखे और उनसे जलपान करने की प्रार्थना की जानी चाहिए। तब बिस्तर झाड़े और कृष्ण का मुंह धुलाए। तब उनके सामने अन्य जलपान रखे। अन्त में स्तुति-गान के साथ साथ आरती उतारे। तब वल्लभाचार्य को प्रणाम करे। फिर कृष्ण को स्नान कराए, केसर का लेप करे, कपड़े पहनाए और उन्हें दूध दे। इसके बाद दूध को मथ कर नेनू (नवनीत) निकाले और कृष्ण को अर्पित करे। तब उनसे जल से आचमन करने को कहे। उन्हें ताम्बूल-पत्र समर्पित करे। इसके बाद एक झूला सजाया जाए, कृष्ण से इसमें आसीन होने के लिए बिनती की जाए, इसे झुलाया जाए और बालक कृष्ण के लिए खिलौने रखे जाएं। इसके बाद मध्याह्न का भोजन तैयार कराया जाए। उनके आगे एक चौकी (चार पैरों वाला छोटा काष्ठफलक) रखा जाए, उस पर कटोरी में सभी तरह के पक्वान्न रखे जाएँ और कृष्ण राधा से इन्हें खाने की प्रार्थना की जाए। एक छोटी सी थाली में थोड़ा सा चावल रखा जाए और इसमें घी मिलाकर पांच या सात कौर कृष्ण के आगे रखे जाएं। तब उनकी आरती उतारनी चाहिए। तदनन्तर सभी प्रकार के अन्य खाद्य-पदार्थ प्रस्तुत करे। इस प्रकार पूजा विधि चलती रहती है। रात का भोजन रात में फिर तैयार किया जाता है, कृष्ण

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

को शय्या पर लिटाया जाता है और पुनः सुला दिया जाता है। इस प्रकार पूजा विधि में यह क्रम रहता है :—(१) घण्टावादन, (२) शंखनाद, (३) ठाकुर जी को जगाना और उन्हें जलपान कराना, (४) आरती उतारना, (५) नहलाना, (६) वस्त्र पहनाना (७) गोपीवल्लभ का भोजन, (८) गोचारण, (९) मध्याह्न भोजन, (१०) आरती, (११) इसके बाद पर्दा खींच दिया जाता है जिससे भगवान् को कोई देख न सके। इसे अनोसर या अनवसर कहते हैं क्योंकि इसमें उन्हे देखने का कोई अवसर नहीं है, (१२) समापन, (१३) सन्ध्या-भोजन तथा (१४) शयन।

ऊपर विस्तार से वर्णित इस सामान्य पूजा के अतिरिक्त इस मत के अनुयायी बहुत से उत्सवों और पर्वों को भी मनाते हैं जिनमें से कुछ वल्लभाचार्य कुछ उनके पुत्र तथा कुछ उनके सात पौत्रों के उपलक्ष्य में मनाए जाते हैं। ऐसा लगता है कि वल्लभ और उनके उत्तराधिकारियों का अपने अनुयायियों पर प्रचुर प्रभाव था और यह प्रभाव उनके उत्तराधिकारी वर्तमान आचार्यों तक चला आ रहा है। यह प्रभाव इस तथ्य से प्रमाणित हो जाता है कि भगवान् की पूजा स्वतन्त्र रूप से किसी सार्वजनिक पूजा स्थान में नहीं की जा सकती है। अपितु यह पूजा गुरु या महाराज के घर या मन्दिर में ही की जा सकती है और इसी लिए भक्त-जनों को यहाँ पर नियमित रूप से भेंट लेकर पहुँचना ही पड़ता है। इस मार्ग के अनुयायी मुख्यतया गुजरात, राजपूताना तथा उत्तर की ओर मथुरा के पास पड़ोस के व्यवसायी-वर्ग के लोगों में से हैं। इन लोगों को प्रधान रूप से जो उपदेश दिया जाता है वह यह है कि अपनी सारी सम्पत्ति गुरु को समर्पित कर देनी चाहिए किन्तु इसका अक्षरशः पालन कभी भी नहीं किया गया है। ऊपर उल्लिखित भक्ति के विभिन्न प्रकारों में केवल एक ही प्रकार सांसारिक विषयों के प्रति अनासक्ति का विधान करता है। मनुष्य के हृदय में परम भक्ति तथा अन्य भावों का उदय ईश्वर की अनुकम्पा से ही होता है तथा परम-भक्ति का परिपाक तो व्यसन के रूप में हो जाता है। ईश्वर की इस अनुकम्पा का अनुभव व्यक्ति को सांसारिक जीवन में लगे रहते हुए भी हो सकता है। मर्यादापुष्टि—जो कि चार स्वरूपों में से एक है तथा जिसमें व्यसनों का निग्रहण अपेक्षित है—गोलोक में हरि को शाश्वत लीलाओं में सम्मिलित होने से प्राप्य परमानन्द की प्राप्ति नहीं कराती। अतएव इस मार्ग की आत्मा लीला जनित सुख ही प्रतीत होते हैं और इसका प्रभाव इस मार्ग के अनुयायियों के साधारण-जीवन पर भी पड़ता है। सांसारिक आनन्दों से विरत करने वाली नैतिक कठोरता और आत्म-त्याग इस सम्प्रदाय के लक्षण नहीं

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

मालूम पड़ते। स्वयं वल्लभाचार्य और उनके सभी उत्तराधिकारी विवाहित थे और इसी तरह यही स्थिति इस सम्प्रदाय के सभी गुरुओं की है, जो अपने अनुयायियों से कम सांसारिक नहीं हैं।

हमने जो विवरण दिया है उससे यह देखा जा सकता है कि वैष्णव धर्म का चौथा तत्त्व जिसका वर्णन हम पूर्ववर्ती अध्याय में कर चुके हैं— वल्लभ के धर्म का वैशिष्ट्य है। गोकुल में लीला करने वाले बालक कृष्ण इस सम्प्रदाय के सर्वोच्च देव हैं तथा उनकी प्रेयसी राधा—जिनका उल्लेख परवर्ती ग्रन्थों में ही हुआ है तथा जो उनकी सनातन शक्ति की गरिमा को प्राप्त हुई हैं (जैसा कि हम आगे देखेंगे)—महान् आदर की पात्र हैं। राधा सहित इन गोपाल कृष्ण का आवास ऐसे लोक में परिवर्तित कर दिया गया है जो कि नारायण या विष्णु के वैकुण्ठ लोक से भी ऊपर है और गोलोक कहलाता है। मनुष्य के जीवन का परम लक्ष्य इसी स्थान में पहुंचना और लीलाओं में सम्मिलित होना है। इस प्रकार गोकुल में कृष्ण की लीलाएं तथा वहाँ के नर एवं नारियों, क्षुद्र पशुओं, वृक्षों तथा यमुना नदी के साथ कृष्ण के सम्बन्ध ही वल्लभ सम्प्रदाय के आधार हैं तथा गोलोक में रूपान्तरित हो जाने पर ही जीवन के परम लक्ष्य बन जाते हैं।

———

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

२०. चैतन्य

जिस समय वल्लभ हुए लगभग उसी समय बङ्गाल में राधा-कृष्ण की उपासना के एक अन्य प्रचारक हुए जिनका नाम चैतन्य था। दोनों के मध्य प्रधान भेद यह प्रतीत होता है कि जहां वल्लभ और उनके अनुयायियों ने धर्म के कर्म-काण्डीय पक्ष का विकास किया वहीं चैतन्य और उनके उत्तराधिकारी धर्म के भावात्मक पक्ष के विकास में लगे। चैतन्य ने राधा एवं कृष्ण के प्रेम तथा अन्य भक्ति सम्बन्धी विषयों के कीर्तनों के प्रचलन द्वारा लोगों के हृदय को जीतने का प्रयत्न किया। गोपाल-कृष्ण और उनकी प्रेयसी का प्रेम पहले ही संस्कृत में जयदेव तथा जनभाषाओं में अन्य कवियों के मोहक गीतों का विषय बन चुका था। चैतन्य अधिक साहसी सुधारक भी थे क्योंकि उन्होंने प्रचलित हिन्दू धर्म के कृत्रिम धार्मिक आचरणों की निन्दा की एवं आध्यात्मिक भक्ति का उपदेश किया। साथ ही उन्होंने जाति-गत भेदों की निन्दा की तथा उन्होंने शिष्य के रूप में सभी को यहाँ तक कि मुसलमानों को भी, स्वीकार किया।

चैतन्य का मूल नाम विसम्भर (विश्वम्भर) मिश्र था तथा उनके पिता का नाम जगन्नाथ मिश्र और माता का नाम शची देवी था। इनके पिता मूलतः पूर्व बङ्गाल में सिलहट में रहते थे किन्तु अपने सब से छोटे पुत्र बिसम्भर के जन्म से पूर्व वे नदिया (नवद्वीप) आकर बस गए थे। उनके सब से जेठे पुत्र का नाम विश्वरूप था जिसे चैतन्य के इतिहास में नित्यानन्द कहा गया है। जगन्नाथ के ये केवल दो ही पुत्र थे और इन दोनों के बीच उनके आठ लड़कियां हुई थीं, जो बचपन में ही मर गई थीं। चैतन्य का जन्म शकाब्द १४०७ तदनुसार १४८५ ई० में फाल्गुन मास की पूर्णिमा तिथि के दिन हुआ था। बाद में उनका नाम कृष्ण चैतन्य हो गया और उनके शिष्य उन्हें स्वयं कृष्ण का अवतार मानने लगे। अपने गांव की नारियों के साथ इन्हें क्रीड़ाए करते हुए बतलाया है। किन्तु इस बात को ऐतिहासिक रूप से सत्य नहीं माना जा सकता। चैतन्य गौराङ्ग एवं गौरचन्द्र भी कहलाते थे। अठारह वर्ष की आयु में इन्होंने लक्ष्मी देवी नामक नारी से विवाह किया और शिष्य बनाकर उन्हें व्यावहारिक शिक्षा देते हुए उन्होंने गृहस्थ जीवन यापन करना प्रारम्भ किया। इसके कुछ समय उपरान्त उन्होंने घुमक्कड़

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

जीवन आरम्भ कर दिया तथा उन्होंने पूर्व-बङ्गाल के अनेक स्थानों की यात्रा की। भिक्षा मांगना और कीर्तन गाना उनका व्यवसाय था तथा कहा जाता है कि उन्होंने पर्याप्त धन अर्जित किया। उनके प्रवास-काल में उनकी पत्नी की मृत्यु हो गई और घर वापस लौटने पर उन्होंने दूसरा विवाह किया। जब वे लगभग २३ वर्ष के थे, वे अपने पितरों को पिण्डदान करने के लिए गया गए और वहाँ से लौटने पर उन्होंने अपने जीवन का उद्दिष्ट कार्य प्रारम्भ किया। उन्होंने ब्राह्मणों के कर्म-काण्ड पद्धति की निन्दा की तथा हरि में विश्वास, उन से प्रेम एवं मुक्ति के एकमात्र प्रभावकारी मार्ग के रूप में उन्होंने हरि नाम के कीर्तन का उपदेश किया। जाति-व्यवस्था की निन्दा करते हुए मनुष्यों के भाईचारे के सिद्धान्त का भी प्रचार किया। यह बतलाया गया है कि भक्ति और प्रेम के इस सिद्धान्त का प्रचार चैतन्य से पूर्व अद्वैताचार्य नामक एक व्यक्ति के द्वारा किया गया था जिनकी चर्या प्रचलित ब्राह्मण कर्म-काण्डों के अनुष्ठान के उपरान्त गङ्गा के घाट पर जाना तथा वहां पर विभिन्न विधि-विधानों के सिद्धान्त के स्थान पर भक्ति और प्रेम के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा के निमित्त भगवान् के प्राकट्य के लिए उनकी स्तुति करना था। यह भी कहा गया है कि पहले तो ये आचार्य चैतन्य के शिक्षक थे किन्तु वाद में उनके शिष्य हो गए। बात चाहे जो भी रही हो, जनसामान्य में नूतन सिद्धान्त की उद्घोषणा अन्य धर्मों का निरकरण करते हुए सर्वप्रथम कृष्ण-चैतन्य द्वारा ही की गई। इनके भाई नित्यानन्द ने, जिन्हें भगवान् कृष्ण के अग्रज बलराम का अवतार माना जाता है, इनकी सहायता की। इसके उपरान्त चैतन्य ने हरि-नाम के संकीर्तन और भजन के निमित्त सभाओं का आयोजन करना आरम्भ कर दिया। पहले तो ये सभाएं व्यक्तिगत थीं और श्रीवास नामक एक शिष्य के घर में आयोजित होती थीं। इन भक्तों के क्रिया-कलापों का तिरस्कार और उपहास किया गया, विशेष रूप से काली के उपासकों ने इनका और भी उपहास किया। इनमें से एक ने तो इस घर के द्वार की सीढ़ियों पर रक्त पुष्प और बकरे का खून फैला दिया, जहाँ वैष्णव सभाओं का आयोजन किया जाता था। इन कीर्तनों या हरि नाम गायनों में व्यक्त तीव्रता शनैः २ घनी होती जाती थी और ऊंचे स्वर से गाने वाले, मुख्य रूप से स्वयं चैतन्य, मूर्छित होकर भूमि पर गिर जाते थे। १५१० ई० में चैतन्य संन्यासी हो गए और कटवा के केशव भारती ने इन्हें इस आश्रम में दीक्षित किया। इसके बाद पहले वे जगन्नाथ मन्दिर का दर्शन करने पुरी गए और वहां से अपने नूतन मत का

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

प्रचार करते हुए वे छः वर्षों तक देश में चारों ओर भ्रमण करते रहे[1]। एक अवसर पर वे बनारस गए और बतलाया जाता है कि वहाँ पर शङ्कराचार्य के अद्वैत वेदान्त के आचार्य प्रकाशानन्द के साथ इनका शास्त्रार्थ हुआ। चैतन्य ने शङ्कर के वेदान्त सूत्र-भाष्य की निन्दा की और कहा कि इसमें मूल के तात्पर्य को रहस्यात्मक बना दिया गया है। शङ्कराचार्य ने बादरायण के शब्दों का सीधा और सरल अर्थ नहीं दिया अपितु अपने दृष्टि कोणों को उन पर बलात् लाद दिया है। परिणाम वाद का सिद्धान्त सूत्रकार को अभिमत है जब कि शंकराचार्य इसका खण्डन कर देते हैं तथा अपना विवर्तवाद उपस्थित करते हैं। चैतन्य के अनुसार केवल परिणामवाद ही सही है। इन यात्राओं के उपरान्त वे पुरी लौटे जहाँ पर उन्होंने अपने जीवन के आखिरी १८ वर्ष व्यतीत किए और शकाब्द १४५५ तदनुसार १५३३ ई० में उनका गोलोकवास हो गया।

चैतन्य द्वारा प्रतिपादित बतलाए जाने वाले कतिपय सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :—कृष्ण सर्वोत्कृष्ट देव हैं। वे इतने सुन्दर हैं कि स्वयं कामदेव के भी हृदय में उनके प्रति अनुराग का उद्दीपन हो जाता है तथा वे स्वयं अनुरागवान् हैं। उनकी परब्रह्मशक्ति जगत् में व्याप्त है तथा अपनी माया-शक्ति द्वारा भौतिक शरीर धारण करती है। ये विलास-शक्ति से समन्वित हैं जो दो प्रकार की है। इनमें से एक द्वारा वे गोपियों के साथ लीला करते हुए इतने कृष्णों का रूप धारण कर लेते हैं कि दो दो गोपियों के बीच एक-२ कृष्ण दिखलाई पड़ें (यह प्राभव विलास है) (२) दूसरी विलासशक्ति वैभव विलास द्वारा वे वासुदेव, संकर्षण आदि चार व्यूहों या स्वरूपों को ग्रहण करते हैं। इनमें से वासुदेव बुद्धि, संकर्षण अहङ्कार, प्रद्युम्न प्रेम तथा अनिरुद्ध लीला हैं। यहां पर यह ध्यान देने की बात है कि चार व्यूहों के कार्यों में परिवर्तन हो गया है तथा प्रद्युम्न को प्राचीन मत की भांति मन न कह कर अनुराग-तत्त्व बतलाया गया है तथा अनिरुद्ध को अहङ्कार (जो संकर्षण को दे दिया गया है) के स्थान पर लीला बतलाया गया है। यह परिवर्तन एक ऐसे मत के लिए सर्वथा उपयुक्त ही है जिसमें प्रेम और लीला का प्रमुख वैशिष्ट्य है। समस्त प्रचलित अवतारों का आविर्भाव किसी न किसी व्यूह से ही हुआ है। सत्त्व, रजस् या तमस् गुणों के प्राधान्य के अनुसार कृष्ण क्रमशः विष्णु, ब्रह्मदेव या शिव हो जाते हैं। सूर्य के उदय अस्त के समान कृष्ण की लीलाएं सदा ही चलती रहती हैं। उनकी नित्य-लीलाएं गोलोक में होती हैं। कृष्ण

---

१. उपर्युक्त विवरण जे० बीम्स के लेख का संक्षेप है।
द्रष्टव्य इण्डियन एण्टिक्वेरी भाग २ पृ० १ तथा आगे

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

इन तीन शक्तियों से समन्वित हैं :—

१. आन्तरिक—यह चित् शक्ति है,
२. वाह्य—यह माया शक्ति है तथा
३. जीव शक्ति

उनकी मुख्य शक्ति हृदय में आह्लाद या आनन्द को उत्पन्न करने वाली है। यह अनुराग या प्रेम की शक्ति प्रतीत होती है। जब यह अनुराग भक्त के हृदय में स्थिर हो जाता है तब वह महाभाव बन जाता है। जब अनुराग उच्चतम स्थिति को प्राप्त कर लेता है तब वह राधा में प्रतिष्ठित हो जाता है, जो सर्वाधिक सुन्दरी तथा समस्त गुणों से परिपूर्ण हैं। वे कृष्ण के उत्कृष्टतम प्रेम की पात्र थीं। प्रेम के रूप में आदर्शभूत होने के कारण हृदय की प्रिय भावनाओं को उनका आभूषण माना जाता है। गोपियों की लीलाएं सरल प्रेम के कारण हुई थीं और यही वह वस्तु थी जिसे उद्धव आदि भक्त गण प्राप्त करना चाहते थे। परमात्मा असीम है तथा स्वयं चिन्मय है। जीवात्मा चित् से समन्वित अणु है। वे दोनों अनिवार्य रूप से परस्पर सम्बद्ध हैं तथा इस सम्बन्ध को कभी भी नष्ट नहीं किया जा सकता। कृष्ण आश्रय हैं तथा जीव उन पर आश्रित है। दोनों के मध्य जो सम्बन्ध है वह अभेद तथा भेद दोनों ही है। इस प्रकार चैतन्य के मत का वेदान्त-सिद्धान्त वही है जो कि निम्बार्क के मत में है। जिस प्रकार मधुमक्खी मधु से भिन्न है और मधु के इर्द गिर्द चक्कर काटती रहती है और जब वह मधु का पान करती है तब उससे पूर्ण हो जाती है अर्थात् उसके साथ एक रूप हो जाती है, इसी प्रकार पहले तो जीव परमात्मा से भिन्न है, निरन्तर परमात्मा का अन्वेषण करती है तथा जब प्रेम के माध्यम से वह परमात्मा से परिपूरित हो जाती है तब उसे अपनी वैयक्तिक सत्ता का बोध नहीं रहता तथा वह मानो उसमें डूब जाती है। यहाँ पर उस आह्लादमयी स्थिति का वर्णन है, जिसमें जीवात्मा ईश्वर से एक रूप हो जाती है, यद्यपि ये दोनों वस्तुतः भिन्न हैं। कृष्ण, मायाशक्ति के स्वामी हैं और जीव माया का दास है। जीव जब माया के पाशों को काट फेंकता है तो वह स्पष्ट रूप से अपनी प्रकृति तथा ईश्वर के साथ अपने सत्य सम्बन्ध को देखता है। कृष्ण के पास केवल भक्ति द्वारा ही पहुँचा जा सकता है तथा भक्ति द्वारा ही उन्हें प्राप्त किया जा सकता है।[1]

कृष्ण-चैतन्य, नित्यानन्द और अद्वैतानन्द इस मत के तीन प्रभु कहलाते हैं। नित्यानन्द के वंशज नदिया में तथा अद्वैतानन्द के वंशज शान्तिपुर में

१. द्रष्टव्य प्रसन्नकुमार विद्यारत्न—गौराङ्गतत्त्वसहित गौराङ्गचरित, कलकत्ता।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

रहते हैं। वे इस मत के आध्यात्मिक प्रधान हैं। मठ के प्रधान के रूप में नित्यानन्द की नियुक्ति स्वयं चैतन्य ने की थी। इनके नारीवंशज बालेगोर में रहते हैं तथा पुरुष वंशज बैरकपुर के पास खोर्दू में। मथुरा और वृन्दावन में चैतन्य के अनुयायियों के मन्दिर हैं तथा इनके तीन प्रधान मन्दिर बङ्गाल में हैं, एक तो नदिया में चैतन्य का, दूसरा अम्बिका में नित्यानन्द का तथा अग्रद्वीप में गोपीनाथ का। उत्तरी सिलहट में ढाका दक्षिण के पास जहां चैतन्य के पिता रहते थे, चैतन्य का देवायतन है। जिले के सारे भागों से यहाँ तक कि सारे बङ्गाल से यात्री-गण यहां आते हैं। राजशाही जिले के खेतूर गाँव में उनके लिए एक मन्दिर का निर्माण किया गया है जहां अक्टूबर के महीने में एक धार्मिक मेला लगता है। इस मेले में लगभग २५ हजार लोग सम्मिलित होते हैं।

चैतन्य के अनुयायियों द्वारा धारण किए जाने वाले साम्प्रदायिक चिह्न ललाट पर की दो धवल लम्बी रेखाएं हैं जो कि नासासेतु पर परस्पर में मिल जाती हैं तथा एक रेखा नासिका के अग्रभाग तक चली जाती है। वे तुलसी के मनकों की त्रिसूत्री कण्ठी तथा हरि नाम जपने के लिए तुलसी की एक माला को भी धारण करते हैं। देवताओं के रूप में गुरुओं की पूजा इस मत की विशेषता है। अद्वैत के अधिकतर अनुयायी जातिगत प्रभेदों को मानते हैं। किन्तु कुछ इसका खण्डन भी करते हैं। ये लोग वैरागी हैं। इस मत की एक शाखा में वैरागी और वैरागिनियां दोनों ही थे। वे एक ही मठ में रहा करते थे तथा उनके बीच केवल आध्यात्मिक सम्बन्ध रहता था। सद्‌गोप जाति के रामशरणपाल नामक एक व्यक्ति ने लगभग दो सौ वर्ष पूर्व एक शाखा की स्थापना की थी जिसका नाम कर्ताभाजस् (कर्ता या प्रधान व्यक्ति के उपासक) था। इसमें सभी जातियों के लोगों को प्रवेश दिया जाता है तथा किसी प्रकार का भेदभाव नहीं बरता जाता। इसके संस्थापक, जिन्हें कर्ता बाबा भी कहते हैं, घोषपुर में दिवङ्गत हुए थे। उनके भक्त गण उन्हें श्रद्धा अर्पित करने के लिए समय-२ पर इकट्ठे होते हैं। चैतन्य-मत के आध्यात्मिक शिक्षक, चाहे वे नर हों या नारी, सभी ब्रह्मचारी होते हैं।

तीनों प्रभुओं ने अपनी कोई रचना नहीं छोड़ी। किन्तु चैतन्य के शिष्यों, विशेष रूप से रूप और सनातन ने पर्याप्त मात्रा में लिखा है। रसामृतसिन्धु नामक सनातन की एक रचना में भेद प्रभेदों सहित भक्ति की ओर ले जाने वाली मनोदशा की व्याख्या के साथ भक्ति का विश्लेषण विद्यमान है। इस धार्मिक-साहित्य के सम्बन्ध में विपुल साहित्य लिखा गया है।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

२१. वैष्णव-धर्म का अपकर्ष

कृष्ण की भी पूजा से अधिक राधा की पूजा को प्रमुखता देने के फलस्वरूप एक ऐसे सम्प्रदाय का जन्म हुआ, जिसके अनुयायी नारियों के समस्त सामान्य तौर तरीकों के साथ उनके वस्त्र भी धारण करते हैं तथा उनके मासिक धर्म तक का अनुसरण करते हैं। उनकी आकृति तथा उनकी क्रियाएं इतनी गर्ह्य होती हैं कि वे प्रायः स्वयं को लोगों के बीच प्रदर्शित नहीं करते तथा इनकी संख्या बहुत कम है। उनका लक्ष्य राधा की सखियों तथा दासियों की स्थिति प्राप्त करना है। सम्भवतः इसी कारण से वे लोग 'सखी भाव' नाम धारण करते हैं। यहाँ पर वे केवल यह प्रदर्शित करने के निमित्त उल्लेखनीय हैं कि जब भी नारीतत्त्व का मूर्तिकरण कर दिया जाता है तथा इसे विशिष्ट-पूजा का विषय बना दिया जाता है तो इसी प्रकार के घृणित परिणाम होते हैं। त्रिपुर-सुन्दरी-रूप में दुर्गा की उपासना का भी यही फल हुआ।

यद्यपि, निम्बार्क, वल्लभ और चैतन्य के वैष्णव सम्प्रदाय वैष्णव-धर्म के उस चतुर्थ तत्त्व पर आधारित हैं जिसका उल्लेख हम पूर्ववर्ती परिच्छेद में कर चुके हैं, फिर भी इस तत्त्व का पर्याप्त परिष्कार हो चुका था। पहले, कृष्ण ऐसे व्यक्ति थे, जो गोपियों के साथ रासलीला करते थे। किन्तु अब राधा के रूप में कृष्ण की एक निश्चित पत्नी हो गई थीं, जिनकी बहुसंख्यक सखियां थीं। ये सखियाँ सम्भवतः पहले की गोपियां थीं। हरिवंश, विष्णु और भागवत में राधा का नाम के साथ उल्लेख नहीं है। किन्तु भागवत में एक ऐसी गोपी का उल्लेख अवश्य है जो अन्य गोपियों सहित शरत्कालीन चन्द्रिका में वृन्दावन में कृष्ण के साथ रासलीला कर रही थी। उसके साथ युवा कृष्ण ने अन्य गोपियों से अदृश्य होकर विहार किया था। उसको अपने प्रति कृष्ण के विशिष्ट आकर्षण का घमण्ड हो गया, जिससे भगवान् उसके पास से भी अदृश्य हो गए। सम्भवतः इस संकेत पर ही आगे चल कर राधा का विकास हुआ। नारदपाञ्चरात्र संहिता में, जिसका प्रमाण संदिग्ध है (जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है) एक यह बतलाया गया है

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

कि एक ईश्वर दो भागों में विभक्त हो गया, एक नारी तथा दूसरा नर। नर स्वयं ईश्वर था। इसके बाद उसने उस नारी के साथ बिहार किया। वह स्त्री राधा थी। ब्रह्म-वैवर्त पुराण में उन्हें कृष्ण के आद्य स्वरूप से उसके वामाङ्ग के रूप में निकला हुआ बतलाया गया है तथा उन्हें इस लोक तथा गोलोक की रासलीलाओं में कृष्ण के साथ शाश्वत रूप से सम्बद्ध कर दिया गया है। रुक्मिणी नाम कृष्ण-भक्ति शाखा के साधारण स्वरूपों में प्राप्त होता है किन्तु ऊपर जिन मतों का नाम दिया गया है उनमें यह नाम एकदम नहीं मिलता। राधा के नाम के प्रचलन तथा कृष्ण से भी अधिक उनकी उत्कृष्ट स्थिति से वैष्णव-मत का अधोनयन हुआ। ऐसा केवल इसी लिए नहीं हुआ कि वे नारी थीं, अपितु इस कारण भी कि वे गोपाल-कृष्ण की प्रेयसी थीं तथा उनकी शृंगारिक लीलाएं विकृत प्रकृति वाली थीं।

राम भक्ति शाखा में सीता एक कर्तव्यपरायणा तथा स्नेहमयी पत्नी हैं तथा वे अपने पति के भक्तों के प्रति अनुकम्पा रखती हैं। उनकी स्थिति राम से पूर्णतया गौण है, जबकि राधा को प्रायः कृष्ण की तुलना में प्राथमिकता प्रदान की जाती है। राधा की कथा की भांति सीता की कथा में तनिक भी शृंगारिकता नहीं है, फलस्वरूप रामोपासना का नैतिक प्रभाव अधिक ऊंचा है। जहां तक मुझे ज्ञात है, कबीर ने सीता के नाम का उल्लेख एकदम नहीं किया है। वे पक्के अद्वैतवादी या एकेश्वरवादी थे तथा उनके राम केवल साहेब (परमेश्वर) थे। उनका अनुसरण करने वाले अन्य आचार्यों का दृष्टिकोण भी यही था। अतएव राधाकृष्ण भक्ति-शाखा की अपेक्षा रामोपासना शाखा हिन्दू धार्मिक चिन्तन का अधिक स्वस्थ और विशुद्ध अंग है।

———

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

२२. नामदेव और तुकाराम

मराठा देश के लोक-प्रिय वैष्णव-धर्म का केन्द्र पण्ठरपुर में स्थित बिडोबा का मन्दिर है। यह नगर भीमा या भीमारथी नदी के तट पर स्थित है। भगवान् का पूरा नाम विट्ठल है, जो संस्कृत का नाम नहीं हैं किन्तु जिसकी व्युत्पत्ति काफी स्पष्ट है। यह बतलाया जाता है कि संस्कृत नाम विष्णु विगड़ कर कन्नड़ भाषा में विट्ठु हो जाता है। यह सम्भव प्रतीत होता है क्योंकि कृष्ण शब्द गोआ की बोली में विगड़ कर कुष्ट तथा कन्नड़ी में कुट्ट, किट्टिया क्रष्ट बन जाता है तथा हम यह देख चुके हैं कि होयसाल राजा विष्णु-वर्धन के नाम का प्रथम अंश विष्णु विगड़ कर विट्टि या बिट्टि हो गया था।[1] विष्णु या विट्टु नाम में कोमल या सम्मान के अतिरिक्त भाव के प्रत्यायन के निमित्त बा एवं ल प्रत्यय जोड़ दिया जाता है। इस देवायतन की स्थापना कब हुई, यह निर्धारित करने के हमारे पास कोई साधन नहीं हैं किन्तु तेरहवीं सदी के मध्य में इसके विद्यमान रहने के स्पष्ट साक्ष्य हमारे पास हैं। देवगिरि के यादववंशी कृष्ण के शासन-काल के एक ताम्रपत्र लेख में यह कहा गया है कि उनके सेनानायक और राष्ट्रीय मल्लिसेट्टी ने एक सैन्य अभियान के समय शक संवत् ११७१ तदनुसार १२४९ ई० में भैमरथी के तट पर अवस्थित पौण्डरीक क्षेत्र में विष्णु के समीप एक गाँव का दान किया था जो बेलगांव जिले में था।[2] अब यदि पौण्डरीक क्षेत्र भीमरथी या भीमा नदी के तट पर अवस्थित था तो यह कल्पना करना अयुक्तियुक्त नहीं होगा कि यह पण्ठरी (जो पण्ठरपुर का वैकल्पिक नाम है) ही था और जिन देवता के सान्निध्य में दान किया गया था, वे विट्ठल या बिडोबा ही रहे होंगे। इस अभिलेख में उनका जन-प्रचलित कन्नड़ नाम न देकर संस्कृत नाम दे दिया गया है। स्वयं पण्ठरपुर में ही विद्यमान तथा ११९२ शकाब्द तदनुसार १२७०ई० की तिथि से अङ्कित एक अन्य शिलालेख में केशव के पुत्र भानु को पाण्डुरंग पुर में आप्तोर्याम यज्ञ अनुष्ठित करने वाला बतलाया गया है, जिसमें असंख्य लोगों तथा अन्य देवों

---

१. द्रष्टव्य इसी पुस्तक का पृष्ट ५२

२. इण्डि० एण्टि०, भाग १४, पृष्ठ ६८ तथा आगे।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

सहित बिट्ठल को अत्यधिक तुष्ट किया गया था।[1] इस अभिलेख में हमें पण्ठरपुर का एक दूसरा नाम प्राप्त होता है। यह नाम संभवतः इस लिए रखा गया होगा क्योंकि यह पाण्डुरङ्ग का नगर था। हेमचन्द्र के अनुसार पाण्डुरंग या पाण्डरङ्ग रुद्र या शिव का नाम है।[2] पण्ठरपुर में शिव का भी एक मन्दिर है जिसमें तीर्थयात्री को विठोबा या विट्ठल के मन्दिर में जाने से पूर्व जाना होता है। किन्तु पाण्डुरंग जो हेमचन्द्र के पाण्डुरंग से अभिन्न है—आजकल विट्ठल का ही जनप्रिय नाम है। इस नगर का पाण्डुरंगपुर नाम यहाँ विष्णु या विट्ठल का मन्दिर होने से पड़ा अथवा शिव का मन्दिर होने से, यह कह सकना कठिन है। किन्तु अभिलेख की शब्दावली से जिसमें विट्ठल और पाण्डुरंगपुर का अलग अलग उल्लेख किया गया है, यह प्रतीत होता है कि विट्ठल का इस नाम (पाण्डुरंगपुर) के साथ कोई सम्बन्ध नही है तथा नगर का यह नाम इसमें शिव मन्दिर होने से पड़ा। किन्तु बाद में जब विठोबा के महत्त्व की व्यापक रूप में वृद्धि हुई तब शिव पूर्णतया पृष्ठभूमि में चले गए और तब पाण्डुरंग नाम विट्ठल को दे दिया गया। प्रथम अभिलेख में प्राप्त होने वाले पौण्डरीक नाम की उत्पत्ति पुण्डरीक नामक एक व्यक्ति के नाम पर हुई प्रतीत होती है। इस व्यक्ति के सम्बन्ध में प्रचलित जन-कथानक इस प्रकार का है :—

यह कहा जाता है कि पण्ठरपुर का पार्श्ववर्ती क्षेत्र डिण्डिरवन नामक एक जङ्गल था। वहाँ पुण्डलीक नामक एक व्यक्ति रहता था, जिसका सारा समय अपने बूढ़े माता-पिता की सेवा में व्यतीत होता था। उनके प्रति उसकी भक्ति से भगवान् कृष्ण उससे प्रसन्न हो गए। ठीक इसी समय द्वारका में कृष्ण ने राधा का स्मरण किया, जो गोकुल में उनकी प्रेयसी थी। कृष्ण के गोकुल से चले जाने के उपरान्त वे तपश्चरण हेतु हिमालय चली गई थीं। उन्हें जब अपनी सहज ज्ञान-शक्ति द्वारा कृष्ण के स्मरण करने की बात ज्ञात हुई, वे तुरन्त द्वारका पहुँची और कृष्ण के उत्सङ्ग में बैठ गईं। कुछ भी समय बाद कृष्ण की विवाहिता पत्नी रुक्मिणी उस स्थान पर आई किन्तु राधा अपने स्थान से उठ न सकीं, जैसा कि उस समय किसी भी स्त्री से होता। कृष्ण ने भी रुक्मिणी के इस अपमान पर राधा की भर्त्सना नहीं की। इससे रुक्मिणी को बुरा लगा। उन्होंने द्वारका को त्याग दिया और इधर-उधर भटकते हुए डिण्डिर वन पहुंची तथा उस स्थान पर जहां आजकल पण्डरपुर है, ठहर गईं। रुक्मिणी के चले जाने पर कृष्ण बड़े दुःखी हुए और

१. अर्ली हिस्ट्री ऑफ दि डेकन, द्वितीय संस्करण, पृ० ११५.
२. देशीनाममाला, ६.२३.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

उनकी खोज में चतुर्दिक् गए। अन्त में वे उस स्थान पर पहुँचे जहाँ रुक्मिणी थीं। उनकी आपत्तियों का समाधान करके कृष्ण ने उन्हें मना लिया। तब वे पुण्डलीक को माता-पिता की सेवा के पुरस्कार के रूप में दर्शन देने के निमित्त उसकी कुटी पर गए। माता-पिता की सेवा में लगे होने के कारण पुण्डलीक उस समय उनका स्वागत नहीं कर सकता था। इसलिए उसने एक ईंट (मराठी वीट) फेंक दी और कृष्ण से कहा कि तब तक उसी वीट पर खड़े रहें और उसकी प्रतीक्षा करें, जब तक वह, जिस काम में लगा है, उसे पूरा न कर ले। कृष्ण ईंट पर खड़े हो गए और रुक्मिणी भी उनके साथ हो गईं और इस प्रकार पण्डरपुर का देवायतन प्रतिष्ठित हुआ।

नामदेव और तुकाराम दोनों ही ने विट्ठल भक्ति-मार्ग के जन्मदाता के रूप में पुण्डलीक का उल्लेख किया है। यह कथानक भी इसी तथ्य की ओर संकेत करता है। अतएव हम उन्हें वह व्यक्ति मान सकते हैं जिसने मराठा देश में विठोबा या विष्णु सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। वह पण्डरपुर में रहता था और सम्भवतः इसी कारण से इस नगर का नाम पौण्डरीक क्षेत्र पड़ा। इसे मैं प्रथम अभिलेख के आधुनिक नाम पण्ठरी से अभिन्न समझता हूँ। दूसरे अभिलेख का पाण्डुरंगपुर आगे चलकर पण्ठरपुर हो गया होगा।

इस कथानक में एक अन्य ऐतिहासिक महत्त्व भी है और वह यह है :— पहले कृष्ण-उपासना के साथ कोई भी नारी सम्बद्ध नहीं थी, जैसा हम शुद्ध पाञ्चरात्र या भागवत-मत के सन्दर्भ में देख चुके हैं। इसके बाद उत्तर में कृष्ण के साथ राधा को सम्बद्ध कर दिया गया, जैसा कि हम निम्बार्क, वल्लभ और चैतन्य के सम्प्रदायों में देख चुके हैं। महाराष्ट्र में कृष्ण के साथ उनकी विधिवत् विवाहिता पत्नी रुक्मिणी सम्बद्ध हो गईं। पण्डरपुर के कृष्ण विट्ठल या विठोबा नाम से ही जाने जाते हैं और रुक्मिणी रखमाई या रखमाबाई नाम से। इस देश के धार्मिक साहित्य में विट्टल या कृष्ण लगभग पूर्ण रूप से रुक्मिणीपति या रुक्मिणीवर ही कहलाते हैं, राधावल्लभ या राधा के प्रेमी नहीं। इस प्रकार मराठा देश का वैष्णव-धर्म, जिसमें कृष्ण और रुक्मिणी की पूजा होती है, ऊपर उल्लिखित तीन सम्प्रदायों की अपेक्षा अधिक गम्भीर और शुद्ध है। राही या राधिका का मराठी रूपान्तर यहां अज्ञात नहीं है किन्तु उनको महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं दिया गया। कभी कभी पूजा की पद्धति में गोकुल के कृष्ण की लीलाएं भी यदाकदा ही की जाती हैं, किन्तु उनका महत्त्व बहुत कम है। मराठा देश के वैष्णव-धर्म को निम्न जातियों में बहुत उर्वरा भूमि प्राप्त हुई, यद्यपि इसके अनुयायी ब्राह्मणों एवं

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

अन्य उच्च जातियों में भी हैं। रामानन्द के शिष्यों के वैष्णव-धर्म की भाँति इस मत में विद्वान् या संस्कृतज्ञ प्रवर्तक नहीं थे। इसके सन्त शूद्र थे, जिनके पास सच्ची धार्मिक अनुभूति और विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि थी। नामदेव और तुकाराम ऐसे ही थे।

नामदेव का परिवार मूलतः महाराष्ट्र के सतारा जिले में करहाड गांव के समीप स्थित और आजकल भाये नरसिंहपुर या कोलेम् नरसिंहपुर कहे जाने वाले नरसि वामणी ग्राम में रहता था। नामदेव का परिवार दर्जी जाति का था, इसलिए उनका व्यवसाय दर्जीगिरी अथवा कपड़ा वेचना था। नामदेव के पिता का नाम दामा सेठ था तथा माता का नाम गोणावाई। वे पण्डरपुर में आकर वस गए। यहीं पर नामदेव का जन्म शकाब्द ११९२ ई० तदनुसार १२७० ई० में हुआ था। नामदेव को साधारण शिक्षा प्राप्त हुई थी किन्तु उन्होंने अपने पैतृक व्यवसाय के प्रति वहुत कम रुचि प्रदर्शित की। वे विठोवा के परम भक्त वन गए और उन्होंने विसोवा खेचर—जो मूर्तिपूजा के विरोधी प्रतीत होते हैं—को अपना गुरु वनाया। नामदेव कहते हैं कि उनके गुरु ने उनको निम्नलिखित उपदेश दिया था :—

(सं० १९१)[1] "पत्थर के भगवान् कभी नहीं वोलते"। तब उनके द्वारा भव-रोग के निराकरण किए जाने की क्या संभावना? लोग प्रस्तर-प्रतिमा को भगवान् मान बैठते हैं किन्तु सच्चे भगवान् तो एकदम भिन्न हैं। अगर पत्थर का भगवान् इच्छाओं की पूर्ति करता है तो क्या कारण है कि मारने पर वह टूट जाता है। जो लोग पत्थर से बने हुए भगवान् की पूजा करते हैं, वे अपनी भूल से हर वस्तु खो देते हैं। जो लोग यह कहते और सुनते हैं कि पत्थर के भगवान् अपने भक्तों से वोलते हैं, ये दोनों ही मूर्ख हैं। जो ऐसे भगवान् की महत्ता का गान करते हैं और स्वयं को उनका भक्त कहते हैं, उन्हें तुच्छ व्यक्ति समझा जाना चाहिए और उनके शब्दों को नहीं सुनना चाहिए। यदि पत्थर को तराश कर भगवान् बनाया जाता है और वर्षों तक सावधानी के साथ उसकी पूजा की जाती है तो क्या समय पड़ने पर किसी भी काम आ सकता है। इस वात को अपने मन में भली-भांति सोचो। तीर्थ बड़ा हो अथवा छोटा हो वहाँ पर पत्थर अथवा जल के अतिरिक्त कोई भी ईश्वर नहीं है। द्वादशी (वारसी)[2] गांव में यह उपदेश दिया गया था कि ऐसा कोई भी स्थान नहीं है जो ईश्वर से शून्य हो। नामा को अपने हृदय

१. तुकाराम तात्त्या का संस्करण, वम्बई, १८९४
२. बारसी, पण्ढरपुर के समीप में स्थित एक नगर है।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

में भगवान् दिखलाए गए थे और इस प्रकार खेचर ने उन्हें आशीर्वाद दिया था।"

ईश्वर की सर्वव्यापकता तथा 'न वे जलराशि हैं, और न ही पत्थर' इस बात की व्याख्या यहां भलीभांति की गई है। ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता का प्रतिपादन नामदेव ने इस प्रकार किया है :—

(सं० १५१) "तेरी ही शक्ति से वेदों को बोलना और सूर्य को चक्कर लगाना पड़ता है; हे जगत्-पति, तेरी शक्ति ऐसी ही है। इस सारभूत सत्य को जानकर मैंने स्वयं को तेरी शरण में डाल दिया है। तेरी ही शक्ति से तो मेघों को जल बरसाना होता है, पर्वतों को दृढ़तापूर्वक स्थिर रहना होता है और वायु को बहना पड़ता है । तुम्हारे बिना कुछ भी हिल डुल नहीं सकता। हे प्रभु पाण्डुरङ्ग ! तुम सभी के कारण हो।"

इस प्रकार यह प्रकट होता है कि यद्यपि नामदेव पण्ढरपुर की प्रतिमा के उपासक थे, फिर भी उन्हें भगवान् के उस सत्य स्वरूप का पूर्ण ज्ञान था जो कि उपनिषदों जैसे ग्रन्थों में बतलाया गया है और इसी भगवान् को वे पाना चाहते थे।

(सं० १०२६) "तुम्हारा मन दुर्गुणों से परिपूर्ण है। तुम जो तीर्थयात्राएं करते हो, उनसे क्या लाभ ? यदि पश्चात्ताप नहीं हुआ तो तपस्याओं से क्या लाभ है ? मानसिक क्रिया से परिणमित पापों का प्रक्षालन ऊंचे से ऊंचे स्थान (तीर्थों के बाप) से भी नहीं हो सकता इस मामले का सार-तत्त्व बहुत आसान है। पाप का प्रक्षालन पश्चात्ताप से ही होता है ।" ऐसा नामदेव का कहना है।

(सं० ८८७) "व्रत, उपवास और तप एकदम आवश्यक नहीं हैं, न ही तुम्हारे लिए तीर्थयात्रा करना ही आवश्यक है। अपने हृदय में जागरूक रहो और सदा हरि का नाम गाओ। यह आवश्यक नहीं है कि जल पीना और भोजन करना छोड़ दिया जाए। अपने मन को हरि के चरणों पर स्थिर कर दो। योग, यज्ञ करने या इच्छित पदार्थों के त्याग करने की आवश्यकता नहीं है। हरिचरणों में अनुराग जगाओ। तुम्हारे लिए यह भी आवश्यक नहीं है कि तुम निर्गुण में अपने ध्यान को स्थिर करो। नामा का कहना है कि हरि-नाम के अनुराग में लगे रहो, हरि नाम गाने में लगे रहो और तब तुम्हारे सामने पाण्डुरङ्ग स्वयं प्रकट होंगे।

इन दो गीतों में नामदेव ने अपने श्रोताओं से तीर्थयात्रा, व्रत, उपवास, परब्रह्म-ध्यान तथा यज्ञ सदृश विशुद्धि-प्राप्ति तथा ईश्वर-प्राप्ति के प्रचलित उपायों की अक्षमता को बतलाया है।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

(सं० २४५) "उसी व्यक्ति को धार्मिक मानो जो समस्त अहङ्कार का उच्छेद करके सभी वस्तुओं में वासुदेव को देखे। बाकी सभी तो माया के पाशों से जकड़े हुए हैं। ऐसे व्यक्ति के लिए समस्त सम्पत्तियाँ मिट्टी जैसी हैं और नौ रत्न मात्र पत्थर हैं। उसने इच्छा और क्रोध को निकाल कर बाहर कर दिया है और अपने हृदय में शान्ति और क्षमा को बढ़ाया है। वह निरन्तर गोविन्द का नाम जपता है तथा कभी एक क्षण के लिए भी नहीं रुकता।"

(सं० १००४) "दृढ़ता के साथ सत्य को पकड़ लो, जो कि नारायण है। आचरण-शुद्धि का त्याग नहीं करना चाहिए। व्यक्ति को जनापवाद से भयभीत नहीं होना चाहिए और अपने लक्ष्य की पूर्ति करनी चाहिए। समस्त दम्भ और अहंकार को त्याग कर अपने अनुरागी सखा (भगवान्) के प्रति स्वयं को समर्पित कर दो। जनापवाद को प्रशंसा समझना चाहिए और उनकी प्रशंसा पर ध्यान नहीं देना चाहिए। सम्मानित और सत्कृत होने की कामना नहीं रखनी चाहिए तथा अपने अन्दर भक्ति के प्रति अभिरुचि को बढ़ाना चाहिए। भक्ति के प्रति अभिरुचि को दृढ़ बना देना चाहिए तथा भगवान् के नाम की अवहेलना एक क्षण के लिए भी नहीं करनी चाहिए।

इन गीतों में नामदेव ने ऐसे व्यक्ति की पवित्र अवस्था का वर्णन किया है जो वासुदेव का भक्त है, उन्हें सर्वत्र देखता है तथा लोकापवाद की चिन्ता न करते हुए भगवान् के प्रति आत्म-समर्पण का उपदेश देता है।

नामदेव की शिक्षाओं की यह संक्षिप्त बानगी है। हृदय-शुद्धि, विनय, आत्म-समर्पण, क्षमा और भगवत्-भक्ति ही इन शिक्षाओं का निचोड़ एवं सार है। नामदेव ने हिन्दी में भी गीत लिखे थे। उनमें से कुछ सिक्खों के धर्म-ग्रन्थ ग्रन्थ-साहब (लखनऊ १८९३, पृ० ४२७-२८) में संकलित हैं। इनमें से दो का अनुवाद मैं प्रस्तुत कर रहा हूँ :—[1]

(सं० २३५२) "वह एक है (किन्तु) बहुतों को भरता है और आवेष्टित करता है। जहाँ कहीं भी तुम देखो, तुम उसे ही पाओगे। ऐसे लोग विरले ही हैं जो उसे समझते हों। सभी तो माया द्वारा विरचित चित्र-विचित्र दृश्य द्वारा मोहित हैं। हर चीज गोविन्द है, हर वस्तु गोविन्द है, गोविन्द से रहित तो कुछ भी नहीं है। जैसे एक ही सूत्र में आड़े, सीधे मोती गुथे हुए हैं उसी तरह भगवान् में ही सभी कुछ गुंथा हुआ है। जल के बुलबुले, फेन और तरङ्ग जल से भिन्न नहीं हैं। यह समस्त विश्व-प्रपञ्च परब्रह्म की

१. तुकाराम तात्या का संस्करण

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

क्रीड़ा है और जब हम विचार करते हैं तो यह उससे भिन्न नहीं मालूम पड़ता। भ्रमजनित छायाओं और स्वप्न के पदार्थों को यथार्थ समझ लिया जाता है। जब गुरु के उपदेश से मेरी बुद्धि खुल गई, मैंने सत्य को स्वीकार किया। नामा कहते हैं कि मनन करके इस सब को हरि की सृष्टि समझो; प्रत्येक वस्तु के अन्दर बिना किसी अन्तराल के एक एक हरि समाया हुआ है।"

(सं० २३५३) "भगवान् को स्नान कराने के लिए घड़े को भरा गया और जल लाया गया। इसमें ४२ लाख जीव थे, विट्ठल उन सब में पहले से ही थे। मैं किसे नहलाऊं? जहाँ कहाँ पर हम जाते हैं, वहीं विट्ठल हैं और वे सदा आनन्दपूर्वक क्रीड़ा करते हैं। पुष्प लाए गए और भगवान् की पूजा के लिए मालाएं गूंथी गईं। पहले मधुकरों ने फूलों को सूँघ लिया था। विट्ठल उनमें भी था; अब मैं क्या करूं? दूध लाया गया और भगवान् के नैवेद्य के लिए खीर पकाई गई; लेकिन बछड़े ने तो पहले ही दूध पी लिया था। विट्ठल उस बछड़े में भी थे; मैं क्या करूं? यहाँ विट्ठल हैं, वहाँ विट्ठल हैं। ऐसा कोई संसार नहीं है, जहाँ पर विट्ठल न हों।[1] नामा कहते हैं "तुम ने इस स्थान को और उस स्थान को भर दिया है। तुमने अखिल विश्व को भर दिया है।"

इन पदों में नामदेव ने ईश्वर की सर्व-व्यापकता का वर्णन किया है।

नामदेव के जन्म के लिए निर्धारित तिथि, जैसा कि हम देख चुके हैं, शकाब्द ११९२ तदनुसार १२७० ई० है। इससे वे १२९० ई० में पूर्ण की गई ज्ञानदेवी नामक रचना के लेखक ज्ञानदेव के समकालीन सिद्ध होते हैं। किन्तु ज्ञानदेवी की मराठी निश्चित रूप से अधिक पुरानी है जब कि नामदेव की रचनाओं की मराठी अपेक्षाकृत काफी अर्वाचीन स्वरूप की है। नामदेव की हिन्दी भी तेरहवीं सदी—जबकि चन्द कवि हुए थे[2]—की अपेक्षा अर्वाचीन दिखती है। ऐसा किस कारण से हुआ, यह कह सकना कठिन है। किन्तु यह सम्भव प्रतीत होता है कि परम्परा में उनकी जो जन्मतिथि शकाब्द ११९२ में रखी गई है, वह कुछ पीछे कर दी गई हो और उन्हें ज्ञानदेव का समसामयिक बतलाने का प्रयास किया गया हो। पूर्ववर्ती खण्ड में

---

१. ये दो पद मैकोलिफ के सिख रिलीजन भाग ६ पृ० ४१-४२ में अनूदित हैं। बम्बई संस्करण के पाठों की तुलना ग्रन्थ साहेब के लखनऊ संस्करण १८९३ से की गई है।

२. द्रष्टव्य सर्च फॉर संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स १८८७-१८९१ पृ० में मेरा प्रतिवेदन।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

हमने देखा है कि विष्णु स्वामी के उत्तराधिकारियों के नामों का उल्लेख करते हुए नामा जी ने ज्ञानदेव को पहले रखा है और नामदेव को बाद में। यदि नामदेव की तिथि का मराठी और हिन्दी के आधार पर हम निर्णय करें तो इनकी तिथि लगभग एक शताब्दी आगे रखी जानी चाहिए।

किन्तु जब नामदेव हुए उस समय का कुछ अनुमान मूर्तिपूजा की निरर्थकता से सम्बद्ध उस दृढ़ एवं सुनिश्चित भावना से लगाया जा सकता है जिसका प्रतिपादन, ऊपर अनूदित एक पद में उनके गुरु के द्वारा किया गया था। खेचर या विसोवा खेचर—जैसा कि उनका प्रायः प्रचलित नाम था—विद्यमान जीवन-चरितों में दिए हुए विवरणों के अनुसार मूर्ति पूजा के प्रबल विरोधी मालूम पड़ते हैं। रामानुज समेत समस्त पूर्ववर्ती लेखकों तथा अनेक परवर्ती लेखकों ने किसी न किसी रूप में मूर्ति-पूजा को चलने दिया। यदि खेचर का दृष्टिकोण मूर्तिपूजा के प्रति उग्र था तो वे उनके शिष्य नामदेव ऐसे समय में हुए होंगे जबकि पहली बार मुसलमानों का प्रभाव अत्यन्त शक्तिशाली हो गया होगा। दक्षिण में मुसलमान चौदहवीं सदी ईसवी के प्रारम्भ में प्रतिष्ठित हुए थे तथा मूर्ति-पूजा के प्रति उनकी घृणा की भावना को धार्मिक हिन्दुओं की सूझ में अपना स्थान बनाने में लगभग एक सौ वर्ष लग गए होंगे। मराठा देश में मुसलमानों के जम जाने के उपरान्त ही नामदेव हुए, इस तथ्य का अधिक सीधा साक्ष्य उनके एक पद के उस उल्लेख में है जिसमें तुरक लोगों या तुर्कों द्वारा मूर्ति भंजन का उल्लेख है (सं० ३६४)। प्रारम्भिक समय में हिन्दू लोग मुसलमानों को प्रायः तुरक कहते थे। अतएव नामदेव सम्भवतः चौदहवीं सदी के अन्त के लगभग या उसके उपरान्त हुए होंगे। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इतने विस्तार के साथ बतलाई हुई नामदेव की जन्म-तिथि एकदम गलत है। दुर्भाग्यवश ऐतिहासिक भावना हम भारतीयों के बौद्धिक जीवन की कभी भी कसौटी नहीं रही है और हम प्रायः दो व्यक्तियों को एक कर देते हैं और एक की विशेषता दूसरे के साथ जोड़ दिया करते हैं। प्रस्तुत उदाहरण में कुछ ऐसी ही भ्रान्ति हुई होगी।

तुकाराम का जन्म देहु नामक ग्राम में हुआ था और वे वहीं रहते थे। यह गांव पूना से पूर्वोत्तर की ओर लगभग चौदह मील पर है। वे जिस परिवार के थे वह मोड़े नाम का था। यह मराठा जाति का परिवार था और सम्भवतः प्राचीन क्षत्रिय वर्ण से निःसृत था। किन्तु इसे शूद्र जातीय समझा जाता है। उनकी जन्मतिथि के बारे में कोई सुनिश्चित ज्ञान नहीं है किन्तु परम्परा

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

में उनकी मृत्यु के लिए निर्धारित की गई तिथि शकाब्द १५७१ तदनुसार १६४९ ई० की सत्यता पर सन्देह करने के लिए कोई कारण नहीं है। उनका जीवन चरित लिखने वाले महीपति ने बतलाया है कि अपने जीवन के पूर्वार्द्ध के अन्त में जब वे इक्कीस वर्ष की आयु के थे तभी दिवालिया हो गए थे। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि वे बयालीस वर्षों तक जीवित रहे और इस तरह उनका जन्म १६०७-८ ई० में हुआ होगा।

तुकाराम के सात पूर्वज विठोबा के पक्के भक्त थे। इनमें से विश्वम्भर ऐसे पहले व्यक्ति थे जो नियमित रूप से पण्ढरपुर की यात्रा करते थे। किन्तु कुछ वर्षों के उपरान्त उन्होंने अपने गांव में एक मन्दिर बनवा लिया और इस मन्दिर में विठोबा एवं रुक्मिणी की प्रतिमाएं प्रतिष्ठित कराकर यह मन्दिर उनकी पूजार्थ लगा दिया। तुकाराम के पिता का नाम बोल्होजी था तथा वे छोटे व्यापारी का धन्धा करते थे। जब वे वृद्ध हो गए तो इन्होंने अपने सबसे जेठे पुत्र सावजी पर अपने परिवार और व्यापार का भार रखना चाहा। किन्तु साव जी ऐसे मनुष्य थे जिन्हें सांसारिक जीवन में कोई भी रुचि नहीं थी और उन्होंने व्यापार का भार स्वीकार नहीं किया। अतएव यह भार तुकाराम पर रखा गया जो उस समय तेरह वर्ष के थे। तुकाराम ने किसी तरह इन मामलों का सञ्चालन उस समय तक किया जब तक कि वे सत्रह वर्ष के न हो गए। इसी समय इनके पिता की मृत्यु हो गई। जब यह घटित हुआ तो स्वभावतः उन्हें बहुत पीड़ा हुई। सरल व्यक्ति होने और कुटिल व्यक्तियों की चालों का शिकार बन जाने के कारण उनका धंधा अव्यवस्थित हो गया और अपने धन्धे में उन्हें घाटा लग गया। तुकाराम का विवाह पहले ऐसी पत्नी से हुआ था जो रोगिणी थी तथा कुछ काल के उपरान्त उन्होंने पूना के एक सुसम्पन्न व्यवसायी की पुत्री जीजाबाई या आवली नाम की दूसरी पत्नी के साथ विवाह किया। जब उनका धंधा अस्त-व्यस्त हो गया, तब आवली ने उनके लिए ऋण की व्यवस्था कर दी और उन्हें फिर से धन्धे में लगा दिया। कुछ समय के उपरान्त अपने नए धन्धे में उन्होंने लाभ प्राप्त किया। वे अपने सामान को बेचने जहाँ गए थे वहाँ से जब वापस लौट रहे थे तो उन्हें एक ऐसा व्यक्ति मिला जिसे महाजन के कर्मचारी पकड़कर लिए जा रहे थे और वह चिल्ला रहा था कि कोई मदद करके उसे ऋण से मुक्त करा दे तथा कारावास में जाने से बचा ले। तुकाराम ने इस व्यक्ति को जो अपना मूलधन और लाभ था वह सब दे दिया। वे खाली हाथ देहू लौटे तथा इसके थोड़े ही समय बाद एक दुर्भिक्ष पड़ा जिसने उन्हें पूर्णतया दिवालिया बना दिया तथा उनकी पहली पत्नी भूख से मर गई। तब तुकाराम ने धन्धे

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

को छोड़ देने का निश्चय मन में कर लिया किन्तु उनके अनुज कान्हया ने इसका विरोध किया। तब इन्द्रायणी के तट पर बैठकर उन्होंने अपने भाई को धन्धे से सम्बन्धित विक्रयपत्र, प्रतिज्ञापत्र आदि सभी कागज पत्र लाने के लिए कहा, उनको दो हिस्सों में बांटा, एक भाग कान्हया को दे दिया तथा उसे अलग होकर रहने के लिए कहा और अपना हिस्सा नदी में फेंक दिया। तब से लेकर वे भगवान् के ध्यान, तथा उनके कीर्तनों के गान में लग गए। दिन का समय वे देहू के निकट स्थित एक पर्वत पर बिताने लगे और रात का समय गांव में विठोवा के मन्दिर में बिताने लगे। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती सन्तों और साधुओं की धार्मिक विषयों पर लिखी हुई रचनाओं को पढ़ा। शीघ्र ही उनके मन में मराठी में गीत लिख कर अपने विचारों और भावों को अभिव्यक्त करने का विचार आया। उन्होंने जिस छन्द का प्रयोग किया वह छन्द अभङ्ग नाम से ख्यात थी। इस छन्द की रचना कठिन नहीं है, केवल नियत अन्तरालों पर अन्त्यानुप्रास का प्रयोग इसका वैशिष्टच है। एकाग्र धर्म-निष्ठा, सभी की सेवा की कामना तथा उनके कार्यों तक को कर देना उनके चरित्र के लक्षण बन गए। पारिवारिक मामलों की देखभाल उनकी पत्नी आवली को करनी पड़ती थी जो प्रायः अपने को बड़ी कठिनाई में पाती थीं। तुकाराम का मुख्य कार्य कीर्तनों का करना था जिसमें गीतों के गान के साथ-साथ बीच-बीच में धार्मिक प्रवचन भी रहा करते थे। ये प्रवचन धीरे-२ बहुत आकर्षक होते गए तथा लोगों की बड़ी संख्या को आकृष्ट करने लगे। इन प्रवचनों में जो गीत वे गाते थे वे प्रायः उन्हीं के द्वारा तैयार किए हुए रहते थे तथा कुछ गीत तो वे प्रवचन करते करते तत्काल रच डालते थे। तुकाराम की कीर्ति न केवल पूरे गांव के आसपास अपितु समस्त प्रदेश में फैल गई। इससे विशेष कर ब्राह्मणों के मन में, जिन्होंने अपने को धर्माचार्य बना रखा था, ईर्ष्या उत्पन्न हुई। उन्हें दण्ड दिया गया। किन्तु उन्होंने बराबर अपने संयम का संतुलन कायम रखा हालांकि उनके मस्तिष्क में बड़े अन्तर्द्वन्द्व थे। उनका यश मराठों के भावी अधिपति उदीयमान नृपति शिवा जी के कानों तक पहुँचा। शिवा जी तुकाराम के कीर्तन सुनने को आतुर हो उठे और एक अवसर पर तो उन्होंने विशेष सम्मान के चिह्न मशाल, छत्र और घोड़े को भेजकर उन्हें अपने यहां बुलवाया। किन्तु तुकाराम ने जाना अस्वीकार कर दिया तथा अपने प्रचलित छन्द में एक पत्र लिख कर भेंट दिया। एक अन्य अवसर पर शिवा जी पूना से लगभग ६ मील पर लोहू स्थित गांव में उनके एक कीर्तन में सम्मिलित हुए तथा तुकाराम के आगे सोनें की मुद्राओं से भरी हुई एक थाली रख दी। तुकाराम ने इन मुद्राओं को स्वीकार नहीं किया और

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

वहाँ पर बैठे ब्राह्मणों को वे सिक्के बांट दिये। जब उनका अन्तकाल आ पहुंचा, तब कहा जाता है कि उन्होंने अपने अनुयायियों को बहुत बड़ी संख्या में एकत्रित किया। उन्हें लेकर इन्द्रायणी नदी के तट की ओर चल पड़े सभी लोग भगवान् के कीर्तन को ऊंचे स्वर से तथा उत्साह से गा रहे थे और इसमें पूर्णतया निमग्न थे। जब वे नदी के समीप पहुँचे कि तुकाराम सहसा तिरोहित हो गए। उनकी मृत्यु का और अधिक वर्णन प्राप्त नहीं होता।

यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि तुकाराम को अभङ्गों की रचना में निपुणता प्राप्त हो चुकी थी। वे अभङ्गों में ही बोलते थे और अभङ्गों में ही लिखते थे। इनमें से कुछ ही को लिखा जा सकता था अतएव कुछ ही को लिख लिया गया तथा उन्होंने एवं उनके तुरन्त बाद के अनुयायियों ने बहुतों को छोड़ दिया किन्तु वे लोगों की स्मृति में तो रह ही गए। अतएव उनकी रचनाओं के समस्त संग्रहों का आकार एक जैसा नहीं है। ऐसे दो संग्रह बम्बई में मुद्रित हुए हैं। एक में ४६२१ अभङ्ग हैं और दूसरे में ८४४१। इनमें से दूसरा संग्रह विधिवत् परीक्षण करके तैयार नहीं किया गया और इसमें प्रायः एक ही अभंग को प्रारम्भिक पंक्तियां छोड़ कर दूसरी बार दे दिया गया है। फिर भी यह अपेक्षाकृत बड़ा संग्रह है और इसमें ऐसे अभङ्ग हैं जो प्रथम संग्रह में नहीं पाए जाते किन्तु वे तुकाराम की ही शैली में हैं और इनमें तीव्र भक्ति भाव तथा चिन्तन की पवित्रता देखने को मिलती है। अब हम कुछ बानगियां प्रस्तुत करेंगे।

प्रथम संग्रह सं० २८६९ "जब बृहस्पति सिंह लग्न में प्रवेश करता है तब नाई और पुरोहितों के भाग्य खुल जाते हैं। हृदय में करोड़ों पाप रहते हैं किन्तु ये लोग ऊपर ही ऊपर शिर और दाढ़ी मुड़वाते हैं। जिन्हें (बालों को) मूँड़ दिया गया वे नहीं रहे। मुझे बतलाओ और क्या अन्तर आया? बुरी आदतें नहीं बदलीं, जिनका बदलना पाप-क्षय माना जाता। तुकाराम कहते हैं कि भक्ति और आस्था के बिना हर चीज व्यर्थ की मुसीबत है।"

द्वि० सं० सं० ४७३३ "पवित्र नदी में जाकर तुमने क्या किया? तुमने केवल बाहर अपनी त्वचा का प्रक्षालन किया इससे किस तरह अन्तःकरण पवित्र हुआ? इससे केवल तुमने अपनी शोभा बढ़ाई है। तिक्त वृन्दावन फल चीनी से भी लपेट दिया जाए फिर भी भीतर की तिक्तता किसी भी तरह कम नहीं होगी। यदि अन्दर शान्ति, क्षमा और सहानुभूति नहीं आती, तब तुम क्यों कोई कष्ट करते हो?

प्र० सं० सं० ९० (१ २) "तिल और चावल आग में डालकर तुमने जला

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

दिए किन्तु काम और क्रोध तो पहले ही की भांति वने हुए हैं। तव पाण्डुरङ्ग की पूजा छोड़ कर तुमने व्यर्थ का कष्ट क्यों किया।"

यहां पर तुकाराम ने ऐसी धार्मिक विधियों की जो कि केवल शरीर से ही सम्बन्धित हैं—तथा यज्ञ आदि जैसे कृत्रिम अनुष्ठानों की निन्दा की है तथा आध्यात्मिक गुण की उपलब्धि के निमित्त प्रयत्नशील रहने तथा ईश्वर की पूजा की आवश्यकता पर वल दिया है।

सं० २३८३ (प्रथम संग्रह) में तुकाराम जारवाई, जोरवाई जैसी देवियों, भैरव और गणपति आदि देवों तथा भूत-पिशाचों की पूजा की निन्दा करते हैं तथा रुक्मिणी-वल्लभ की पूजा करने का परामर्श हृदय से देते हैं। इस प्रकार तुकाराम केवल पण्ढरपुर के विठोवा के भक्त थे और इस अर्थ में वे एकेश्वरवादी थे। यद्यपि वे वहां की मूर्ति की पूजा किया करते थे किन्तु उनके मन-नेत्रों के सामने सदैव जगत् के परमेश्वर रहते थे जैसा कि नीचे के पदों में वतलाया गया है :—

प्रथम संग्रह सं० ४३६१ "तुम्हारी महत्ता अज्ञेय है। वेद भी मौन हो जाते हैं और मन की शक्ति कुण्ठित हो जाती है। मेरे मन की शक्तियों के उनके पास तक पहुँचने की क्या संभावना है। जिनके प्रकाश को सूर्य और चन्द्र फैला रहे हैं, सहस्र जिह्वाओं वाले (शेष नाग) भी जिनकी महत्ता का वर्णन करने में असमर्थ हैं, तव मैं कैसे कर सकता हूं। तुका कहते हैं हम तुम्हारी सन्तान हैं, तुम हमारी माता हो, हमको अपने अनुग्रह की छाया में समेट लो"।

प्रथम संग्रह सं० ४४१६ "समस्त संसार कहता है कि तुम से रहित तिल के वीज जितनी भी जगह नहीं है। पुराने ऋषियों, साधुओं, सन्तों और महात्मा-जनों ने कहा है कि तुम इन सभी वस्तुओं के हृदय में स्थित हो। तुम असंख्य ब्रह्माण्डों में व्याप्त होकर भी उनसे कहीं अधिक हो, फिर भी तुम मेरे लिए अगम्य हो।"

प्रथम संग्रह सं० १८७० "ईश्वर हमारा है, निश्चित ही हमारा है तथा सभी आत्माओं की आत्मा है। ईश्वर हमारे निकट है, निश्चित ही निकट, वाहर और अन्दर है। ईश्वर दयालु है, निश्चित रूप से दयालु है तथा हमारी इच्छाओं को भी पूरा करता है। ईश्वर हमारी रक्षा करता है, निश्चित रूप से रक्षा करता है तथा संघर्ष एवं मृत्यु का अभिभव करता है। ईश्वर कृपालु है, निश्चित ही कृपालु है, और तुका का रक्षक है"।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

इस परमेश्वर को केवल दृढ़ अनुराग या प्रेम से ही प्राप्त किया जा सकता है, अन्य किन्हीं उपायों से नहीं :—

प्रथम संग्रह सं० ८१० "तेरा यह स्वरूप मन और वचनों की पकड़ के वाहर है और इसलिए मैंने दृढ़ प्रेम को मापक वनाया है। अनुराग के मापक द्वारा मैं अनन्त को मापता हूँ, उन्हें अन्य साधनों द्वारा सही-सही रूप में मापा जा सकता है। योग-प्रक्रिया, यज्ञ, तप और ज्ञान द्वारा भी तुझे नहीं पाया जा सकता। हे केशव! शुद्ध हृदय से हम जो सेवाएं अर्पित कर रहे हैं, उन्हें स्वीकार करो।"

ईश्वर के दर्शन में शान्ति और शुद्ध अनिर्वचनीय आनन्द है :—

द्वितीय संग्रह सं० १४११ "हे नारायण विश्राम से प्राप्त होने वाली शान्ति यथार्थतः तुम्हारे चरणों के विना प्राप्त नहीं की जा सकती। चाहे करोड़ों कल्पों तक विधि-विधानों को सम्पन्न किया जाए, आनन्द की प्राप्ति नहीं होगी। हे मेरी आत्मा के धारक! हे सर्वज्ञ! मुझे अपने चरणों के दर्शन कराओ वे उस परमानन्द के प्रदान करने वाले हैं, जो अनन्त और असीम है और जिसका अनुभव हरि और हर ने किया है।"

किन्तु अनियन्त्रित वासनाओं वाले व्यक्तियों को इस ईश्वर के दर्शन नहीं होते :—

प्रथम संग्रह सं० ४४२० "अनन्त उस पार है, उसके और मेरे वीच में काम और क्रोध के ऊँचे पर्वत हैं। न तो मैं उन पर्वतों पर चढ़ सकता हूँ और न कोई दूसरा मार्ग है। मेरे (पहाड़ जैसे) शत्रुओं की ऊंचाई अनुलंघ्य है। अपने सखा नारायण को प्राप्त करने की क्या संभावना है? पाण्डुरंग मुझ से तिरोहित हो गए हैं। तुकाराम कहते हैं कि अब यह स्पष्ट हो गया है कि मेरा यह मूल्यवान् जीवन व्यर्थ हो गया है।"

इन वासनाओं का नियन्त्रण तुकाराम का महान् एवं सच्चा लक्ष्य वन गया। उन्होंने सावधानी के साथ अपने हृदय की परीक्षा की तथा जीवन के सभी अवसरों पर एक या दूसरे रूप में इन्हें विद्यमान पाया। उन्होंने ईश्वर से सहायता के निमित्त पुनः पुनः अधीर होकर प्रार्थनाएं कीं। इन प्रार्थनाओं की संख्या बहुत अधिक है।

द्वितीय संग्रह सं० १४३० "किसकी सहायता से मैं अपनी कमर कसूँगा? हे पाण्डुरङ्ग, मैं अपने को निराश पाता हूँ। समस्त दुष्ट मेरी काया में रहते हैं और उन्होंने मेरे मन को दबा रखा है। मेरे सारे प्रयत्न निष्फल हुए हैं। मैं अब क्या करूं? तू ही असहायों की एकमात्र माता है; तुका कहते हैं, ये दुष्ट तेरी शक्ति के बिना मेरी काया को नहीं छोड़ेंगे"।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

दुष्ट व्यक्ति वासनाएं हैं।

जब कुछ वर्षों में तुकाराम प्रसिद्ध हो गए और सर्वत्र उनकी प्रशंसा होने लगी, उन्हें संतोष की एक झलक मिली जिससे उनके हृदय में एक शक्ति आई। इसे उन्होंने दर्प या अहंकार समझा और वे इससे अत्यधिक भयभीत हो गए तथा उन्होंने ईश्वर से इस अहङ्कार से मुक्त करने तथा विनम्रता प्रदान करने की पुनः-पुनः प्रार्थना की :—

प्रथम संग्रह सं० १७७९ "मैं शब्दों के अनियन्त्रित प्रयोग में निपुण हो गया हूँ। मैं सब के मूल को प्राप्त नहीं कर सका। अतएव हे पण्ढरी के राजा, मेरा मन अत्यन्त उत्पीडित है। कौन जानता है कि मेरे हृदय में क्या है ? मेरा सम्मान किया गया और उससे अभिमान का उदय हुआ तथा मेरी आगे की प्रगति अवरुद्ध हो गई। तुका कहते हैं, मैं सच्चा मार्ग नहीं जानता और स्वयं को अहङ्कार के हाथों में पाता हूँ।" पुनश्च—

प्रथम संग्रह सं० ११३३ "मैं कीर्ति, सांसारिक सम्मान और महत्ता को क्या करूंगा ? मुझे अपने चरणों के दर्शन कराओ। ऐसा मत करो कि तुम्हारे दास का जीवन वृथा हो जाए। यदि मैं महान् होकर आडम्बरी ज्ञान के भार को वहन करने लगूं तो मैं तुम्हारे चरणों से निरन्तर दूर होता जाऊंगा। आन्तरिक स्थिति को जानने वाले व्यक्तियों की क्या संभावना है। मनुष्य को उसके बाह्य स्वरूपों से आंका जाता है। तब भी मेरे लिए विपत्ति वरदान स्वरूप होगी यदि वह मुझे तेरे चरणों तक ले जाए।"

इस प्रकार वे विनम्रता के गुण की अभिवृद्धि करते रहते हैं और अन्त में अपने भीतर विद्यमान अहं के उन्मूलन की बात निम्नलिखित पद में करते हैं :—

प्रथम संग्रह, संख्या ३४७४ "मैंने अपनी आत्मा का समर्पण तुम्हारे आगे कर दिया है और अपने स्वत्व को त्याग दिया है। अब यहाँ पर केवल तुम्हारी शक्ति व्याप्त है। मैं मर चुका हूँ, तूने अपना स्थान यहां पर बना लिया है। अब यहां 'मैं' व 'मेरा' जैसी कोई भी चीज शेष नहीं रह गई है।"

यहां उन्होंने अहं के परित्याग करने तथा अहं के स्थान पर उनके हृदय में ईश्वर के निवास करने की बात कही है। यह बात अधिक स्पष्ट रूप से निम्न पदों में अभिव्यक्त है :—

प्रथम संग्रह, संग्रह २७६८ "मैंने अपनी ही आँखों से अपनी मृत्यु देखी है जिसका फल अतुलनीय आनन्द है। तीनों लोक आनन्द से परिपूरित हो

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

गए हैं तथा मैंने सभी की आत्मा के रूप में आनन्द का अनुभव किया है। अपने स्वत्व भाव में मैं एक ही स्थान तक सीमित था, अब इसके परित्याग से मैं सर्व-व्यापी बन गया हूँ। जन्म और मृत्यु से जनित दोषों का अन्त हो चुका है तथा मैं 'मैं' और 'मेरा' की भावना से फलित क्षुद्रता से मुक्त हो चुका हूँ। नारायण ने मुझे अब निवास के लिए स्थान दे दिया है, उनमें विश्वास करके मैंने उनके चरणों में स्थान प्राप्त कर लिया है। तुकाराम कहते हैं, जिस काम को मैंने अपने हाथों में लिया था, उसे पूर्ण कर संसार के सामने रख दिया है।"

यहां पर उन्होंने अपने भीतर विद्यमान संकीर्ण मनुष्य के विनाश तथा उदात्त मानव के आविर्भाव की बात कही है। आध्यात्मिक प्रगति के इच्छुक व्यक्तियों के लिए शिक्षा देने वाली रचनाएं काफी बड़ी संख्या में उपलब्ध हैं। कुछ चुने हुए नमूने नीचे दिए जा रहे हैं :—

प्र० सं०, सं० ३८०० "अत एव अपने पूरे हृदय के साथ स्वयं को भगवान् के प्रति समर्पित कर देना चाहिए। वे जीवन सरिता के जिसे—पार कर पाना बड़ा कठिन है—उस पार पहुँचा देंगे। वे जिनका नाम अनन्त है, बड़े दयालु हैं, तुकाराम कहते हैं कि मैंने इसका स्वयं अनुभव किया है और इसलिए सभी को यह बतलाता हूँ।"

द्वि० सं०, सं० ५३८३ "वस्तुत: वे लोग भाग्यशाली हैं, जिनके हृदय में क्षमा का वास है तथा अवसर पड़ने पर जिनका साहस और शक्ति नहीं चुकती जो दूसरे लोगों को अच्छा या बुरा कह कर उनकी निन्दा नहीं करते तथा जो सांसारिक महत्ता या श्रेष्ठता के बारे में एकदम नहीं सोचते, जो गङ्गा की तरह भीतर और बाहर दोनों तरह से पवित्र हैं तथा जिनका हृदय कोमल है। तुकाराम कहते हैं कि मैं उनके चारों ओर मंडराऊंगा और अपना शिर उनके चरणों में रख दूंगा।"

प्र० सं०, २३९७ "समस्त जीवों के प्रति वैर-भाव त्याग दो। केवल यही उत्तम मार्ग है। केवल इसी तरह नारायण तुझे अपनाएंगे। इसके बिना सारी बातें निरर्थक झञ्झट हैं। सम्बन्धियों तथा शत्रुओं को एक समान समझो और मन को दूसरों की भलाई में लगाओ। तुकाराम कहता है कि जब मन शुद्ध हो तो प्रत्येक वस्तु फलदायक हो जाती है।"

प्र० सं०, १३६८

"भोजन मत त्यागो, वन में वास करने वाले मत बनो। अपने समस्त दुखों और सुखों में नारायण का चिन्तन करो। अपनी माता के कन्धों पर बैठा हुआ शिशु किसी भी परेशानी का अनुभव नहीं करता। इससे

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

भिन्न सभी और विचारों को त्याग दो। सांसारिक आनन्दों में न फंसो और न उनका त्याग करो। जो कुछ भी करो, वह सब भगवान् को समर्पित कर दो और उसी से प्रयोजन रखो। तुकाराम कहते हैं, मुझ से बार बार मत पूछो, इसके अतिरिक्त कुछ सिखाने योग्य नहीं है।"

यहाँ पर तुकाराम ने लोगों को संसार का त्याग करने तथा संन्यासी होने से निवृत्त किया है तथा इसके स्थान पर अपना जीवन ईश्वर की सेवा में लगाने और हर काम उसे प्रसन्न करने के लिए करने की सलाह दी है।

मराठों के बीच प्रायः इस प्रश्न की चर्चा की जाती है कि क्या तुकाराम शङ्कराचार्य के वेदान्त-सिद्धान्त के अनुयायी थे तथा आत्मा के अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओं को भ्रम मानते थे। कुछ अभङ्ग ऐसे हैं जो उस सिद्धान्त के अधिक से अधिक निकट पहुंचे हुए हैं, जैसे कि नीचे के ये :—

प्र० सं० ३०० "उस पार पहुँचने के लिए मृगतृष्णा को पार करने का क्या अर्थ? बच्चे मिट्टी के वर्तन के टुकड़ों को सोने के सिक्के बना कर खेलते हैं। क्या इनके लेन देन से कोई हानि-लाभ होता है? छोटी लड़कियां (गुड्डे-गुड्डियों का) ब्याह रचाती हैं? क्या उससे वास्तविक सम्बन्ध बनता है। स्वप्न में जो सुख दुःख होता है, जागने पर वह सत्य नहीं रहता है। तुकाराम कहता है कि अमुक का जन्म हुआ, अमुक की मृत्यु हुई, इस प्रकार की सभी बातें झूठी हैं, आदमी बन्धन में हैं, मुक्त होते हैं, इस प्रकार की बातें व्यर्थ की बकवास है।"

यहाँ पर प्रत्येक वस्तु के भ्रमात्मक स्वरूप का प्रतिपादन शंकराचार्य की जगन्मिथ्यात्व की शैली में ही किया गया है।

पुनश्च—

प्र० सं० १९९२ "शक्कर के दाने और चूर्ण में केवल नाम भर का भेद है, जब मिठास का निर्णय करना होता है तो इन दोनों में कोई भी भेद नहीं है। हे पाण्डुरङ्ग, मुझे बतलाओ, मैं और तुम किस प्रकार भिन्न-भिन्न हैं। तुमने विश्व को परिचलित किया है, जिसका परिणाम है 'मैं' और 'मेरा'। आभूषणों के रूप में सोने को हाथ, पैर, नाक और शिर में पहना जाता है। जब धातु गलाने की घरिया में उन सब आभूषणों को डाल दिया जाता है तब उनमें और सोने में क्या अन्तर पड़ता है? तुका कहता है कि लाभ हानि केवल स्वप्न में वास्तविक हैं और जागने पर दोनों तिरोहित हो जाते हैं।"

यहाँ पर परिणाम—जैसे कि सोने और अलंकार तथा विवर्त—जैसे

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

स्वप्न की वस्तुएं इन दो विरोधी सिद्धान्तों का मिश्रण है । शङ्कराचार्य ने केवल विवर्तवाद को माना है। पुनश्च—

प्र० सं० २४८२ "जब नमक को पानी में घोला जाता है तब अलग क्या बचता है ? इस प्रकार मैं आनन्द में तेरे साथ एक हो गया हूँ, तुझ में समा गया हूँ। जब आग और कपूर को एक साथ मिलाया जाता है तब क्या कुछ कालिमा शेष बचती है ? तुकाराम कहते हैं कि मैं और तुम एक ज्योति थे।

यहां पर जो अभिप्रेत है वह है आनन्द के क्षणों में आत्म-चेतना को खो देना। जीव और ईश्वर का पूर्ण तादात्म्य यहाँ अभिप्रेत नहीं है। नामदेव और तुकाराम—रामानुज और मध्व की तरह विद्वान् पण्डित नहीं थे तथा उनसे ईश्वर, जीव और जगत् के मध्य विद्यमान सम्बन्धों की अविरुद्ध तत्त्व-मीमांसा के प्रतिपादन की आशा नहीं की जा सकती। इसके विपरीत तुकाराम तो भगवान के इतने पक्के और सच्चे भक्त थे कि इन तीनों के बीच विद्यमान ऐसे पार्थक्य का विचार सदैव उनके मन में बना रहता था जिससे यह भगवत् प्रेम संभव हो सके तथा ऐसे बहुत सारे अभङ्ग हैं जिनमें उन्होंने आत्मा-द्वैतवाद की निन्दा की है, जैसे कि ये :—

प्र० सं० १४७१

"उस व्यक्ति के शब्दों को नहीं सुनना चाहिए जो भक्ति से रहित निरर्थक ज्ञान का प्रतिपादन करे। जब भक्ति एवं प्रेम से रहित आत्माद्वैत का प्रतिपादन किया जाता है, तब वक्ता और श्रोता दोनों कष्ट भोगते हैं। जो अपने को ब्रह्म कहता है और साधारण ढङ्ग से रहता है, उससे बात नहीं करनी चाहिए, वह भांड है। वह निर्लज्ज, जो वेदों के विरुद्ध पाखण्ड-पूर्ण वचन बोलता है, सज्जनों में तिरस्कृत होता है। तुका कहते हैं कि ईश्वर और भक्त के सम्बन्ध को (दोनों को एक कह कर) जो काट देता है उससे तो शूद्र अच्छा है।"

यहां पर आत्माद्वैतवाद की जिसमें कि भक्ति के लिए कोई स्थान नहीं है, घोर निन्दा की गई है। आत्माद्वैतवाद को वेद-विरुद्ध और पाखण्ड कहा है। पुनश्च—

प्र० सं० ३७५३

"मुझे आत्माद्वैतवाद से सन्तोष नहीं है। मेरे लिए तुम्हारे चरणों की सेवा मधुर लगती है। मेरी सेवा तुम्हारे योग्य बन सके, ऐसा मुझे वरदान दो। तुम्हारा नाम और इसका संकीर्तन मुझे प्रिय है। ईश्वर तथा उसके भक्त के बीच का सम्बन्ध परम आनन्द-दायक है। मुझे अपने से पृथक् रखते हुए इसका अनुभव होने दो। यह सब तुम्हारा है, किसी दिन मुझे दे दो।"

यहाँ पर आत्माद्वैतवाद के खण्डन में उनका आधार भगवत्प्रेम से प्राप्त

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

आनन्दानुभूति है। अद्वैतवेदान्त के समर्थकों के मिथ्यात्व के विरुद्ध वे अपने हृदय की भावनाओं को रखते हैं।

प्र० सं० १५८९

"मैं ब्रह्मज्ञों को ऐसा ललचाऊंगा कि उनके मुंह से पानी गिरने लगे और मुक्त लोगों को (मुक्ति के फलस्वरूप प्राप्त) उनकी नैसर्गिक स्थिति से मुक्त करा दूंगा। कीर्तन में समस्त काया ब्रह्म से एकाकार हो जाती है तथा (इससे प्राप्त) सौभाग्य में ईश्वर ऋणी बन जाता है। मैं उसे निरुत्साहित करूंगा जिसका कार्य तीर्थों की यात्रा करना है तथा मैं स्वर्ग जीवन के आनन्द को कटु बना दूंगा। मैं तप करने वाले को अहंकार छुड़वा दूंगा और यज्ञ व दान को लज्जित कर दूंगा। मैं जीवन के महान् लक्ष्य—प्रेम भक्ति-संपत्ति को पूर्ण करूंगा। इसी में ब्रह्म का असली कोश निहित है। मैं लोगों से यह कहलवाऊंगा कि सौभाग्य से उन्होंने तुका को देखा है और आनन्दित हुए हैं।"

यहां पर भगवान् के प्रति प्रेम और भक्ति के लिए उनका उत्साह इतना महान् है कि वे अनुभूतियों के बल पर या अपनी अन्त:प्रेरणा से आत्माद्वैतवाद सहित ईश्वर प्राप्ति के समस्त उपायों को निरर्थक एवं असमर्थ बतलाते हैं। अन्त में मैं उस अभङ्ग का अनुवाद दे रहा हूं जिसमें तुका ने अपने जीवन का उद्देश्य स्पष्ट किया है—

प्रथम संग्रह ५३०

"हम वैकुण्ठ में रहते थे तथा हम इस कारण यहां आए हैं कि ऋषियों ने जो शिक्षा दी है उसका सच्ची तरह अनुसरण कर सकें। यह संसार मल से आपूरित है। हम सज्जनों द्वारा चले हुए मार्ग को साफ करेंगे और जो कुछ भी शेष रह गया है उसे स्वीकार करेंगे। प्राचीन सत्य तिरोहित हो चुके हैं। मात्र शाब्दिक ज्ञान से विनाश हुआ है। मनुष्यों का मन सांसारिक आनन्दों के लिए उत्सुक है और ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग पूरी तरह विनष्ट हो गया है। हम भक्ति की दुन्दुभि बजाएंगे जो इस पापमय युग के लिए भयावह है। तुका कहते हैं कि आनन्द के साथ जय जयकार करो।[1]"

विशाल संग्रह से गृहीत इन उपर्युक्त अंशों से उन तरीकों का कुछ संकेत मिलेगा जिनके माध्यम से तुकाराम अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील रहे। उन्होंने यान्त्रिक विधि-विधानों को त्याग दिया और विनम्रता, हृदय की शुद्धि तथा ईश्वर के प्रति एकाग्र भक्ति पर बल दिया।

---

१. इस अभंग की मौखिक परम्परा से प्राप्त अभंग से तुलना की गई है और इसके पाठ में संशोधन कर दिया गया है।

—:०:—

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

२३. उपसंहार

इस प्रकार हमने लगभग पांचवीं सदी ई० पू० से लेकर सत्रहवीं सदी ई० के मध्य तक वैष्णव धर्म का सर्वेक्षण पूर्ण कर लिया। पहले पहल यह बौद्ध और जैन धर्मों की भांति किन्तु ईश्वरवादी सिद्धान्तों पर आधारित धार्मिक सुधार-सा प्रतीत होता है। इसका प्राचीन नाम ऐकान्तिक धर्म या केवल एक ही के प्रति पूर्ण भक्ति का धर्म था। इसकी पृष्ठभूमि में वासुदेव-कृष्ण द्वारा उपदिष्ट संवाद वतलाई जाने वाली भगवद्गीता थी। शीघ्र ही इसने साम्प्रदायिक स्वरूप प्राप्त कर लिया तथा पाञ्चरात्र या भागवत धर्म कहलाने लगा। सात्वत नामक क्षत्रिय जाति ने इसका प्रचार किया तथा मैगस्थनीज ने चतुर्थ शतक ई० पू० के अन्त के लगभग इसका उल्लेख ऐसे कुछ विशिष्ट जनों के धर्म के रूप में किया है। यह मत पहले से विद्यमान नारायण की—जो कि ऐसे स्रोत हैं जिनसे सभी मनुष्य निकले हैं—उपासना तथा विष्णु की—जिनके चिह्न इस जगत् में देखे जा सकते थे तथा साथ ही जो रहस्यमयी प्रकृति के थे—उपासनाओं से घुल मिल गया। स्वयं भगवद्गीता में उपनिषदों की कुछ शिक्षाएं तथा सांख्य और योग इन दो प्रकार के दर्शनों के कतिपय सामान्य सिद्धान्त ले लिये गये थे, यद्यपि सांख्य और योग को अभी तक किन्हीं सुनिश्चित दर्शनों का स्वरूप प्राप्त नहीं हुआ था। ईसवीय शतक के आरम्भ के तुरन्त वाद आभीरों ने—जो कि विदेशी जाति के थे—इस धार्मिक मत में गोपाल कृष्ण के—जिन्हें भगवान् ही माना जाने लगा था—दिव्य कर्मों एवं गोपियों के साथ उनकी रासलीलाओं के रूप में एक दूसरे तत्त्व का समावेश कर दिया। इस रूप में संगठित वैष्णव-धर्म लगभग आठवीं सदी के अन्त तक चलता रहा, जब कि शङ्कराचार्य और उनके शिष्यों ने आत्माद्वैतवाद और जगन्मिथ्यात्व के सिद्धान्तों का प्रतिपादन और प्रचार किया। इसे वैष्णव धर्म द्वारा प्रतिष्ठापित भक्ति का विनाशक समझा गया। आत्माद्वैतवाद के प्रति उग्रता की भावना ग्यारहवीं सदी में प्रबल हो गई जब कि रामानुज ने इसे दवा देने तथा ऊर्जस्वी रूप में भक्ति के धर्म के प्रसार करने का प्रबल प्रयत्न किया। उत्तर में उनका अनुसरण निम्बार्क ने किया किन्तु उन्होंने वैष्णव धर्म के चौथे तत्त्व गोपी तत्त्व को प्राधान्य दिया तथा कृष्ण की प्रेयसी

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

राधा की पूजा का भी विधान किया जब कि रामानुज इस विषय में मौन रहे। आत्माद्वैत तथा जगत्-मिथ्यात्व के सिद्धान्तों पर तेरहवीं सदी में मध्व या आनन्दतीर्थ ने अपने आक्रमण जारी रखे, उन्होंने द्वैतवाद की प्रतिष्ठापना की तथा परमेश्वर के रूप में विष्णु के नाम को प्राधान्य प्रदान किया। उत्तर में रामानन्द ने राम के नाम को लाकर वैष्णव धर्म को नया ही मोड़ दिया जबकि रामानुज—जिनसे रामानन्द ने तत्त्व-मीमांसा के सिद्धान्त ग्रहण किए, नारायण नाम पर विशेष जोर दिया। रामानन्द तथा उनके शिष्यों के उपदेश जनभाषाओं में थे। रामानन्द की धार्मिक क्रियाशीलता का समय चौदहवीं सदी में रखा जा सकता है। पन्द्रहवीं सदी में उनके बाद कबीर हुए जिन्होंने विशुद्ध एकेश्वरवाद का उपदेश दिया। उनके भगवान् का नाम राम था तथा उन्होंने मूर्तिपूजा की निन्दा की। सोलहवीं सदी में वल्लभ ने गोपाल-कृष्ण तथा उनकी प्रेयसी राधा की उपासना का उपदेश दिया। लगभग इसी समय चैतन्य ने विशुद्ध प्रेम की प्रतिमा के रूप में आदर्शीभूत राधा से सदा सम्बद्ध युवा कृष्ण की उपासना का प्रचार किया। भगवान् के प्रति अनुराग और भक्ति के लिए अभिवर्द्धमान उत्साह ने अधिक वास्तविक अभिव्यक्ति को जन्म दिया तथा राधा विषयक मान्यता और गहरी हो गई। एवं इसे ऐकान्तिक प्राधान्य एवं महत्त्व प्राप्त हो गया। चैतन्य तथा इनके अनुयायियों की भक्ति सच्ची और प्रबल थी और उन्मत्तता की पराकाष्ठा तक पहुँच गई थी किन्तु वल्लभ और उनके मार्ग की भक्ति वास्तविक होने की अपेक्षा अधिक नाटकीय थी। इस मान्यता से अन्ततोगत्वा वैष्णवधर्म का अध:पतन होने लगा। मराठा देश में नामदेव ने जिनकी तिथि निश्चित नहीं है किन्तु जो लगभग चौदहवीं सदी ई० के अन्त में हुए होंगे, तथा तुकाराम ने—जो सत्रहवीं सदी के प्रथमार्ध में हुए—परमेश्वर के रूप में पण्ढरपुर के विठोबा की उपासना का उपदेश दिया तथा राधा-कृष्णमत की उपेक्षा करते हुए भक्ति की अधिक गम्भीर धारा को प्रवाहित किया। अपने विचारों के प्रसार के निमित्त उन्होंने भी जन-भाषाओं का आश्रय लिया। उन्होंने, कबीर ने तथा कुछ हद तक चैतन्य ने भी तत्कालीन धर्म की औपचारिकताओं की निन्दा की तथा भगवान् के प्रति शुद्ध अनुराग का उपदेश दिया। दोनों मराठा सन्तों तथा कबीर ने शाश्वत शान्ति-प्राप्ति के निमित्त तथा भगवान् के एकनिष्ठ एवं दृढ प्रेम के साधन के रूप में मनुष्य के हृदय की पवित्रता तथा आचरण की उच्चता पर विशेष बल दिया। इन विभिन्न वैष्णव-सम्प्रदायों के मध्य संयोजक तत्त्व ये हैं कि सार रूप में उन सभी ने आध्यात्मिक तत्त्व भगवद्गीता से लिए हैं, परमात्मा के नाम के रूप में वासुदेव सभी की पृष्ठभूमि में विद्यमान हैं, तथा

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

इन सभी ने एक ही तरह से आत्माद्वैतवाद और जगन्मिथ्यात्व का खण्डन किया है। भेद का उदय विभिन्न आध्यात्मिक सिद्धान्तों के प्रति दिए गए महत्त्व के कारण हुआ, वासुदेव-वाद में मिश्रित तीन तत्त्वों में से किसी एक या दूसरे को उन्होंने प्राधान्य दिया; अलग-अलग तत्त्व-मीमांसाएं प्रतिष्ठापित कीं और अपने-अपने अनुयायियों को पृथक्-पृथक् विधि-विधान बतलाए। आगे चल कर भगवद्गीता का स्थान पाञ्चरात्र संहिताओं, विष्णु तथा भागवत-पुराण जैसे पुराणों एवं इसी तरह की अन्य परवर्ती कृतियों ने ले लिया। इन कृतियों में यदा कदा कतिपय सारभूत सिद्धान्तों का उपबृंहण हुआ, संस्कारों का निर्धारण किया गया तथा अपनी विशिष्ट शिक्षाओं के गौरव की अभिवृद्धि करने और उन्हें अधिक आकर्षक बनाने के लिए कथानकों की विस्तृत राशि एकत्रित की गई।

—:o:—

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

द्वितीय भाग
शैव धर्म तथा अन्य गौण धर्म

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

२४. शैव धर्म तथा गौण धार्मिक मत

भूमिका

रुद्र-शिव-विषयक धारणा का जन्म—

प्रकृति के कुछ वाह्य रूप आह्लाददायक, मनोरंजक एवं कोमल होते हैं तथा कुछ उग्र, भयङ्कर और विध्वंसक । प्राचीन आर्यों ने अरुणोदय के अवसर पर अपने प्रेमी सूर्य द्वारा अनुसृत सुन्दरी देवी उषा की कल्पना की (ऋग्वेद २.११५.२) । उदीयमान सूर्य में उन्हें कल्याणकारी देवता मित्र दिखलाई पड़े जो कि उन्हें निद्रा से जगाते हैं और दिन के विविध कार्यों को करने के लिए प्रेरित करते हैं (ऋग्वेद ३.५९.१; ७.३६२) । उदित होकर समस्त पृथ्वी एवं आकाश को पूरित करते हुए, अपनी भुजाओं जैसी किरणों का प्रसार करने वाले, निशा के अन्त में समस्त जगत् को चेतनता प्रदान करने वाले एवं अपने द्वारा निर्धारित पथ में सभी को लाने वाले सूर्य में उन्होंने सविता का दर्शन किया (ऋग्वेद ४.५३.३) । मनुष्यों एवं पशुओं को क्षणमात्र में नष्ट कर देने वाले उल्कापात के साथ आने वाले, वृक्षों को जड़ सहित उखाड़ फेंकने वाले और घरों को भी ढहा देने वाले दैवी उत्पात एवं बहुसंख्यक लोगों का संहार करने वाली महामारियां प्रकृति के भयंकर और विनाशक रूप हैं । प्राचीन आर्यों ने प्रकृति के इन रौद्र रूपों में अपने पुत्र मरुतों के साथ गर्जना करते हुए भ्रमण करने वाले रुद्र का दर्शन किया । किन्तु मनुष्य का विश्वास विश्व पर शासन करने वाली केवल रौद्र शक्तियों में ही नहीं है । प्रकृति के रौद्र रूप को वह देवता के क्रोध का प्रकाशन मानता है, जिसे स्तुति या प्रार्थना द्वारा तथा बलि देकर प्रसन्न किया जा सकता है । ऐसा करने पर वही रौद्र देव शिव या कल्याण-कारक बन जाता है । इसी स्वाभाविक प्रक्रिया से रुद्र-शिव जैसे देवों में भारत-वासियों का विश्वास उत्पन्न हुआ । अब हम इस देवता की कल्पना के विकास क्रम को उस काल तक देखें जब कि वह परम-स्रष्टा, ईश्वर और विश्व-व्यापी बन गया और जिसके ज्ञान से शाश्वत आनन्द की उपलब्धि की कल्पना की गई ।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

रुद्र-शिव-विषयक कल्पना का विकासः—

ऋग्वेद में रुद्र को स्वर्ग और पृथ्वी पर जाने वाले तेजयुक्त बाणों को फेंकने वाले तथा गायों एवं मनुष्यों को मारने वाले आयुधों वाला बतलाया गया है (ऋग्वेद ७.४०.३ और १.११४.१०)। ऐसा प्रतीत होता है कि इस वर्णन में विजली की संहारिका शक्ति सामने थी। स्तुति-कर्ता ऋषियों ने रुद्र से अपने आयुधों को दूर रखने तथा उनसे अपने द्विपदों और चतुष्पदों की रक्षा करने की प्रार्थना की है (ऋग्वेद १.११४.१)। स्तुतियों के फल-स्वरूप या सहज ही जब पशु क्षतिग्रस्त होने से बच जाते थे तब रुद्र को पशुप या पशुधन-रक्षक वतलाया जाता था (ऋग्वेद १.११४.६)। रुद्र से यह प्रार्थना की गई है कि वे बच्चों को रोगों से ग्रस्त न करें (ऋग्वेद ७.४६.२) तथा समस्त ग्रामवासियों को रोगों से मुक्त रखें (ऋग्वेद १.११४.१)। इस प्रकार रुद्र को रोगों को फैलाने वाला माना जाता था तथा जब लोग इन रोगों से कुछ राहत पाते थे या उससे एकदम मुक्त हो जाते थे, तो यह भी रुद्र का ही काम समझा जाता था। उन्हें औषधियां रखने वाला (ऋग्वेद १.४३.४) भिषजों का भी भिषक् (ऋग्वेद २.३३.४) तथा सहस्रों औषधियां रखने वाला (ऋग्वेद ७.४६.३) कहा गया है। स्तुतिकर्ताओं ने मरुतों और रुद्र के उन विशुद्ध एवं शामक रोगशमनोपायों की प्राप्ति के लिए भी प्रार्थना की है, जिन्हें पूर्वपुरुष मनु ने चाहा था (ऋग्वेद २.३३.१३)। निम्नलिखित मन्त्र से रुद्र-विषयक सूक्तों की सामान्य प्रकृति का परिचय प्राप्त हो जाता है—

"हे रुद्र ! क्रोध के कारण हमारे बच्चों, हमारे वंशजों, हमारे मनुष्यों, हमारे पशुओं और गृहों को हानि न पहुँचाओ, हमारे आदमियों को मत मारो। हम हवि के साथ सदैव तुम्हारा आवाहन करते हैं।" (ऋग्वेद १.११४.८)

"वे अपनी शक्ति से समस्त पार्थिव-पदार्थों को और अपने दिव्य साम्राज्य से दिव्य पदार्थों को देखते हैं (ऋग्वेद ७.४६.२)।"

इस प्रकार ऋग्वेद तक में रुद्र को परम-शक्ति से समन्वित स्थिति तक पहुँचा दिया गया है।

शतरुद्रिय (तै० सं० ४.५.१ वा० सं अध्याय १६) में रुद्र का स्वरूप अधिक विकसित रूप में प्राप्त होता है। उनका शिव (मङ्गलमय) स्वरूप उनके उग्र स्वरूपों से पृथक् करके दिखलाया गया है। उन्हें गिरिश (पर्वत पर शयन करने वाला) सम्भवतः इस लिए कहा गया है क्योंकि वे जिस वज्र का प्रक्षेप करते हैं वह मेघ से निकलता है जिसकी तुलना प्रायः पर्वत

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

से की गई है जहां पर रुद्र का निवास है। गोपालक और जल ले जा रही सुन्दरियां उन्हें अपने नीलवर्ण के कण्ठ और रक्तिम आभा से समन्वित विसर्पण करती हुई देखती हैं। अर्थात् खुले मैदानों में काम करने वाले ये सीधे साधे लोग विजली की हल्की आभा से रक्तीभूत कृष्ण-मेघ को देखते हैं। रुद्र क्योंकि प्रकृति की आसुरी शक्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं अतः उनके सम्बन्ध में यह मान्यता स्वाभाविक ही है कि वे मानव-वसतियों से दूर रहते हैं। इसी लिए तो उन्हें मार्गों, वनों, वनेचरों, तस्करों एवं पहचाने जाने के भय से निर्जन स्थानों में भटकने वाले राजपथ दस्युओं तथा लोगों की ग्राम वस्तियों से दूर रहने वाली अधम जातियों का पति वतलाया गया है।

चिकित्सक-रूप में वे औषधियों के पति प्रतीत होते हैं तथा उन्हें दैवी-चिकित्सक कहा गया है। खुले क्षेत्रों या मैदानों के स्वामी होने के नाते वे इन मैदानों में सञ्चरण करने वाले पशुओं के स्वामी हैं। आगे चल कर पशु-पति इनका एक विशिष्ट नाम ही वन गया। इस प्रकार रुद्र का क्षेत्र इतना विस्तृत हो गया कि वे 'दिशाओं के पति' कहलाने लग गए। उन्हें कपर्दी (जटाजूटधारी) भी कहा गया है। यह विशेषण सम्भवतः उन्हें अग्नि से अभिन्न माने जाने के कारण लगाया गया होगा, जिसकी लपटें जटाजूटों जैसी दिखती हैं। शर्व और भव नाम भी मिलते हैं और जब उनका उग्र स्वभाव पूर्णतया शान्त हो जाता है तव वे शंभु (कल्याण-कारक), शंकर (कल्याणकारक) और शिव (मङ्गल) हो जाते हैं और ये नाम शतरुद्रिय के अन्त में आते हैं। उन्हें चर्म धारण करने वाला (कृत्तिवसानः) भी कहा गया है। यह विशेषण कैसे आया, यह कह पाना कठिन है। किन्तु अरण्यों एवं अन्य सुनसान स्थलों में संचरणशील बतलाए जाने के कारण वन्य-जातियों के चर्म-परिधान को देखकर उनके चर्म परिधान से विभूषित करने का विचार स्वयं कवि को ही सूझा होगा। निषाद एक जंगली जाति है, उसकी तुलना रुद्रों से की गई है जिससे इस दृष्टिकोण की पुष्टि हो जाती है। रुद्र नाम को एक सामान्य नाम बना दिया गया तथा अनेक रुद्रों की बात की गई कि वे स्तुति-गायक से दूर रहें। यहाँ पर सामान्य नाम से कोई प्रेतात्मा अभिप्रेत प्रतीत होती है। एक अन्य स्थान में भी इस नाम को सामान्य बना दिया गया। किन्तु इसका तात्पर्य वहां पर अधिक अच्छा है। रुद्रों को गण या गणपति अर्थात् कर्मकारों, कुम्भकारों, रथकारों, तक्षक और निषादों का पति कहा गया है। इस प्रकार इन हस्त-शिल्पियों तथा निषादों की वनेचर जाति के साथ रुद्र का निकट सम्बन्ध प्रतिष्ठापित किया गया है। सम्भवतः

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

ये रुद्र के उपासक थे अथवा उनके विशिष्ट देवों को आर्यों के रुद्र से अभिन्न कर दिया गया था। यह दूसरी कल्पना अधिक सम्भव प्रतीत होती है क्योंकि रुद्र को जिन लोगों का पति कहा गया है वे लोग सभ्य मनुष्यों के आवासों से काफी दूर खुले क्षेत्रों, वनों और चरागाहों में रहने वाले बतलाए गए हैं।

अथर्ववेद में रुद्र-विषयक कल्पना का और आगे विकास हुआ तथा उन्हें और ऊंची स्थिति तक पहुंचा दिया गया। कतिपय अन्य नाम—जो आगे चल कर उनके प्रसिद्ध नाम बने—उनके साथ जोड़ दिए गए। किन्तु इन नाम-धारियों का वर्णन भिन्न-भिन्न देवों के रूप में किया गया। भव और शर्व को दो भिन्न देवता माना गया तथा उन्हें (क्रमशः) द्विपद एवं चतुष्पद जीवों पर शासन करने वाला बतलाया गया (४.२८.१)। उन्हें समस्त धनुर्धरों में द्रुततम कहा गया तथा यह भी कहा गया कि पास और दूर की सारी चीजें उन्हीं की हैं। उन्हें सहस्र नेत्रों वाला कहा गया। उनका क्षेत्र दूर तक और आयत है कोई भी देव या नर उनके आघात से नहीं बच सकता, यातुधान पर अपने वज्र का प्रहार करने के लिए उनका आह्वान किया गया है। स्तुतिकर्ता को क्लेशों से मुक्त करने के लिए उनसे प्रार्थना की गई है, शर्व को धनुर्धर और भव को राजा कहा गया है। उनसे प्रणति की गई है तथा अपना घातक विष अन्यत्र ले जाने की इच्छा व्यक्त की गई है [६.९३.२]। रुद्र को जो कि अग्नि में हैं, जल में हैं, औषधियों और वनस्पतियों में प्रविष्ट हैं तथा जिन्होंने ये समस्त भूत रचे हैं, प्रणाम किया गया है (७.८७.१)। यह मन्त्र अ० उ० और श्वे० उ० में मिलता है। किन्तु श्वे० उप० में यह किञ्चित् परिवर्तित रूप में प्राप्त होता है। यहाँ पर रुद्र के स्थान पर देव शब्द का प्रयोग किया गया है। एक विशिष्ट प्रकार के वृषभ का वर्णन करते हुए महादेव को उसकी दो भुजा बतलाया गया है (९.७.७)। भव और शर्व का आह्वान दुष्कृतों पर वज्रप्रहार करने के लिए किया गया है। (१०.१.२३)। उन्हें भूत-पति (भूतों के स्वामी) तथा पशुपति कहा गया है (११.२.१)। उन्हें आकाश और अन्तरिक्ष को अपने आधिपत्य में रखने वाला बतलाया गया है (११.२.४)। गो, अश्व, मनुष्य, अजा और भेड़ ये पांच प्रकार के पशु खास तौर पर पशुपति के कहे गए हैं (११.२.९.)। आकाश, पृथ्वी, विस्तृत अन्तरिक्ष तथा पृथ्वी के समस्त जीव और प्राणी, ये चार अन्तर्वर्ती मण्डल उग्र के हैं (११.२.१०)। भव पृथ्वी की हर वस्तु को देखते हैं। उनके लिए कुछ भी दूर या समीप नहीं है। स्वयं पूर्ववर्ती समुद्र में रहते हुए वे परवर्ती समुद्र की वस्तुओं को नष्ट करते हैं (११.२.२५)। रुद्र से विनाश, विष और दिव्य अग्नि न लाने की प्रार्थना की गई है (११.२.२६)। भव स्वर्ग और पृथ्वी के ईश हैं तथा समस्त

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

अन्तरिक्ष में व्याप्त हैं (११.२.२७)। सब को राजा कह कर पुकारा गया है (११.२.२८) यह कामना व्यक्त की गई है कि भव, शर्व और रुद्र—जो कि पशुपति हैं—के बाण सदा शिवकारक हों (११.६.९)। सवितृ को अर्यमन्, वरुण, रुद्र और महादेव कहा गया है (१५.४.४)। सभी नक्षत्र और चन्द्रमा रुद्र के नियन्त्रण में हैं (१३.४.२८)। देवताओं ने धनुर्धर भव को पूर्वी क्षेत्र के मध्यवर्ती स्थान में, शर्व को दक्षिणी क्षेत्र में, पशुपति को पश्चिमी क्षेत्र में तथा उग्र को उत्तरी क्षेत्र में व्रात्यों का रक्षक बनाया (१५.५. १-७)।

शत० ब्रा० (६.१.३.७) एवं कौषीतकि ब्राह्मण (६.१.७) में रुद्र का उल्लेख ऊषा के पुत्र के रूप में हुआ है। जन्म के उपरान्त बड़े होने पर प्रजापति ने उनके आठ नाम रखे जिनमें से सात तो वही हैं जिनका उल्लेख ऊपर अथर्ववेद से लेकर किया गया है तथा आठवां नाम है अशनि या वज्र। यह ध्यान देने की बात है कि अथर्ववेद में इन सातों को यद्यपि परस्पर सम्बद्ध किन्तु एक दूसरे से भिन्न माना गया है, यद्यपि एक बार रुद्र को पशुपति से अभिन्न भी बतलाया गया है जैसे सूर्य-देव को अनेकों दृष्टियों से देखे जाने के कारण सवितृ, सूर्य, मित्र, पूषन् आदि सौर देवों की उत्पत्ति हुई उसी प्रकार कल्याणकारक और दयालु स्वरूपों से समन्वित प्रकृति के उग्र एवं विनाशकारी स्वरूपों को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखे जाने के कारण अथर्ववेद में उल्लिखित सात विभिन्न देवों के विश्वास की उत्पत्ति हुई। शतपथ ब्राह्मण और कौषीतकि ब्राह्मण में उन्हें एक ही देवता के नाम माना गया है तथा आठवें नाम को भी प्रवर्तित कर दिया गया। इन आठ नामों में रुद्र, शर्व, उग्र और अशनि ये चार नाम प्रकृति की विध्वंसक शक्ति के सूचक हैं तथा भव, पशुपति, महादेव और ईशान ये चार नाम प्रकृति के मङ्गलमय रूप के। यह उल्लेखनीय है कि अथर्ववेद में एक नये तत्त्व विष का प्रवेश कराया गया है जिसे रुद्र देवता द्वारा भेजा हुआ माना जाता है तथा उनके बाणों को देवताओं और मनुष्यों के लिए अचूक और अपरिहार्य बतलाया गया है। दूसरी ओर, या कल्याणकारी पक्ष में, भव को तेजस्वी राजा के रूप में चित्रित किया गया है। रुद्र समस्त प्राणियों के पति हैं। वह नक्षत्रों और चन्द्रमा का नियन्त्रण करता है। वह आकाश और अन्तरिक्ष में राज्य करता है। वह, अग्नि, जल, वनस्पतियों, औषधियों एवं समस्त भूतों में है तथा वही समस्त दिशाओं में व्रात्यों का रक्षक है तथा वह प्रधानतया शासक (ईशान) है। इस प्रकार एक उग्र तथा विध्वंसक देवता विभिन्न प्रकारों से मनुष्य द्वारा आराधित होने पर कल्याणकारी बन गया तथा यजुर्वेद और अथर्ववेद के काल तक इसने ईश्वर की महिमा को प्राप्त कर लिया। इस देवता के इसी उत्कृष्ट

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

स्वरूप पर श्वेताश्वतर उपनिषद् का दार्शनिक चिन्तन आधारित है, जिसका उल्लेख हम आगे करेंगे।

किन्तु इस देवता के स्वरूप के उग्र पक्ष को कभी भुलाया नहीं गया। अधिकतर गृह्यसूत्रों में शूलगव नामक एक यज्ञ का उल्लेख किया गया है। रुद्र को प्रसन्न करने के लिए एक वृषभ की वलि चढ़ाई जाती है (आ० गृ० सू० (४.६)। इस विधान को ग्राम-सीमाओं से बाहर अनुष्ठित किया जाना चाहिए तथा अवशेषों को गांव में नहीं लाना चाहिए। यह नियम इस विधान के अमांगलिक स्वरूप की ओर स्पष्ट सङ्केत करता है। रुद्र के बारह नामों का उच्चारण करते हुए रुद्र को वपा अर्पित कर देनी चाहिए। ऊपर उल्लिखित प्रथम वर्ग के तीन तथा द्वितीय वर्ग के चार नाम हैं। अशनि को छोड दिया गया है तथा हर, मृड, शिव, भीम और शङ्कर इन पांच नामों को जोड़ दिया गया है। अथवा रुद्र के केवल छः विशिष्ट नामों या केवल रुद्र नाम का उच्चारण करते हुए वपा की आहुति अग्नि में देनी चाहिए। इस शूल-गव यज्ञ का अनुष्ठान पशु-रोगों से मुक्ति के लिए गो-शाला में किया जाना चाहिए (पा० गृ० सू० ३.८)। पार० गृह्य० सू० (३.८) में आहुतियां डालते समय उच्चार्यमाण आठ नाम वे ही हैं जो कि ऊपर उल्लिखित दो वर्गों में दिए गए हैं, केवल अग्नि का नाम और जोड़ दिया गया है। इन्द्राणी, रुद्राणी, शर्वाणी और भवानी इन पत्नियों के लिए भी आहुतियाँ हैं। हि०गृ० (२.३.८) में भी यही आठ देवता बतलाए गए हैं, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। भीम को अशनि के स्थान पर रख दिया गया है तथा 'भवस्य देवस्य पत्न्यै स्वाहा' आदि मन्त्रों का पाठ करते हुए प्रत्येक की पत्नी को आहुतियां दी जाती हैं, उनके पृथक् पृथक् नामों का उल्लेख नहीं किया जाता।

पार० गृ० (३.१५) में मार्ग पार करते समय, चौराहे पर पहुँचते समय, नदी पार करते समय, नाव में चढ़ते समय, जंगल में प्रवेश करते समय, पर्वत पर चढ़ते समय, गोशाला तथा ऐसे ही इसके स्थानों में से होकर जाते समय रक्षा तथा कुशल मंगल के लिए रुद्र की वन्दना करने तथा स्तुति करने के निर्देश दिए गए हैं। इसी प्रकार हि० गृ० (१.५.१७) में यह निर्देश दिया गया है कि कोई यात्री जब किसी चौराहे पर या गोबर के ढेर के पास पहुँचे, या जब सर्प रास्ता काट जाए, या जब वह प्रभंजन से अभिभूत हो जाए, या जब वह नदी में प्रवेश कर रहा हो; या जब वह चित्रविचित्र दृश्य, यज्ञ स्थल या पुराने विशाल वृक्ष को देखे, तब उसे विशेष मन्त्र का जप करके रुद्र की आराधना करनी चाहिए। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि गृह्य-सूत्र-काल में भी रुद्र एक उग्र देव थे, जिन्हें प्रसन्न करना होता था। वे ऐसे देवता थे जो कि

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

घर से दूर के क्षेत्रों, मैदानों, शून्य वनों, श्मशानों, पर्वतों, प्राचीन वृक्षों एवं नदियों पर आधिपत्य रखते थे। जब कभी कोई भी मनुष्य किसी अमङ्गल कारक और भयप्रद वस्तु के पास पहुँचता था तब उस समय रक्षा के लिए वह रुद्र का चिन्तन करता था तथा उसकी स्तुति करता था। यही वह कारण है जिससे आगे चल कर रुद्र विष्णु के अतिरिक्त अन्य सभी वैदिक देवों को हटा कर सर्वव्यापी एवं समस्त जगत् के एकमात्र प्रभु बन गए। मानव-जीवन में ऐसे बहुत से अवसर आते हैं, जो भय को जन्म देते हैं, जैसे महामारियों का प्रसार एवं अन्य रोग, विष, सर्प, प्रभंजन, वज्रपात तथा जङ्गली और अमङ्गल दृश्य। फलस्वरूप इन अवसरों को उपस्थित करने वाले तथा प्रसन्न करने पर रक्षा करने वाले देवता का ध्यान अन्य देवों की अपेक्षा अधिक किया जाएगा। ईश्वर की कृतियों की प्रियता, उसकी महत्ता और ऐश्वर्य तथा उसकी रहस्यमयी प्रकृति, ये सब बातें भी मानव मन को आकर्षित करने वाली हैं और प्रतीत होता है कि विष्णु को प्रधानता प्रदान करने में इन्हीं सब बातों का हाथ रहा है। वैष्णव-धर्म की संरचना में प्रेम, स्तुति तथा पूजा की भावना को जागृत करने वाले दृश्यों और घटनाओं का योगदान है जब कि रुद्र-शिव उपासन के मूल में भय की भावना काम करती है, भले ही इस धर्म के विकास की विभिन्न अवस्थाओं में यह भावना दब गई हो तथा इसी भावना ने विभिन्न परवर्ती रुद्र-शिव-सम्प्रदायों की संरचना में भी काम किया है। अन्य देशों के एकेश्वरवादी धर्मों में एक ही देवता से प्रेम भी किया जाता है तथा भय भी। भारत में प्रेम किए जाने वाले देवता विष्णु-नारायण-वासुदेव-कृष्ण हैं और रुद्र-शिव ऐसे देवता है, जिनसे भय किया जाता है।

—:०:—

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

२५. श्वेताश्वतर एवं अथर्वशिरस् उपनिषद्

रुद्र-शिव-सम्प्रदायों के सम्बन्ध में विचार करने के लिए आगे बढ़ने से पूर्व हमें उस धार्मिकाध्यात्मिक ग्रन्थ पर विचार के लिए कुछ समय निकालना चाहिए, जिसमें सामान्यतया भारतीय आर्यों द्वारा उपासित देवता के रूप में रुद्र-शिव-सम्बन्धी विचार का और अधिक विकास देखने को मिलता है। यह ग्रन्थ श्वेताश्वतर उपनिषद् है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी रचना साम्प्रदायिक भावना से नहीं हुई है। ईश्वर के स्वरूप तथा जीव एवं जगत् से उसके सम्बन्ध की जिस समुन्नत कल्पना को प्रारम्भिक उपनिषत्-काल में किया गया था, वह व्यक्तित्व-विहीन ब्रह्म से जुड़ी हुई नहीं रह गई थी अपितु इसे एक ऐसे देवता पर आरोपित कर दिया था जिसे उपनिषदों के लेखन-काल में लोगों के मन में एक सजीव एवं क्रियाशील व्यक्तित्व प्राप्त हो चुका था। यह देवता रुद्र-शिव था जिसे, जैसा कि हम देख ही चुके हैं, अथर्ववेद का समय आते-आते परमेश्वर की महिमा प्राप्त हो चुकी थी। प्राक्कथनों के उपरान्त प्रथम अध्याय में जो सैद्धान्तिक बातें प्राप्त होती हैं, वे ये हैं :—जगत् में तीन अजन्मा तत्त्व हैं। इनमें सर्वज्ञ और अल्पज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् और अल्पशक्तिसम्पन्न दो तत्त्व हैं तथा तीसरा तत्त्व सुख और दुःख के भोग्य-पदार्थों से युक्त है (९)। ब्रह्म तीन प्रकार का है:—भोक्ता, भोग्य और प्रेरक। इससे अधिक और कुछ ज्ञेय नहीं है (१२)। प्रधान विनाशी (क्षर) है तथा अमर (ब्रह्म) अक्षर है। हर, जो कि ईश्वर है, क्षर तथा जीव (आत्मा) दोनों पर शासन करता है। उसका ध्यान करने, उसकी भक्ति करने तथा उसका ज्ञान हो जाने से समस्त अज्ञानों की निवृत्ति हो जाती है (१०)। अपने शरीर को निचली अरणि, 'ओम्' अक्षर को ऊपरी अरणि बनाकर तथा ध्यान की क्रिया—जो कि दोनों अरणियों के परस्पर संघट्टन के समान है—द्वारा अन्तर्निहित ईश्वर का दर्शन किया जाना चाहिए (१४)। सत्य और साधना द्वारा जो उसे खोजता है वह उसे अपने अन्दर उसी तरह पाता है जैसे कि तिल में तैल, दधि में घृत और स्रोत में जल (१५)।

९वें और १२वें श्लोकों में उल्लिखित—तीन तत्त्वों को रामानुज ने अपने

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

दर्शन में अपना लिया है तथा इस सम्प्रदाय के लेखकों ने इन अनुच्छेदों को उद्धृत किया है। १०वें श्लोक में जो कुछ प्रतिपादित है उसकी तुलना भगवद्-गीता के अध्याय १५, श्लोक १६, १७ से की जा सकती है।

दूसरे अध्याय में सबसे पहले उन योग-प्रक्रियाओं का संक्षिप्त उल्लेख है, जिनसे परमात्मा का साक्षात्कार तथा आत्मा की पवित्रता प्राप्त होती है। जब प्रदीप-तुल्य जीवात्मा के विशुद्ध स्वरूप द्वारा अजन्मा, अक्षर तथा पूर्ण रूप से विशुद्ध ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तब व्यक्ति समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है (१५)। अध्याय का समापन एक ऐसे श्लोक के साथ होता है, जिसे हम अथर्ववेद में प्राप्त बतला चुके हैं।

तृतीय अध्याय में प्रारम्भ में ही एक ऐसा स्थल है जिसमें यह बतलाया गया है कि वे व्यक्ति अमर हो जाते हैं जो उस ब्रह्म को जान लेते हैं जो कि जालवान् है, जो अपनी शासन-शक्तियों द्वारा समस्त भूतों पर शासन करता है तथा जो अकेला ही सृष्टि और उसके विस्तार में समर्थ है (१)। रुद्र केवल एक ही है—तथा वे किसी अन्य रुद्र को नहीं मानते जो कि अपनी शासन शक्तियों द्वारा समस्त भूतों पर शासन करता है, जो समस्त मनुष्यों की अन्त-स्तम आत्मा है, जो प्रलय के दिन सारी वस्तुओं को स्वयं में समेट लेता है तथा समस्त प्राणियों का सर्जन करते हुए उनकी रक्षा करता है (२)। उसके नेत्र सर्वत्र हैं, उसका मुख सर्वत्र है, (तुलनीय ऋग्वेद १०.८१.३) (३)। देवताओं के सर्जन और विस्तार के कारण, जगत् के पति, महान् ज्ञानी तथा पूर्व काल में हिरण्यगर्भ को रचने वाले रुद्र हम लोगों को सद्बुद्धि प्रदान करें (४)। इसके बाद शतरुद्रिय से दो श्लोक दिए गए हैं जिनमें रुद्र से परम सौम्य मूर्ति द्वारा स्तुति-कर्त्ता की ओर देखने तथा मनुष्य आदि को हानि न पहुँचाने के लिए प्रार्थना की गई है (५.६)। ऐसे ईश को जानने पर मनुष्य अमर हो जाता है जो परब्रह्म है तथा सभी से बड़ा है, जो जिस किसी रूप वाले समस्त भूतों के अन्दर निवास करता है तथा जो सम्पूर्ण विश्व को सभी ओर से घेरे हुए है (७)। आगे परमेश्वर के गुणों के अभिव्यञ्जक तथा उनके ज्ञान को अमृतत्व का द्वार बतलाने वाले इसी प्रकार के अन्य श्लोक भी आते हैं। जैसा पहले ही कहा जा चुका है इस अध्याय का पूरा और एक आधा श्लोक भगवद्गीता के तेरहवें अध्याय में शब्दशः प्राप्त होता है। यह भी उल्लेखनीय है कि यहां परमात्मा के जो नाम प्राप्त होते हैं वे ये हैं—ईश, ईशान तथा शिव। उनके लिए प्रयुक्त भगवत् विशेषण भी ध्यान देने योग्य है (२,१२,१५,१७,२०)। २०वें श्लोक में जोकि मुण्ड० उप० में

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

भी प्राप्त होता है आत्मन: के स्थान पर ईशम् कर दिया गया है जो इस उपनिषद् के उस वैशिष्ट्य का सूचक है जिसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। पुरुषसूक्त (ऋग्वेद १०,६०) के दो मन्त्र भी इसमें हैं।

चतुर्थ अध्याय का प्रारम्भ इस कामना की अभिव्यक्ति के साथ होता है जो स्वयं अरूप होते हुए एक निश्चित उद्देश्य के साथ अनेक रूपों (वर्णों) की रचना करता है, जिसके आदि और अन्त में यह विश्व स्थिर रहता है वह उपासकों को शुद्ध बुद्धि प्रदान करे। इसके बाद इस परमात्मा का अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्र आदि के साथ अभेद प्रतिपादित किया गया है (२-४)। तदनन्तर हमें एक ऐसे अज (बकरा, अजन्मा) का रूपक मिलता है जो कि अजा (प्रकृति, बकरी) के साथ शयन कर रहा है तथा एक दूसरा अज भोग के उपरान्त अजा का त्याग कर रहा है। ये दोनों बद्ध तथा मुक्त स्थिति वाली आत्माओं का प्रतिनिधित्व करते हैं (५)। इसके वाद हमें उन दो पक्षियों के विषय में श्लोक मिलता है जो कि परस्पर में सखा हैं, सयुज हैं, समान वृक्ष का आश्रय लेकर रहते हैं। एक तो वृक्ष के फल खाता है तथा दूसरा विना खाए हुए केवल देखता रहता है। यही वर्णन ऋग्वेद (१,१६४,२०) तथा मुण्डक उप० (३.१.१) में भी प्राप्त होता है। अगला श्लोक जो कि ऐसी दुर्वल आत्मा के सम्बन्ध में है जो कि मोहित होकर शोक करती है तथा जब वह स्वयं से भिन्न आत्मा ईश्वर को देख लेती है तो समस्त दुःखों से मुक्त हो जाती है, मु० उ० (३ १.२) में तो प्राप्त होता है किन्तु ऋग्वेद में नहीं। दो श्लोकों के उपरान्त एक अन्य श्लोक ऐसा है जिसमें माया को प्रकृति कहा गया है तथा जो इसका प्रयोग करता है उसे महेश्वर (१०)। महेश्वर शिव का नाम है जो समस्त योनियों के अधिष्ठाता हैं, जिसमें समस्त भूत आश्रित हैं या उद्भूत हैं, ऐसे वरद ईशान को जानने पर व्यक्ति को शाश्वत शान्ति प्राप्त होती है (११)। तदुपरान्त साधारण पाठान्तर के साथ पूर्ववर्ती अध्याय (३,४) के एक श्लोक की पुनरावृत्ति की गई है (१२)। तदुपरान्त ऋग्वेद के उस मन्त्र का द्वितीय भाग आता है। जिसमें हिरण्यगर्भ को द्विपद एवं चतुष्पद पशुओं का पति वतलाया गया है। (१०,१२१,३) इसमें ऋग्वेद के मन्त्र के प्रथम भाग को रूपान्तरित कर दिया गया है (१३)। पूर्ववर्ती श्लोक में हिरण्यगर्भ का नाम आने से सम्भवत: इस मन्त्र का ध्यान आ गया होगा। उस शिव को जानने पर पुरुष को शाश्वत शान्ति प्राप्त होती है जो कि सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर अनेक रूप वाला, विश्व का स्रष्टा, कलिल के मध्य में एक मात्र विश्व को परिवेष्टित करने वाला है (१०)। समस्त भूतों का अन्तर्यामी, समस्त

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

जगत् का वही अधिपति, समय पर समस्त जगत् का रक्षक है। ब्रह्मर्षिगण तथा देव गण उसका ध्यान लगा कर तथा इस प्रकार उसे जान कर मृत्यु के बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं (१५)। समस्त प्राणियों के अन्तर्यामी नवनीत से भिन्न दुग्ध के सारतत्त्व से भी अधिक सूक्ष्म शिव को जानने पर, एकाकी ही समस्त जगत् को परिवेष्टित करने वाले देव को जानकर पुरुष समस्त पाशों से मुक्त हो जाता है (१६)। यह देव—यह परमात्मा, जिसकी कृति यह विश्व है, सदा मनुष्यों के हृदय में निवास करता है, हृदय, बुद्धि और मन से उसका ध्यान किया जाता है। जो इस रहस्य को जानता है वह अमर हो जाता है (१७)। जब केवल अन्धकार था, न दिन था न रात्रि, न सत् था न असत्, उस समय केवल शिव ही था। वही एकमात्र अक्षर तत्त्व है, वह सविता का वरेण्य है, प्रकाश है तथा उसी से समस्त ज्ञान का प्रसार हुआ (१८)। यहाँ पर ऋग्वेद १०.१२९ में अभिव्यक्त विचार से मिलता-जुलता विचार दिखाई पड़ता है। इस परमात्मा को न तो ऊपर से, न इधर-उधर से और न ही बीच से ही कोई पकड़ सकता है। उसकी तरह कोई दूसरा नहीं है। उसका यश महान् है (१९)। उसका रूप अदृश्य है, कोई भी आंखों से उसे नहीं देखता। जो हृदय में निवास करने वाले परमेश्वर को हृदय से तथा निर्मल मन से जान लेते हैं वे अमर हो जाते हैं (२०)। यह श्लोक केवल तीसरी पंक्ति को छोड़कर जो कि ऊपर के ५,१७ की तीसरी पंक्ति जैसी ही है, क० उ० (६,९) के श्लोक जैसा ही है। इस अध्याय का अन्त ऐसे दो श्लोकों के साथ होता है जिसमें रुद्र से रक्षा के निमित्त प्रार्थना की गई है। अन्तिम श्लोक तो वस्तुतः ऋग्वेद १,११४ का आटवां मन्त्र है।

पाँचवें अध्याय के प्रथम श्लोक में ब्रह्म तथा एक अन्य इन दो अक्षय प्राणियों का उल्लेख है जो कि अनन्त हैं, जिनमें अचिन्त्य विद्या और अविद्या दोनों ही निहित हैं।

अगले श्लोक में कपिल के जन्म तथा समस्त योनियों के अधिष्ठाता परमात्मा द्वारा ज्ञान से उन्हें पुष्ट किए जाने का उल्लेख है।

प्रत्येक वर्ग (शा० अ० जाल) को विभिन्न स्वरूप प्रदान करके ईश्वर प्रत्येक वस्तु को मूल तत्त्व में लीन कर देता है (संहार कर देता है)। भूतों का पति, परमात्मा, ईश इनकी पुनः रचना करके उन सभी पर पुनः आधिपत्य करता है।

जैसे सूर्य समस्त दिशाओं को ऊपर नीचे इधर-उधर और सभी ओर से

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

प्रकाशित करता है, उसी प्रकार वह भगवान् एकाकी ही समस्त योनि-स्वरूपों पर आधिपत्य करता है।

(विश्व-योनि) जगत् का मूल कारण प्राकृतिक शक्तियों का विकास करता है तथा जो विकास-योग्य हैं उन्हें प्रौढ़ स्थितियों में लाता है। वह इस जगत् पर आधिपत्य करता है तथा समस्त गुणों को विनियोजित करता है।

वेदों के रहस्य से युक्त वह उपनिषदों में छिपा हुआ है। ब्रह्मा, ब्रह्म की उस योनि को जानते हैं। वे समस्त देवता तथा ऋषि, जो इसे जानते हैं, उसमें तन्मय हो कर अमर हो गए।

[७] इसके बाद उपनिषद् जीवात्मा का वर्णन करता है कि वह प्राणों का अधिपति, कर्मों को करने वाला तथा उनके फल भोगने वाला, तीन गुणों से समन्वित एवं तीन मार्गों का अनुसरण करने वाला और अपने कर्मों के फल-स्वरूप नाना योनियों में भ्रमण करता है।

[८-९-१०] वह अंगूठे जितना बड़ा, सूर्य के समान प्रकाशवान्, संकल्प एवं अहंकार से युक्त तथा भाले की नोक के सौवें भाग जितना सूक्ष्म है तथा अनन्त है। वह न तो स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक। यह जिस जिस शरीर को ग्रहण करता है, उसी के लिङ्ग से युक्त हो जाता है।

[१२] वह अपने कर्मों तथा आत्मा के गुणों के अनुरूप अनेक स्थूल तथा सूक्ष्म रूप ग्रहण करता है किन्तु उनके संयोग का कारण तो कोई अन्य ही है।

[१३] इसके बाद का श्लोक ४,१४ तथा १६ वें श्लोक के उत्तरार्ध से मिलता है।

[१४] अन्तिम श्लोक में भगवान् शिव को जो कि स्रष्टा और संहारक हैं, भाव (विश्वास, प्रेम या शुद्ध हृदय) द्वारा ग्राह्य कहा गया है।

[६] छठा अध्याय पूर्ववर्ती विषयों का उपसंहार जैसा प्रतीत होता है। अन्य बातों के साथ-साथ यह कहा गया है कि पुण्य-वृद्धि करने वाले तथा पाप का क्षय करने वाले परमात्मा को आत्मस्थ जानना चाहिए।

[११] एक ही देव समस्त भूतों में छिपा हुआ है। वह सर्वव्यापी, समस्त प्राणियों का अन्तरात्मा, समस्त क्रियाओं का अधिष्ठाता, समस्त भूतों का आश्रय, सभी का साक्षी, सबको प्राण प्रदान करने वाला, केवल और निर्गुण है।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

[१३] कारण का ज्ञान होने पर, जिसे सांख्य और योग के साधनों द्वारा जाना जा सकता है, मनुष्य समस्त पाशों से मुक्त हो जाता है।

[१४] इसके अनन्तर इस आशय का श्लोक आता है :—

"न सूर्य, न चन्द्र, न तारागण और न ही विद्युत् उसे प्रकाशित करती है (उसका ज्ञान कराती है)। जब वह प्रकाशित होता है तो उसके पीछे सभी प्रकाशित हो जाते हैं तथा उसके प्रकाश द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है।"

यह श्लोक कठ० उप० (५,१५) तथा मु० उ० (३,२,१०) में भी मिलता है।

[१८-१९] इस उपनिषद् का अन्त उस देवता के आगे आत्म-समर्पण की अभिव्यक्ति के साथ होता है जो मनुष्य की अपनी बुद्धि में प्रकाशित होता है, जिसने पहले ब्रह्मदेव को रचा, जिसने समस्त वेदों को प्रेरणा दी, जो निष्कल निरवयव, शान्त, निरवद्य, निरञ्जन, अमृत का परम सेतु तथा जाज्वल्य-मान ईंधन से युक्त अग्नि के समान है।

इस संक्षिप्त सार से यह स्पष्ट है कि इस उपनिषद् में ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा अन्य संहिताओं के वे मन्त्र विद्यमान हैं जो कि प्रचलित दशा में रहे होंगे तथा जिन्हें मुण्डक, कठ तथा इस उपनिषद् द्वारा आत्मसात् कर लिया गया होगा। साथ ही ऐसे बहुत सारे मन्त्र, जो कि कहीं भी अन्यत्र नहीं मिलते, मौलिक प्रतीत होते हैं। इन सभी में ईश्वर, जीवात्मा, जड़ जगत् तथा इन तीनों के सम्बन्धों के विषय में सत्य पाए जाते हैं। मुक्ति का मार्ग परमात्मा का ध्यान है। यह मार्ग सामान्य रूप से उपनिषत्-सिद्धान्त का वैशिष्ट्य है। इस ध्यान को प्रभावशाली बनाने के लिए कतिपय योग-प्रक्रियाएं निर्धारित की गई हैं तथा इसका चरम फल परमात्मा की सर्वत्र विद्यमानता का साक्षात्कार है। यह साक्षात्कार शाश्वत् आनन्द-मय है। इस उपनिषद् मे उपनिषदों का ईश्वरवाद अपनी पूर्णता को प्राप्त हो गया है, इसके केन्द्र बिन्दु में सुस्पष्ट-तया व्यक्तित्व-विभूषित ईश्वर है। परमात्मा के गुण प्रायः अत्यन्त सामान्य शब्दों में दिए गए हैं और उसका निर्देश अ-साम्प्रदायिक सामान्य शब्द देव द्वारा किया गया है। यद्यपि प्रायः इस देव को रुद्र, शिव, ईशान और महेश्वर से अभिन्न बतलाया गया है और उसकी शक्तियों को ईशानी कहा गया है किन्तु ऐसे कोई भी संकेत यहाँ पर नहीं हैं कि ये नाम अन्य देवों को हटा कर (उनके स्थान में) एकमात्र रुद्र शिव को परमेश्वर की कोटि पर पहुँचाने के उद्देश्य से रखे गए हैं। रुद्र-शिव-वाचक नामों का प्रयोग किया गया है

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

क्योंकि उन्हें सभी लोगों द्वारा अनुभूत और स्वीकृत एक व्यक्तित्व तो प्राप्त ही था अतएव यह उपनिषद् परवर्ती काल में रचे गए अन्य ग्रन्थों की भांति किसी सम्प्रदाय-विशेष का ग्रन्थ नहीं था तथा इसे न केवल एक ही सम्प्रदाय लेखकों ने अपितु शङ्कराचार्य, रामानुज तथा अन्य विभिन्न शाखाओं के लेखकों ने उद्धृत किया है। इसकी रचना भगवद्गीता से पूर्व की गई होगी क्योंकि भगवद्गीता में, जैसा कि पहले ही बतलाया जा चुका है, इसका एक पूरा तथा एक आधा श्लोक प्राप्त होता है तथा इसमें विद्यमान धार्मिकाध्यात्मिक कल्पनाओं का स्वरूप तत्त्वतः औपनैषदिक होते हुए भी इस वर्ग के किसी भी अन्य प्राचीन उपनिषदों की अपेक्षा उत्तरकालीन भक्तिमार्ग के अधिक समीप है। इसका ईश्वर तथा परमानन्द का वर्णन प्रेम और स्तुति की प्रभा से दीप्त है तथा इस उपनिषद् का अन्त ईश्वर के समक्ष आत्म-निवेदन के साथ होता है, जो पुरुष की बुद्धि में स्वयं प्रकाशित होता है। अतएव श्वेताश्वतर उपनिषद् भक्ति-मार्ग के द्वार पर अवस्थित है तथा इसकी प्रेमसिक्त अभ्यर्थना की वर्षा रुद्र-शिव पर हुई है, न कि वासुदेव-कृष्ण पर, जैसा कि परवर्ती काल में जबकि भक्ति अपने पूर्ण-प्रवाह में थी, भगवद्गीता ने किया। वासुदेव-कृष्ण का एक ऐतिहासिक आधार था तथा उन्हें परमेश्वरत्व से विभूषित करने वाली परिस्थितियां बाद में आईं। जब कि जिस समय श्वेताश्वतर-उपनिषद् की रचना हुई उस काल में केवल रुद्र-शिव ही इस क्षेत्र में परमेश्वर के रूप में थे तथा भक्ति या अनुराग के अङ्कुर जो उस समय व्यक्त हो चुके थे, इन्हीं की ओर अभिप्रेत थे। किन्तु बाद में जब वासुदेव कृष्ण भी इस क्षेत्र में आ गए तो उन्होंने ऐसे देवता के रूप में लोगों के चित्तों को अधिक आकृष्ट किया जो कि उन्हीं के मध्य रहने को आया था। परिणामस्वरूप भक्ति के अङ्कुरों का तेजी से विकास हुआ और वासुदेव-कृष्ण-रुद्र शिव की अपेक्षा अधिक समुन्नत भावना के विषय बन गए।

उस काल तक, जहां तक हम पहुँचे हैं, हमें रुद्र या शिव की किसी भी पत्नी का उल्लेख प्राप्त नहीं होता, किन्तु केन-उपनिषद् में, जो कि निश्चित रूप से एक प्राचीन उपनिषद् है, उमा का नाम आया है। उन्हें हिमवती या हिमवान् की पुत्री कहा गया है किन्तु केन-उपनिषद् में उनका उल्लेख रुद्र-शिव की पत्नी के रूप में नहीं हुआ है, हालांकि बाद में वे रुद्र शिव की पत्नी कहलाने लगीं। कथा इस प्रकार है—ब्रह्म ने देवों के लिए उनके शत्रुओं पर विजय प्राप्त की किन्तु विजय का श्रेय देवता स्वयं को देने लगे तथा अपनी उपलब्धियों पर उन्हें गर्व हो गया। अग्नि, वायु एवं इन्द्र आनन्दमय

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

वार्तालाप में निमग्न होकर एक साथ बैठे हुए थे कि वहां से कुछ दूरी पर एक यक्ष प्रकट हुआ। सर्वप्रथम अग्नि वहाँ पर यह देखने के लिए गए कि वह क्या है। यक्ष ने अग्नि से उसकी शक्ति के स्वरुप और सीमा के बारे में पूछा और घास का एक तिनका रख कर अग्नि से इसे जलाने को कहा। अग्नि इसे जलाने में समर्थ नहीं हो सके तथा प्रतिहत होकर वापस लौट गए। तदनन्तर वायु वहां पर पहुँचे और वे भी उस तिनके को उड़ाने में असमर्थ रहे। तदुपरान्त इन्द्र गए और उनके पहुंचने पर वह यक्ष अन्तर्धान हो गया। इन्द्र को निराशा हुई किन्तु उन्होंने वहां पर उमा हिमवती नाम की एक सुन्दरी नारी को देखा और उससे पूछा कि वह यक्ष कौन था? उमा ने बतलाया कि यह ब्रह्म था। यह कथा उन वस्तु-स्थितियों को चित्रित करती है जिनमें प्राचीन वैदिक देवताओं की शक्ति या मनुष्यों पर उनका प्रभाव क्षीण हो गया था तथा ब्रह्म परमात्मा के रूप में प्रधानता को प्राप्त हो चुका था। क्योंकि उमा ने उस पुरुष के स्वरूप का रहस्योद्घाटन किया, इससे यह समझा जा सकता है कि यहां पर उल्लिखित ब्रह्म रुद्र-शिव थे और उमा उनकी पत्नी थी। इस प्रकार ऐसा लगता है कि उपनिषद् की रचना के कुछ समय पूर्व ही उमा को उसकी पत्नी माना जाने लगा था।

अथर्वशिरस् रुद्र से सम्बद्ध अन्य उपनिषद् है। यह अपेक्षाकृत अधिक परवर्ती कृति है, जैसा कि नारायण और शंकरानन्द द्वारा व्याख्यात इस ग्रन्थ के मेरे सामने विद्यमान परस्पर में अत्यन्त विभिन्न पाठों से प्रकट होता है। यह कहा जाता है कि देव-गण स्वर्ग गए और रुद्र से पूछा कि वे कौन हैं? उसने कहा कि वह अकेले ही था, एकाकी ही है तथा एकाकी ही रहेगा तथा इसके अतिरिक्त वह और कुछ भी नहीं है। वह सभी दिशाओं में है वह गायत्री, नर, नारी इत्यादि है। इस प्रकार ऐसी कई चीजों का उल्लेख किया गया है जिनसे वह अभिन्न है। तदुपरान्त रुद्र देवों से अदृश्य हो गया और देवों ने हाथ जोड़ कर उसकी स्तुति इस प्रकार की :—"जो रुद्र है, जो भगवान् है तथा जो ब्रह्मदेव भी है, उसे नमस्कार है"। आगे के ऐसे ही वाक्यों में हमें ब्रह्मदेव के स्थान पर विष्णु, महेश्वर उमा, स्कन्द, विनायक आदि नाम मिलते हैं। सूर्य और नक्षत्रों की भी गणना की गई है। तदुपरान्त ओंकार का उल्लेख है. जिसके साथ दैवी गुणों के बोधक अनेक विशेषण तथा विशेषणों के भी विशेषण दिए हैं तथा अन्त में उसे एक रुद्र कहा गया है जो कि ईशान, भगवत्, महेश्वर और महादेव है। उसे एक-रुद्र इसलिए कहा गया है क्योंकि प्रत्येक वस्तुओं का सृजन और संहरण वह अकेले ही करता है। उसे ईशान इसलिए कहा गया है क्योंकि वह ईशानी नामक शक्तियों से

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

शासन करता है। तदुपरान्त कुछ पाठान्तरों सहित श्वे० उप० के चार या पाँच श्लोक आते हैं। इसके बाद जो आया है उसका भावार्थ शंकरानन्द ने इस प्रकार दिया है —"रुद्र के ज्ञान के लिए पुरुष को नियन्त्रित भोजन करना चाहिए, श्रवण, मनन इत्यादि में स्वयं को लगा देना चाहिए, परम-हंस या एकाग्र-चित्त भक्त बनना चाहिए और अपना समय इस प्रकार बिताना चाहिए। पाशुपत-व्रत धारण करना चाहिए जो कि निम्न प्रकार का है। लोभ और क्रोध को छोड़ देना चाहिए। क्षमा का अनुभव करना चाहिए। 'ओम्' का जप करना चाहिए तथा अवगति या प्रत्यक्ष में परिणत होने वाले ध्यान को करना चाहिए।" वह मूल अंश जिसकी यह व्याख्या है इस प्रकार है :—

"हृदय के अन्दर एक सूक्ष्म शरीर है जिसमें क्रोध, लोभ और क्षमा है। मानव-प्रवृत्तियों के मूल में विद्यमान लोभ का नाश करके तथा एक एवं नित्य रुद्र पर अपना मन स्थिर करके पुरुष को भोजन-पान के सम्बन्ध में संयत रहना चाहिए।" तदनन्तर इन शब्दों का उच्चारण करते हुए शरीर में भस्म का लेप करना चाहिए :—"भस्म ही अग्नि है, भस्म ही जल है, भस्म ही मिट्टी है, प्रत्येक वस्तु भस्म है, आकाश भस्म है, मन, नेत्र एवं अन्य इन्द्रियां भस्म हैं।" यह पाशुपत व्रत है जो कि उन पाशों के निवारण के लिए विहित है जिनसे पशु या जीवात्मा बंधा हुआ है।

यहाँ पर पशुपति या रुद्र-शिव के भक्तों के लिए पाशुपत व्रत के रूप में मन्त्रोच्चारण के उपरान्त शरीर पर भस्म लगाने का जो विधान निर्धारित किया गया है उसे जीवन-बन्धन से मुक्ति दिलाने वाला माना गया है। 'पशु-पाशविमोक्षण' (अर्थात् प्राणियों को बांधने वाले पाशों को ढीला करना) शब्द पाशुपत-सम्प्रदाय का वैशिष्ट्य है। अतएव यह उपनिषद् पाशुपत-सम्प्रदाय का है। किन्तु इस सम्प्रदाय का विचार करने से पूर्व हम महाभारत में रुद्र-शिव की जो स्थिति थी उस पर एक दृष्टिपात करना आवश्यक समझते हैं।

——:०:——

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

२६. महाभारत में रुद्र-शिव तथा लिङ्गोपासना

भीष्म-पर्व के प्रारम्भ में कृष्ण अर्जुन को युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व दुर्गा की वन्दना करने तथा विजय के निमित्त उनकी स्तुति करने का परामर्श देते हैं। अर्जुन दुर्गा के एक स्तोत्र का पाठ करते हैं जिसमें स्कन्दमाता उमा, कात्यायनी, कराली तथा कतिपय अन्य नाम आए हैं। वन-पर्व में अर्जुन को हिमालय जाते हुए तथा वहाँ पर तपश्चरण करते हुए चित्रित किया गया है। कुछ समय के उपरान्त शिव वहां पर किरात के वेश में प्रकट होते हैं और उन दोनों के मध्य भयंकर युद्ध होता है। अन्त में अर्जुन पराभूत हो जाते हैं तथा श्रान्त होकर भूमि पर गिर जाते हैं। तब वे शिव की स्तुति करते हैं और पृथ्वी पर एक वेदिका बना कर शङ्कर के नाम से इस पर पुष्प चढ़ाते हैं। किन्तु ये पुष्प किरात के शिव पर रखे हुए दिखते हैं। तब अर्जुन उसे अपना पूज्य शिव जान कर उसके आगे आत्म-समर्पण कर देते हैं। शिव प्रसन्न हो जाते हैं और अर्जुन जो चाहते है वे वह सब उन्हें देते हैं। अर्जुन ने उनसे पशुपति द्वारा अधिष्ठित अस्त्र (पाशुपतास्त्र) मांगा, जिसमें समस्त दुर्जेय शत्रुओं को नष्ट करने की शक्ति है (अध्याय ३८-४०)। द्रोणपर्व (अध्याय ८०,८१) में पुनः अर्जुन द्वारा पाशुपतास्त्र की जो दूसरी तरह का है, जिसमें एक धनुष और बाण हैं उपलब्धि का उल्लेख है। यह बतलाया गया है कि अर्जुन और कृष्ण स्वप्न में हिमालय गए तथा वहां पर शंकर को उनके निवास स्थान पर देखा। उन्होंने शिव के आगे शिर नवाए, उनकी स्तुति की, जिसमें उन्होने शिव को अजन्मा, जगत्कर्ता तथा अविकारी कहा है तथा वे ऐसे नामों का उच्चारण करते हैं जिन्हें हम पूर्ववर्ती कृतियों में प्राप्त नामों के रूप में दे चुके हैं। इस प्रकार उनकी वन्दना करते हुए वे उनसे पाशुपत अस्त्र मांगते हैं। उन्हें एक सरोवर जाने का निर्देश दिया जाता है जहां पर अस्त्र को फेंक दिया गया था। वहाँ पर उन्होंने दो जहरीले सर्प देखे किन्तु उस समय इन्होंने एक धनुष और बाण के स्वरूप ग्रहण कर लिए तथा इन्हें अर्जुन ले गए। सौप्तिक-पर्व (७वां अध्याय) में यह उल्लेख है कि अश्वत्थामा ने शंकर की आराधना की और उनसे एक खड्ग प्राप्त किया। स्वयं शिव उसके शरीर में प्रविष्ट हो गए तथा अश्वत्थामा ने पाण्डवों के शिविर में उस

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

खड्ग द्वारा कहर ढा दिया और अपने पिता द्रोण का वध करने वाले धृष्टद्युम्न तथा सारे पाण्डव पुत्रों का वध कर डाला। युधिष्ठिर ने कृष्ण से पूछा कि अश्वत्थामा यह सब करने में कैसे समर्थ हुआ? कृष्ण ने बतलाया कि उसने यह सब शङ्कर की शक्ति से किया तथा वे शङ्कर के बारे में एक और कथा कहते हैं। एक बार ब्रह्मदेव ने शंकर से सृष्टि न करने की प्रार्थना की, जिस पर शङ्कर बहुत लम्बे समय तक जल में विलीन रहे। अतएव जब बहुत लम्बे समय तक सृष्टि नहीं हुई तो ब्रह्मदेव ने दूसरा प्रजापति रचा, जिसने बहुत बड़ी संख्या में प्राणियों को उत्पन्न किया। क्षुधा-पीड़ित होकर ये प्राणी प्रजापति को खाने के लिए उनके पास पहुँचे। भयभीत होकर प्रजापति हिरण्यगर्भ के पास गए, हिरण्यगर्भ ने उन प्राणियों के लिए दो प्रकार के खाद्य रचे और तब वे सब शान्त हो गए। कुछ समय के उपरान्त महादेव पानी से बाहर निकले तथा यह देखने पर कि नए प्राणियों की रचना की जा चुकी है तथा वे फल फूल रहे हैं, उन्होंने अपने लिङ्ग को ही काट डाला क्योंकि अब इसकी और आवश्यकता नहीं थी तथा यह लिंग पृथ्वी पर स्थित हो गया। इसके बाद तप करने के निमित्त वे मुञ्जवत् पर्वत की उपत्यका में चले गए। महादेव के सृष्टि-रचना से विरत होने तथा योगी बन जाने की एक ऐसी कथा वायु-पुराण (अध्याय १०) में है। ब्रह्मदेव ने नीललोहित (महादेव) से सृष्टि रचने को कहा तथा अपनी पत्नी सती का मानसिक स्मरण करके महादेव ने ठीक अपने ही जैसे सहस्रों प्राणी रच डाले, जो अमर थे। तदुपरान्त उन्होंने सृष्टि-रचना बन्द कर दी और स्वयं को प्रजनन के लिए अयोग्य बना लिया। तदुपरान्त उन्होंने योग की उन समस्त प्रक्रियाओं का आचमण किया जिन्हें पुराण में पाशुपत-योग कहा गया है। सौप्तिक-पर्व में कृष्ण महादेव की कथा को जारी रखते हुए युधिष्ठिर से बतलाते हैं कि जब देवों ने याज्ञिक अनुष्ठान की रचना की और रुद्र के लिए बलिभाग निर्धारित नहीं किया तब वे क्रुद्ध हो गए और उन्होंने यज्ञ का विध्वंस कर दिया। इस पर उन्होंने रुद्र के लिए एक अंश निर्धारित किया तथा देवता प्रसन्न हो गए। अनुशासनपर्व (अध्याय १४) में कृष्ण को महादेव की महिमा का वर्णन करते हुए दिखलाया गया है। वे कहते हैं, उनकी एक पत्नी जाम्बवती ने उनकी प्रधान पटरानी रुक्मिणी के पुत्र जैसे पुत्र प्राप्ति की कामना प्रकट की। इस प्रकार के पुत्र को पाने के लिए कृष्ण ने महादेव की आराधना की, केवल जिनके अनुग्रह से ही उनकी मनोकामनाएं पूर्ण हो सकती थीं। तदुपरान्त कृष्ण हिमालय गए, जहां शिव रहते थे। मार्ग में उन्होंने उपमन्यु का आश्रम देखा। उपमन्यु ने

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

महादेव के शुभ कार्यों का लम्बा वर्णन किया। उन्होंने अनेक दैत्यों सहित ऐसे व्यक्तियों की सूची बतलाई जिन्होंने पुत्र, आयुध, शक्ति आदि मनोवाञ्छित वस्तुओं को महादेव के अनुग्रह से प्राप्त किया था, जिनकी आराधना उन्होंने कठोर तप तथा अन्य उपायों से की थी। इनमें से एक शाकल्य थे जिन्हें यह वर दिया था कि वे एक लेखक बनेंगे, उन्हें अक्षय यश की प्राप्ति होगी तथा उनका पुत्र सूत्रकार होगा। यहां पर जिस व्यक्ति का निर्देश किया गया है, उसे ऋग्वेद-संहिता का संकलनकर्ता एवं पद-पाठ का रचयिता होना चाहिए। उपमन्यु ने शिव को प्रसन्न करने के निमित्त तप करना अपनी माता की प्रेरणा से प्रारम्भ किया था, जिसने शिव की शक्ति और दानशीलता का वर्णन करते हुए यह वतलाया कि वे नग्न होकर नृत्य करते हैं तथा दिशाएं ही उनके वस्त्र (दिग्वासस्) हैं। तपश्चरण के दौरान उपमन्यु की भक्ति परीक्षा लेने के निमित्त महादेव इन्द्र के रूप में उनके सामने प्रकट हुए तथा अनेक दिव्य वर देने के लिए कहा परन्तु उपमन्यु ने ये वर अस्वीकार कर दिए और कहा कि मैं वर केवल शंकर से ही प्राप्त करूंगा। शङ्कर की आज्ञा से मैं कटि-पतङ्ग भी हो सकता हूँ किन्तु इन्द्र से तीनों लोगों के आधिपत्य की भी कामना नहीं रखता। अपने वर्णन के सिलसिले में उपमन्यु कहते हैं कि महादेव ही ऐसे देवता हैं जिनके लिङ्ग की पूजा मनुष्यों द्वारा की जाती है। वे (शिव) तथा उमा ही भूतों के वास्तविक स्रष्टा हैं क्योंकि ये प्राणी दोनों के चिह्न (लिङ्ग तथा योनि) को धारण करते हैं, शङ्ख, चक्र या देवों के अन्य चिह्नों को नहीं। अकस्मात् उपमन्यु के आगे वृषभ पर आरूढ़ शिव और उमा प्रकट होते हैं। उनके एक ओर अपने वाहन हंस पर आरूढ ब्रह्मा तथा दूसरी ओर शङ्ख, चक्र आदि से युक्त गरुड़ पर आसीन नारायण हैं तथा उनके मनोवाञ्छित समस्त वर प्रदान करते हैं। उपमन्यु के कहने पर कृष्ण भी लम्बी तपस्या करना प्रारम्भ करते हैं जिसके अन्त में उमा-सहित महादेव उनके आगे उसी तरह प्रकट होते हैं जैसे कि वे उपमन्यु के सामने प्रकट हुए थे। शिव ने कृष्ण को आठ वर प्रदान किए तथा उनकी पत्नी (उमा) ने आठ और। इसके अतिरिक्त उमा ने उन्हें सोलह सहस्र पत्नियां देने का वचन दिया तथा कुल मिला कर कृष्ण को चौबीस वर प्राप्त हुए, जिसमें कि पुत्र की प्राप्ति का वर भी सम्मिलित था जैसा कि वे चाहते थे।

इन विवरणों से शिव या महादेव की जो विशेषताएं प्रकट होती हैं, वे ये हैं—वे एक शक्तिशाली, क्रोधी और प्रचण्ड किन्तु साथ ही उदार तथा दानी देवता हैं तथा प्रसन्न किए जाने पर सभी कुछ देते हैं। जब कभी किसी मनुष्य को किसी वस्तु की इच्छा होती है तो इसकी पूर्ति के लिए

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

इन्हीं की आराधना या याचना की जाती है। वे हिमालय पर्वत में अपनी पत्नी उमा, पार्वती या दुर्गा के साथ रहते हैं जिनके काली, कराली इत्यादि कतिपय अन्य नाम भी हैं। वे कतिपय प्राणियों द्वारा उपसेवित हैं जो कि गण कहलाते हैं। उनका वाहन वृषभ है। वस्तुतः उनमें परमेश्वर के समस्त लक्षण विद्यमान हैं। जब वे सर्जक नहीं रह जाते तब उन्हें योग-क्रियाओं का आचरण करने वाला बतलाया गया है। यह भी स्पष्ट है कि शैव-धर्म में पूजनीय पदार्थ लिङ्ग है। पूर्ववर्ती साहित्य में, जहां तक हमने परीक्षा की है, हमें इस विशेषता के कोई भी चिह्न प्राप्त नहीं होते।[1]

पहली बार यह अनुशासन-पर्व के इसी स्थल में प्राप्त होता है। हम यह पहले ही कह चुके हैं कि वनों में रहने वाले स्वच्छन्द-चारी लोगों, व्रात्यों, निषादों तथा अनार्य जंगली जातियों के साथ रुद्र शिव का घनिष्ठ सम्बन्ध था। हमने यह भी देखा है कि निषाद-जाति के देवता रुद्र से व्यामिश्रित हो गए थे। सर्पों के लिए रुद्र का पक्षपात तथा उनका भूत-पति होना सम्भवतः सर्प पूजा के प्रभाव तथा जंगली जातियों की भूत पूजा के प्रभाव के कारण है। ऋग्वेद में ऐसे दो स्थल हैं जिनमें से एक में इन्द्र से यह प्रार्थना की गई है कि वे उनके अनुष्ठानों को ऐसे लोगों द्वारा विघ्न डालने से बचाएं जिनका देवता शिश्न है (७,२१,५) तथा दूसरे में शिश्न को देव मानने वालों का वध करने के उपरान्त इन्द्र को एक नगर की संपदाओं को जीतने वाला बतलाया गया है। यहां पर स्पष्ट रूप से शिश्न को देवता मानने वाले लोगों से वैदिक आर्यों के शत्रु अभिप्रेत हैं जो कि इनके पवित्र यज्ञों में विघ्न डालते थे। मेरा ऐसा विश्वास है कि यहां पर जिन लोगों का निर्देश किया गया है वे वस्तुतः इसी देश की कुछ आदिवासी जातियां थीं जो कि लिङ्ग की पूजा करती थीं। जिस प्रकार रुद्रशिव-उपासना में वन में बसने वाली और सुनसान क्षेत्रों में घूमने वाली जातियों के अनेक तत्त्व ग्रहण कर लिए गए उसी प्रकार शिश्नोपासना वाला तत्त्व भी उन बर्बर जातियों से ग्रहण कर लिया गया होगा, जिनके सम्पर्क

---

१. किन्तु मैं इस संभावना को अस्वीकार नहीं करता कि श्वे० उप० अ० ४, श्लोक ११, के 'यो योनिमधितिष्ठत्येको' और ५,२ के 'यो योनिमधितिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वाः' इस प्रकार के वर्णनों में योनि-लिङ्ग के सम्बन्ध को दार्शनिक भूमिका दे दी गई हो तथा ईश्वर को समस्त प्रभवों का अधिष्ठाता बतलाया गया हो।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

में आर्य लोग होंगे। किन्तु ऐसा नहीं लगता कि यह तत्त्व एकाएक आ गया होगा, विशेषतया शिक्षित वर्गों में, जिनके मत उस साहित्य में उल्लिखित हैं जिसकी हम परीक्षा कर चुके हैं। ऐसा लगता है कि पतञ्जलि के समय तक लिङ्गपूजा का प्रचलन नहीं हुआ था, क्योंकि पाणिनि के सूत्र ५,३,९९ पर पतञ्जलि ने उदाहरण-स्वरूप शिव की प्रतिकृति या प्रतिमा को पूजा का विषय बतलाया है न कि किसी प्रतीक को। विम कदफिसस के काल में भी सम्भवतः लिङ्ग पूजा अज्ञात थी, क्योंकि उसकी मुद्राओं के पृष्ठ-भाग में नन्दी के साथ शिव की प्रतिमा है और कहीं भी लिङ्ग का अंकन नहीं हुआ है। किन्तु यह तत्त्व उन साधारण लोगों में काफी पहले ही शनैः बढ़ रहा होगा जिनका असभ्य जनजातियों के साथ निकटतर सम्बन्ध था तथा धीरे-धीरे ऊंची जातियों में इसने अपना स्थान बना लिया होगा और कालान्तर में लिंग पूजा उनके धर्म का अंग ही बन गई। उच्च जातियों द्वारा इसके ग्रहण की इसी अन्तिम अवस्था को महाभारत में उपमन्यु के उपदेश में चित्रित किया गया है। संहितोत्तरकालीन साहित्य की हमने अभी जो समीक्षा की उससे यह स्पष्ट होता है कि रुद्र-शिव ऐसे देवता थे जिनकी पूजा सभी आर्यों के बीच प्रचलित हो चुकी थी तथा पहले ये किसी विशेष सम्प्रदाय के देवता नहीं थे। जैसा ऊपर कहा गया है, विष्णु के लोक-प्रिय होने से पूर्व रुद्र-शिव ही सर्वोच्च देव थे। गृह्यसूत्र, जिनमें जैसा कि हम देख चुके हैं, विभिन्न परिस्थितियों में रुद्र की आराधना करने का निर्देश मिलता है, किसी शैवसम्प्रदाय के नहीं माने जा सकते। पतञ्जलि के समय में कतिपय धार्मिक व्यक्तियों द्वारा अर्थलाभ के लिए पूजा के निमित्त शिव, स्कन्द या विशाख की मूर्तियाँ रखी जाती थीं। कभी-कभी वे प्रतिमाएं मूल्यवान् धातुओं से भी बनाई जाती थीं। यहाँ पर निर्दिष्ट शिव-प्रतिमाओं को किसी विशिष्ट सम्प्रदाय के प्रयोग के लिए बनाया हुआ नहीं माना जा सकता।

——:०:——

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

२७. शैव-सम्प्रदायों का उदय और विस्तार तथा शिव-पूजकों की कतिपय श्रेणियां

एक शैव सम्प्रदाय का उल्लेख तो पतञ्जलि ने ही किया है। इसके अनुयायी शिव-भागवत नाम से ख्यात थे। हमने यह देख ही लिया है कि अथर्ववेद में शिव भगवत् कहलाते थे। शिव-भागवत अपने हाथ में अपने उपास्य-देव के लाञ्छन के रूप में लोहे का एक त्रिशूल लिए रहते थे (पाणिनि ५,२,७६,२ भाष्य)।

महाभारत के नारायण-खण्ड में पांच धार्मिक सिद्धान्तों का निरूपण एक रूप में किया गया है (शान्ति-पर्व, अध्याय ३४९ ५०, श्लोक ६४)। उमा के पति, भूतनाथ तथा ब्रह्मदेव के पुत्र शिव-श्रीकण्ठ०को इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का प्रकाशक बतलाया गया है (श्लोक ६७)। इस प्रश्न का निश्चित रूप से उत्तर दे पाना कुछ कठिन है कि इस कथन का तात्पर्य यह समझा जाए कि इस सम्प्रदाय का संस्थापक कोई ऐसा मनुष्य था जिसे बाद में शिव का अवतार मान लिया गया अथवा यह कथन बृ० उ० (२,४,२०) के उस कथन की भांति एक सामान्य कथन ही है जिसमें यह कहा गया है कि ऋक्, यजुः साम आदि वेद पुरुष के निःश्वसित हैं और इस प्रकार क्या उपर्युक्त कथन का इससे अधिक कोई ऐतिहासिक महत्त्व नहीं है कि पाशुपत मत धीरे-धीरे अस्तित्व में आया और इससे किसी व्यक्ति विशेष का सम्बन्ध नहीं रहा ? किन्तु पुराणों और अभिलेखों में प्रथम कल्पना के समर्थक विश्वास के विद्यमान रहने के साक्ष्य प्राप्त होते हैं। वायु-पुराण (अध्याय २३) तथा लिङ्ग-पुराण (अध्याय २४) में महेश्वर को ब्रह्मदेव से यह कहते हुए बतलाया गया है कि युगों के अट्ठाईसवें प्रत्यावर्तन में कृष्ण द्वैपायन के समय जब वासुदेव जन्म लेंगे, तब मैं श्मशान में पड़े हुए एक मृत शरीर में प्रविष्ट होकर लकुलिन् नामक एक ब्रह्मचारी के रूप में अवतार ग्रहण करूंगा। जहां यह घटना घटित होगी वह स्थान कायावतार या कायावरोहण नाम से ख्यात होगा। कुशिक, गर्ग, मित्र तथा कौरुष्य नाम वाले मेरे चार शिष्य होंगे। ये पाशुपात जिनके शरीर भस्म से लिप्त रहेंगे, महेश्वर योग का समाश्रयण करके अन्त में

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

रुद्र लोक में चले जाएंगे। उदयपुर राजपूताना से १४ मील उत्तर में एकलिङ्ग जी के मन्दिर के समीप नाथ-मन्दिर के एक अभिलेख में यह बतलाया गया है कि भृगु से आराधित होकर शिव ने भृगु कच्छ देश में अपने हाथ में लकुल धारण करने वाले एक मनुष्य के रूप में अवतार लिया था। पाशुपत योग के ज्ञाता, भस्म, वल्कल और जटाजूटों को धारण करने वाले कुशिक आदि ऋषियों का भी उल्लेख किया गया है। प्रायः चिन्त-प्रशस्ति कहा जाने वाला एक और अभिलेख भी है जिसमें यह कहा गया है कि शिव ने भट्टारक श्री लकुलीश के रूप में अवतार लिया। वे लाट देश में कारीहण में रहने लगे। वहां पाशुपत-व्रतों के दृढ संपादन के निमित्त कुशिक, गार्ग्य, कौरुष और मैत्रेय नामक चार शिष्य शरीर धारण कर प्रकट हुए और वे चार शाखाओं के जन्मदाता बन गए। प्रथम अभिलेख की तिथि विक्रमाब्द १०२८ तदनुसार ९७१ ई० है तथा दूसरा अभिलेख १२७४ से लेकर १२९६ ई० के मध्य लिखा गया था। मैसूर के सिर-तालुका में हेमावती में प्राप्त ९४३ ई० के एक अन्य अभिलेख में लकुलीश को अपने नाम और सिद्धान्तों की रक्षा के निमित्त मुनिनाथ चिल्लुक के रूप में पुनः जन्म ग्रहण करने वाला बतलाया गया है।[1]

माधव ने अपने सर्वदर्शन संग्रह में पाशुपत-मत की व्याख्या करते हुए इसे "नकुलीश पाशुपत" नाम दिया है तथा एक ऐसे ग्रंथ से कुछ शब्द उद्धृत किए हैं जिसे नकुलीश की ही कृति बतलाया जाता है। इस सबसे यह प्रतीत होता है कि लकुलिन् (लकुट, लगुड या लकुल का धारण करने वाला) नामक कोई एक व्यक्ति हुआ था, जिसने पाशुपत मत की स्थापना की थी। इस मत से चार शाखाएं निकलीं तथा इनके यशस्वी संस्थापकों को, चाहे वे ऐतिहासिक हों या काल्पनिक, नकुलीश का शिष्य माना जाता था। लकुलिन् और नकुलिन् दोनों एक ही हैं तथा पुराणों में इसके आविर्भाव को वासुदेव-कृष्ण के समसामयिक होने का जो वर्णन किया गया है उससे यह अनुमान किया जा सकता है कि वासुदेव-कृष्ण सम्प्रदाय में जो पाञ्चरात्र का स्थान है वही स्थान शैव-धर्म में पाशुपत मत का है। अतएव नारायणीय में उल्लिखित पाशुपतमत के उदय का काल हम पाञ्चरात्र-मत के उदय से लगभग एक शताब्दी पश्चात् अर्थात् लगभग द्वितीय शतक ई० पू० में निर्धारित कर सकते हैं।

और आगे बढ़ने से पूर्व हम इस मत के प्रसार की सीमा को देखेंगे।

---

१. जे० बी० बी० आर० ए० एस०, भाग-२२, पृ० १५१-१५३

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

वैशेषिक सूत्रों के भाष्य के अन्त में भाष्यकार प्रशस्तपाद ने सूत्रकार कणाद की वन्दना की है और उन्हें (कणाद को) अपने योग और आचार की महत्ता द्वारा महेश्वर को प्रसन्न करके वैशेषिक शास्त्र की रचना करने वाला बतलाया है। ये दोनों ही (योग और आचार) बातें पाशुपत तथा शैव दोनों ही मतों में प्रचलित हैं, जैसा कि हम बाद में देखेंगे। अतएव कणाद पाशुपत या शैव मत के अनुयायी रहे होंगे।

वात्स्यायन के न्याय भाष्य की उद्योग-टीका के लेखक भारद्वाज को उनकी टीका के अन्त में पाशुपताचार्य कहा गया है। तीसरी सदी ई० के लगभग उत्तरी तथा पश्चिमोत्तर भारत के एक बहुत बड़े भाग पर शासन करने वाले कुषाण जाति के शक्तिशाली राजा विम कदफिसस ने अपने मुद्रा-लेख में स्वयं को महेश्वर का भक्त या महेश्वर का मतानुयायी कहा है तथा मुद्रा के पृष्ठ भाग पर नन्दी एवं हाथ में त्रिशूल धारण किए हुए शिव की प्रतिमाएं भी प्राप्त हुई हैं। छठी सदी के उत्तरार्ध में वराह मिहिर ने यह नियम निर्धारित किया था कि शम्भु-प्रतिमा की प्रतिष्ठा के लिए नियोजित आचार्य शरीर में भस्म-लेप करने वाला ब्राह्मण हो। सम्भवतः यहाँ पर उनका अभिप्राय शैवमतानुयायी से है क्योंकि अन्य देवताओं के सम्बन्ध में जिन नामों का उल्लेख किया गया है, वे उन देवों के नामों के आधार पर स्थापित सम्प्रदायों के नाम हैं।

एक प्राचीन जैन-लेखक हरिभद्र ने अपने षड्दर्शन-समुच्चय में गौतम और कणाद के दर्शनों को शैव धर्म का प्रचारक बतलाया है। किन्तु उनके टीकाकार गुणरत्न[1] ने, जो कि चौदहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुए, वैशेषिकों को पाशुपत तथा न्याय दर्शन को शैव कहा है। उनकी दूसरी बात असङ्गत लगती है क्योंकि जैसा कि हम देख चुके हैं न्याय-दर्शन के भारद्वाज को विशेष रूप से पाशुपताचार्य कहा गया है। सातवीं सदी के मध्य में चीनी यात्री ह्वेनत्साङ्ग ने अपनी पुस्तक में बारह बार पाशुपतों का उल्लेख किया है। वह कहता है कि कुछ स्थानों में महेश्वर के ऐसे मन्दिर थे जिनमें पाशुपत लोग पूजा किया करते थे, एक या दो मन्दिर ऐसे भी थे जिनमें वे रहते थे। बनारस में उसने लगभग दस सहस्र ऐसे आराधकों को देखा जो महेश्वर की पूजा करते थे, अपने शरीर पर भस्म का लेप करते थे, नग्न रहते थे तथा जटा-जूट धारी थे। ये तथा मन्दिरों में रहने वाले पाशुपत आजकल के वैरागियों जैसे रहे होंगे

---

१. इण्डि० एण्टि०, भाग ११, पृ० २५५-२५६

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

जो सांसारिक जीवन त्याग कर देते थे। परन्तु उसके द्वारा उल्लिखित अन्य पाशुपत-मतावलम्वी संभवतः गृहस्थों का सामान्य जीवन विताते थे। ६१० ई० में सिंहासनारूढ होने वाले तथा ६३० ई० में विद्यमान महाराष्ट्र के पुलकेशिन् द्वितीय के भतीजे नागवर्धन के ताम्र-पत्र में कपालेश्वर (नरकपाल की माला धारण करने वालों के ईश्वर) की पूजा तथा मन्दिर में रहने वाले महाव्रतियों के पोषण के निमित्त नासिक जिले में इगतपुरी के समीप एक ग्राम के दान का उल्लेख मिलता है। बाद में यह प्रदर्शित किया जाएगा कि महाव्रती नाम कापालिकों या कालामुखों का था। इस प्रकार महाराष्ट्र में सातवीं सदी के मध्य कापालिक सम्प्रदाय के विद्यमान होने के साक्ष्य मिलते हैं।[1] राष्ट्रकूट वंशी कृष्ण तृतीय के करहाट दानपत्र में शकाब्द ८८० तदनुसार ६५८ ई० में राजा द्वारा गगनशिव को एक गाँव के दान दिये जाने का उल्लेख है। यह गगनशिव शैव सिद्धान्तों में निष्णात तथा परमतपस्वी था। वह ईशान शिव का शिष्य था जो कि एक आचार्य थे तथा जो करहाटस्थित वल्कलेश्वर मठ के महन्त थे। ये साधुगण और उनके मठ शैव-मत के प्रतीत होते हैं, पाशुपत-मत के नहीं। मैसूर में बारहवीं सदी के उत्तरार्ध में कालामुखों और शैव सम्प्रदायों की विद्यमानता के साक्ष्य अग्रिम खण्ड में प्रस्तुत किए जाएंगे।

यहाँ पर एक अन्य भेद दरसा देना आवश्यक प्रतीत होता है। कादम्बरी में बाणभट्ट ने रक्त-परिधान-धारी पाशुपतों को तारापीड के मंत्री शुकनास के भवन द्वार पर अपने व्यक्तिगत कार्यों के लिए शुकनास की बाट जोह रहे बहुत सारे लोगों के मध्य में स्थित बतलाया है। किन्तु दूसरे स्थान में इन्होंने तारापीड की रानी विलासवती को (महीने के कृष्णपक्ष की) चतुर्दशी के दिन देवाराधन के लिए महाकाल-मन्दिर में जाते हुए चित्रित किया है। मालतीमाधव (तृतीय अङ्क) में भवभूति ने बतलाया है कि मालती अपनी माता के साथ कृष्णपक्ष की चतुर्दशी तिथि के दिन शंकर के मन्दिर में गई थी। यह चतुर्दशी तिथि शिव की विशिष्ट पूजा के निमित्त आज भी एक पवित्र तिथि बनी हुई है। विलासवती, मालती तथा उसकी माता कदाचित् ही उस सम्प्रदाय की रही हों, जिसके अनुयायी रक्त-परिधान धारण कर शुकनास के द्वार पर उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। अतएव यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि शिव के समस्त आराधक उन सम्प्रदायों में से किसी एक विशेष सम्प्रदाय के ही अनुयायी नहीं थे, जिनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। प्राचीन काल से लेकर रुद्र शिव

---

१. जे० बी० बी० आर० ए० एस०, भाग १४, पृ० २६

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

का भारतीयों द्वारा सामान्य रूप से आराधित देव के रूप में विकास शनैः शनैः हुआ और आज भी वे भारतीयों के साधारण देवता बने हुए हैं। जब धार्मिक और दार्शनिक चिन्तनों का उत्कर्ष या अपकर्ष हुआ, तब इन्हीं के साथ साथ मुक्ति के निमित्त विविध मार्गों पर आधारित विभिन्न सम्प्रदायों का उदय हुआ, किन्तु सामान्य जन उन विशिष्ट सम्प्रदायों से सम्बन्ध न रखकर प्राचीन देवता का आश्रय पकड़े रहे। यह उल्लेखनीय है कि इन सम्प्रदायों में एक ओर धर्मोपदेशकों या वैरागियों के तथा दूसरी ओर साधारण अनुयायियों या गृहस्थों के वर्ग रहे होंगे तथा कम से कम कुछ मामलों में तो ह्वेनत्साङ्ग को पाशुपतों से ये साधारण गृहस्थ ही अभिप्रेत हैं एवं करहाट में शैव वैरागियों का एक ऐसा वर्ग भी विद्यमान था जो कि सामान्य गृहस्थ अनुयायियों से भिन्न था, जैसा कि हम देख ही चुके हैं। इस प्रकार शिव के आराधकों की तीन श्रेणियाँ थीं—(१) धर्मोपदेशक या वैरागी, (२) उनके गृहस्थ अनुयायी तथा (३) साधारणजन, जिनका किसी भी सम्प्रदाय से खास सम्बन्ध नहीं था। कालिदास, सुबन्धु, बाण, श्रीहर्ष, भट्टनारायण, भवभूति तथा अनेक अन्य कवियों ने अपनी कृतियों के प्रारम्भ में शिव की वन्दना की है। हो सकता है कि ये किसी एक विशेष सम्प्रदाय के गृहस्थ अनुयायी रहे हों। किन्तु इस बात की पूरी संभावना है कि वे तीसरी श्रेणी के थे। इनमें से सुबन्धु, बाण और भट्टनारायण ने तो आरम्भ में विष्णु के एक रूप हरि की भी वन्दना की है। इस प्रकार यह प्रदर्शित किया गया है कि वे किसी एक या दो देवताओं के अनन्य भक्त नहीं थे। प्राचीन चालुक्यों और राष्ट्रकूटों द्वारा बनवाए गए बहुत से मन्दिरों, विशेषतया राष्ट्रकूटों के एलोरा के कैलाश तथा अन्य गुफा-मन्दिरों का शैव-धर्म की किसी शाखा विशेष से सम्बन्ध नहीं जान पड़ता। अतएव उन्हें सातवीं सदी से लेकर ग्यारहवीं सदी तक महाराष्ट्र में शिव की सामान्य-पूजा के प्रसार का निर्देशक माना जा सकता है।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

२८. शैवसम्प्रदायों के नाम और उनके सिद्धान्त

प्राचीन शैव-सम्प्रदायों का अपना निजी साहित्य था और अब तक है, जिसमें स्वयं शिव द्वारा रचित तथा कथित आगम तथा मानव लेखकों द्वारा लिखित अनेक ग्रन्थ आते हैं। परन्तु यह साहित्य न तो अभी तक प्रकाशित ही हुआ है और इसका अभी तक अन्वेषण भी नहीं किया गया है। अतएव मुझे अनिवार्यरूप से इसके सम्प्रदायों तथा उनके सिद्धान्तों से सम्बन्धित प्रकीर्ण उद्धरणों का आश्रय लेना पड़ा है जो केवल एक उदाहरण के सिवा सम्प्रदाय अनुयायियों द्वारा लिखित ग्रन्थों में प्राप्त नहीं होते। अधिक अर्वाचीन सम्प्रदायों की स्थिति भिन्न है क्योंकि उनका साहित्य हाल ही में उपलब्ध हो चुका है।

शंकर के अनुसार माहेश्वरों का यह मत है कि पशुपति ने पांच विषयों को प्रकाशित किया (ब्र० सू० २.२.३७)। इस प्रकार ये ३० सम्प्रदाय महेश्वर के सामान्य नाम से ख्यात थे तथा पशुपति या भगवान् शिव को इन सम्प्रदायों का संस्थापक माना जाता था। इसी सूत्र में (किन्तु जिसकी संख्या ३५ बतलाई गई है) रामानुज ने इन सम्प्रदायों को पशुपति के सिद्धान्त कहा है। श्रीकण्ठ-शिवाचार्य ने उन्हें 'परमेश्वर द्वारा प्रकाशित आगमों को मानने वाला" कहा है। माहेश्वर एक प्राचीन नाम है जैसा कि इस तथ्य से स्पष्ट है कि विम कदफिसस (जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है) तथा अन्य परवर्ती राजाओं ने विशेष कर वलभी-वंश के नृपतियों ने स्वयं को माहेश्वर कहा है। जैसा हम देख चुके हैं, ह्वेनत्सांग ने भी माहेश्वरों के ऐसे मन्दिरों का उल्लेख किया है जिनमें पाशुपत पूजा करते थे। यह निष्कर्ष भी निकलता है कि ये सम्प्रदाय पाशुपत-सम्प्रदाय के नाम से ख्यात थे। तथा इन सभी के संस्थापक भगवान् पशुपति माने जाते थे।

मैसूर अभिलेखों से भी, जो कि प्रकाशित हो चुके हैं यही निष्कर्ष निकलता है। एकमात्र अन्तर यही है कि इनमें इस सम्प्रदाय के आद्य आचार्य को लकुलिन या लकुलीश कहा गया है। ऊपर निर्दिष्ट ९४३ ई० के अभिलेख में यह बतलाया गया है कि लकुलीश इस बात से डरकर कि कहीं उनके नाम और सिद्धांतों को भुला न दिया जाए, मुनिनाथ चिल्लुक[1] के रूप में अवतरित हुए।

१. एपि० कर्ना०, भाग १२, पृ० ९२ (अनुवाद)

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

यह सभी सम्प्रदायों में लागू किया जाने योग्य एक सामान्य नाम प्रतीत होता है। १०७८ ई० के एक अन्य अभिलेख में संन्यासी को लाकुल सम्प्रदाय का आभूषण तथा एक अन्य को लाकुल सम्प्रदाय का हाथ कहा गया है।[1] यह एक सामान्य नाम जान पड़ता है तथा किसी विशिष्ट सम्प्रदाय का सङ्केतक नहीं है। ११०३ ई० के एक तीसरे अभिलेख में सोमेश्वर-सूरि को लाकुलसिद्धान्त को विकसित करने वाला बतलाया गया है।[2] उन्हें नैयायिक और वैशेषिक कहा गया है। यह सिद्ध करता है कि वह किसी खास पाशुपत-सम्प्रदाय का अनुयायी था। ११६६ ई० के एक चौथे अभिलेख में कतिपय संन्यासियों को लाकुलागम-समय अर्थात् लकुलिन के ग्रन्थ पर आधारित मत का समर्थक तथा कालामुख सम्प्रदाय का अनुयायी बतलाया गया है[3]। यहाँ पर स्पष्टतया कालमुखों को लाकुल कहा गया है, जोकि पाशुपत से अभिन्न है। इस अभिलेख में उल्लिखित नामों का अन्त शवित और जीव शब्दों में होता है जो कि कालामुख सम्प्रदाय की एक विशेषता प्रतीत होती है। ११८३ ई० के पांचवें अभिलेख में नाग-शिव-पण्डित को दान दिए जाने का उल्लेख है तथा उसे लाकुल मत का पोषक कहा गया है। उसकी दो पीढ़ियों के पूर्व के आचार्यों का नाम भी शिवान्त है। उसके आगमों और शिव-तत्त्व में निष्णात होने की प्रशंसा की गई है।[4] इन नामों के शिवप्रत्ययान्त होने से तथा आगम और शिव तत्त्व में

---

१. वही, भाग १, सिकरपुर तालुका, सं० १०७
२. वही, भाग ७, खण्ड १, पृ० ६४ (अनुवाद)
३. वही, भाग ५, खण्ड १, पृ० १३५ (अनुवाद)
४. एपि० कर्ना०, भाग ५, अर्सिकेरे तालुका सं० ८६। एपि० कर्ना०, भाग ५, पृ० ३७, अर्सिकेरे तालुका सं० ६९ में नागराशि नामक एक साधु का उल्लेख है। उसमें नाग-राशि के एक शिष्य नाथ-जति को दिए गए दान का उल्लेख है। नागराशि कालामुख सम्प्रदाय का था और पद्मशिव पण्डित का शिष्य था। अभि० सं० ४८ में एक अन्य नागराशि का उल्लेख है। इस अभिलेख में दानदाता का नाम कल्याणशक्ति है। वह शिवशक्ति देव का शिष्य था, जो स्वयं कालामुख संप्रदाय के नागराशि का शिष्य था। ये दोनों ही नागराशि मुझे ऊपर उल्लिखित नागशिव से भिन्न मालूम पड़ते हैं। यहाँ पर राशि और शक्ति कालामुख संप्रदाय के प्रतीत होते हैं, यद्यपि राशि में अन्त होने वाले नाम पाशुपतों में भी मिलते हैं।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

निष्णातता के उल्लेख से यह प्रतीत होता है कि नागशिव शैव सम्प्रदाय के अनुयायी थे तथा साथ ही वे लाकुल या पाशुपत भी थे। छठे अभिलेख में जो कि ११६९ ई० का है लकुलिन के शास्त्र पर आधारित सम्प्रदाय के पोषक नागराशि के पुत्र बम्मदेव को भूमिदान दिए जाने का उल्लेख है।[1] शिव भक्तों के बहुत सारे नामो में राशि प्रत्यय प्राप्त होता है। यह बात स्पष्ट नहीं है कि क्या यह किसी सम्प्रदाय विशेष का लक्षण है, किन्तु ऐसा लगता है कि इस शब्द से नाम धारण करने वाले लोग पाशुपत या कालमुख सम्प्रदाय के थे। सातवें अभिलेख (१२१३ ई०) में किसी धार्मिक व्यवित को वागि लाकुल (विद्वान् लाकुल के मत) नाम से ख्यात सम्प्रदाय का अनुयायी कहा गया है।[2] आठवें अभिलेख (१२८५ ई०) में दानदाता को लकुलिन के नए सम्प्रदाय का पोषक कहा गया है[3]। यहाँ पर लिङ्गायतों के उत्तर-कालीन सम्प्रदाय का निर्देश है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि लाकुल ऐसा सामान्य नाम था जिसका प्रयोग शैव-सम्प्रदायों के लिये किया गया है तथा विशिष्ट नाम कालामुख को सामान्य नाम के साथ एक उदाहरण में जोड़ दिया गया है। इस सामान्य नाम का आधार एक ऐतिहासिक तथ्य था, जिसका उल्लेख हम उपर कर चुके हैं कि लकुलिन या लकुलीश नामक एक व्यक्ति ने पाञ्चरात्र-मत जैसे एक शैव मत की स्थापना की थी जिसे वायु और लिङ्ग-पुराणों में पाञ्चरात्र मत का समसामयिक माना गया है। दूसरे सामान्य नाम पाशुपत का उदय मानव लकुलिन् के नाम को हटाकर तथा उसके स्थान पर भगवान् पशुपति (जिनका अवतार लकुलिन को माना गया है) का नाम रख देने से हुआ होगा, जैसा कि ऊपर उद्धृत महभारत की पङ्क्तियों में किया गया। किन्तु शैव-सम्प्रदाय का एक मानव संस्थापक था। दूसरी पुष्टि इस तथ्य से होती है कि उसकी कृति का पञ्चाध्यायी या पञ्चार्थविधा नाम परम्परागत रूप से अभी तक चला आ रहा है, जैसा कि इसके बाद तुरन्त सिद्ध किया जाएगा। संभवतः यह कृति विद्यमान है यद्यपि इसे अभी तक खोजा नहीं जा सका। माधव ने इसके भाष्य पर एक टीका का उल्लेख किया है, जिसका

---

१. एपि० कर्ना०, भाग ५, अर्सिकेरे तालुका सं० १०३
२. वही, भाग ५, अर्सिकेरे, तालुका सं० ४६
३. एपि० कर्ना०, अर्सिकेरे तालुका सं० १०३

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

उल्लेख भी हम नीचे करेंगे। अतएव निष्कर्ष यही प्रतीत होता है कि एक निश्चित ऐतिहासिक व्यक्ति प्रधान शैव-सम्प्रदाय का संस्थापक था और यह शैवमत माधव द्वारा नकुलीश-पाशुपत कहा गया शैवमत ही था। आगे चलकर इसी से तीन अन्य सम्प्रदायों का उदय हुआ।

शंकर के टीकाकारों ने बतलाया है कि इन सम्प्रदायों में से चार के नाम शैव, पाशुपत, कारुकसिद्धान्ती तथा कापालिक थे। किन्तु वाचस्पति ने तीसरे को कारुणिक-सिद्धान्ती कहा है। रामानुज और केशव काश्मीरी ने इन्हीं चार सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। परन्तु कारुकसिद्धान्तियों को उन्होंने कालामुख कहा है। कारुक शब्द संभवतः (पुराणों के अनुसार) लकुलीश के चार शिष्यों में से तृतीय शिष्य कारुष्य का अपभ्रंश है अथवा कौरुष्य मूल कारुक नाम का संस्कृत रूप होगा[1]। पांच अर्थों का विवेचन करने वाली, ऊपर निर्दिष्ट पशुपति द्वारा रचित कृति पञ्चाध्यायी का उल्लेख केवल काश्मीरी ने ही किया है तथा काशी खण्ड के भाष्य में इसे रामानन्द[2] ने उद्धृत किया है। यह वही कृति होनी चाहिए जिसे माधव ने लकुलीश-पाशुपत-अध्याय में उद्धृत किया है तथा जिसे उन्होंने नकुलीश या लकुलीश की कृति कहा है।

---

१. इन चार सम्प्रदायों का शिव-पुराण की वायवीय संहिता (२,२४,१७७ में भी उल्लेख है किन्तु शैव-सम्प्रदाय को सिद्धान्त-मार्ग तथा कालामुख को महाव्रतधर कहा गया है।

२. वायवीय संहिता (२,२४,१६९) में भी इस ग्रन्थ का उल्लेख है और इसे पञ्चार्थ कहा गया है। नकुलीश-पाशुपत-खण्ड में माधव ने पञ्चार्थ भाष्यदीपिका का जो उल्लेख किया है उससे पञ्चार्थ का निर्देश मिलता है। जयपुर में सीकर के समीपवर्ती हर्षनाथ मन्दिर के एक अभिलेख में विश्वरूप को पंचार्थलाकुलाम्नाय का आचार्य कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि लकुलीश के ग्रन्थ का नाम पंचार्थ था। अभिलेख की तिथि वि० सं० १०१३ तदनुसार ९५७ ई० है। इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि पाशुपत-मत का प्रवर्तक लकुलिन् नामक व्यक्ति को माना जाता था और उसका ग्रन्थ पंचार्थ कहलाता था (एपि० इण्डि०, भाग २, पृ० १२२)।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

२६. पाशुपत मत

शङ्कर द्वारा उल्लिखित तथा उनके टीकाकारों द्वारा व्याख्यात ५ विषय ये हैं :—

१. कार्य—प्रधान से उत्पन्न महत् इत्यादि,

२. कारण—ईश्वर या महेश्वर और प्रधान,

३. योग—ॐ का जप, ध्यान, समाधि आदि ,

४. विधि—प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल दिन में तीन वार भस्म का लेपन और गूढ़-चर्या आदि

५. दुःखान्त—मोक्ष। माधव ने पाशुपत-दर्शन-खण्ड में इनकी व्याख्या की है।

१. कार्य—कार्य वह है जो स्वतन्त्र नहीं है। यह तीन प्रकार का है : १. विद्या, २. अविद्या और ३. पशु। इनमें विद्या पशु का गुण है तथा वह दो प्रकार की है : १. बोधस्वभावा और २. अबोधस्वभावा। विद्या पुनः दो प्रकार की है। १. व्यक्त और २. अव्यक्त। ज्ञानेन्द्रिय-जनित बोधस्वभावा विद्या चित्त कहलाती है। प्रकाश की सहायता से जिस बाह्य पदार्थ का व्यक्त अथवा अव्यक्त प्रत्यक्ष किया जाता है, उसका सम्यक् ज्ञान चित्त द्वारा ही होता है। अबोधस्वभावा विद्या भी धर्म तथा अधर्म, इन दो रूपों वाली है। ये दोनों पशु के लक्ष्य या प्राप्य हैं। यह विद्या उन नियमों को निर्धारित करती है जिनका पालन जीवों को करना होता है। कलाएं चेतन पशु के अधीन हैं और स्वयं अचेतन हैं। वे दो प्रकार की हैं १. कार्य तथा २. कारण। कार्यभूता कलाएं दस प्रकार की हैं : पृथ्वी आदि पांच तत्त्व तथा रूपादि पांच गुण। कारणभूता कलाएं तेरह प्रकार की है :—पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पांच कर्मेन्द्रियां तथा बुद्धि अहङ्कार और मन ये तीन अव्यक्त कलाएं। इन तीनों के कार्य क्रमशः अध्यवसाय, अभिमान तथा संकल्प हैं। पशु वह है जिसमें पशुत्व हो। यह दो प्रकार का है :—१. मलयुक्त और २. निर्मल। मलयुक्त पशु वह है जो शरीर और कलाओं से सम्बद्ध है जबकि निर्मल पशु उनसे असम्बद्ध रहता है। विस्तारार्थ पंचार्थभाष्यदीपिका तथा अन्य ग्रन्थ देखने चाहिएं।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

२. कारण वह है जिससे समस्त सृष्टि, इसकी समृद्धि या प्रगति का विनाश होता है। यद्यपि यह एक है, फिर भी अपने अनेक गुणों और क्रियाओं के भेदों के कारण यह पति, साद्य आदि अनेक रूपों का हो जाता है। पति होने का अर्थ ज्ञान और क्रिया की असीम शक्तियों से समन्वित होना होता है। अतएव वह शाश्वत शासक है। साद्य का तात्पर्य ऐसी सार्वभौम-शक्ति से समन्वित होना है जो कि आकस्मिक न होकर स्वाभाविक हो।

३. चित्त द्वारा पशु का परमेश्वर से सम्बन्ध जोड़ना योग है। यह दो प्रकार का है :—१. क्रिया-युक्त और २. क्रिया-हीन। क्रिया-युक्त योग में अक्षरों और मन्त्रों का जप तथा ध्यान आदि आते हैं। क्रियाहीन योग मात्र संविद (तत्त्वज्ञान) है।

४. विधि वह क्रिया या विधि है जो धर्म की सिद्धि कराती है। यह दो प्रकार की है :—१. प्रारम्भिक या प्रधान तथा २. गौण या अप्रधान। प्रधानविधि चर्या है जो सीधे धर्म की सिद्धि कराती है। यह चर्या दो प्रकार की है :—१. व्रत तथा २. द्वार या साधन। भस्म से स्नान, भस्म में शयन, उपहार, जप और प्रदक्षिणा ये व्रत हैं। लकुलीश ने यह कहा है :—भस्म से (प्रातः, मध्याह्न, सन्ध्या) तीन समय स्नान करना चाहिए और भस्म में ही शयन करना चाहिए। उपहार (नियम) ६ हैं। सूत्रकार ने हसित, गीत, नृत्य हुडुक्कार, नमस्कार तथा अश्रव्य जप इन ६ को उपहार बतलाया है। उसका कहना है कि इनके द्वारा पूजा करनी चाहिए। कण्ठ और ओष्ठ-पुटों के विस्फूर्जन के साथ हा हा हा इस प्रकार अट्टहास करना हसित है। संगीत-विद्या के नियमों के अनुसार महेश्वर के गुणों का गान करना गीत है। नाट्यशास्त्र के नियमों के अनुसार हाव-भाव-पूर्वक कर, चरण आदि एवं अंग प्रत्यंग तथा उपांगों के विक्षेपण आदि द्वारा नृत्य करना चाहिये। हुडुक्कार वह पुण्यप्रद शब्द है जो कि जिह्वा और तालु के संयोग से उदित होता है और वृषभ के नाद के समान होता है। हुडुक्क वास्तव में वषट् की तरह की ध्वनि है जहाँ पर लोग उपस्थित हों वहाँ पर इन सबका प्रयोग गुप्त रूप से करना चाहिए।

साधन या द्वार ये है :—१. क्राथन अर्थात् जागृत दशा में निद्रित जैसा बन जाना, २. स्पन्दन अर्थात् अंगों को इस प्रकार हिलाना या कंपाना जैसे कि पक्षाघात ग्रस्त हो गए हों, ३. मन्दन अर्थात् इस प्रकार से चलना जैसे कि चरण आदि अवयव बेकार हो गए हों, ४. श्रृंगारण अर्थात् किसी सुन्दरी

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

युवा नारी को देखने पर कामुक के समान हाव-भावों द्वारा स्वयं को प्रेमासक्त रूप में दिखलाना, ५. अवितत्करण—यह सभी लोगों द्वारा निन्दित कार्यों को इस रूप में करना है जैसे कि करणीय तथा अकरणीय के मध्य भेद करने की बुद्धि ही न रह गई हो तथा ६. अवितद्-भाषण अर्थात् परस्पर-विरुद्ध तथा निरर्थक बातें करना।

गौण या सहायक विधियां वे हैं जो पूजा के उपरान्त (शरीर पर) भस्म के लेपन तथा भिक्षा मांगने और दूसरों के उच्छिष्ट भोजन करने के साथ जुड़ी तुच्छता और अपवित्रता के भाव को हटाने जैसी चर्याओं की सहायता के लिए अभिप्रेत हैं। इस उद्देश्य के निमित्त सूत्रकार ने यह निर्धारित किया है कि उसे पूजोपरान्त अपने शरीर में भस्म का लेप करना चाहिए तथा उसे देवता से हटाये गए मुरझाये हुए फूल पत्तियाँ एवं लिङ्ग धारण करने चाहिएँ।

५. दुःखान्त—दुःख का अन्त दो प्रकार का होता है :—

(१) दुःख का ऐकान्तिक या पूर्ण क्षय

(२) ज्ञान तथा क्रिया शक्ति से युक्त ऐश्वर्यमयी स्थिति।

ज्ञान शक्ति पांच प्रकार की है :—

(१) दर्शन या ऐसी समस्त वस्तुओं को देखना जो अणु हैं, तिरोहित हैं, दूरस्थ हैं तथा उनका स्पर्शादि ज्ञान,

(२) श्रवण—समस्त शब्दों का सिद्धि ज्ञान,

(३) मनन—अर्थात् समस्त चिन्त्य पदार्थों का अद्भुत ज्ञान,

(४) विज्ञान—अर्थात् समस्त विद्याओं का ग्रंथों तथा ग्रंथों में विद्यमान विषयों सहित अद्भुत ज्ञान,

(५) सर्वसत्त्व—या गुरु के द्वारा उपदिष्ट तथा अनुपदिष्ट समस्त और व्यस्त सभी विषयों का उनके विभाग और विशेषताओं सहित तत्त्व के रूप में सम्बद्ध और सदा-प्रकाशित तत्त्व ज्ञान।

वर्तमान सम्प्रदाय की जो विशेषताएं हैं वे ये हैं :—जहाँ अन्य मतों में दुःख का विनाश ही मोक्ष है वहीं इस मत में इसमें परम शक्तियों की उपलब्धि को भी जोड़ दिया गया है। दूसरे मतों में जो असद् से उत्पन्न होता है वह कार्य है किन्तु इस मत में कार्य नित्य है, जैसे पशु या जीवात्मा। अन्य मतों में कारण को अपने कारणत्व के लिए सहायक कारण की अपेक्षा रहती है किन्तु यहाँ महेश्वर स्वतन्त्र रूप से कार्य करते हैं। अन्य मतों में योग या समाधि का काम पूर्ण-स्थिति की प्राप्ति है किन्तु यहां पर इसका फल परम शक्तियों की उपलब्धि है। पुनश्च अन्य सम्प्रदायों में विधि का फल

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

स्वर्ग आदि लोक हैं जहाँ से पुनः मर्त्य-लोक में लौटना पड़ता है, इस मत में विधि का फल सान्निध्य आदि है, जहां से पुनः लौटना नहीं होता।

क्रियाशक्ति यद्यपि एक ही है किन्तु इसे त्रिविध माना गया है: १. मनोजवित्व—किसी भी कार्य को उसी क्षण में कर डालना, २. कामरूपित्व—बिना किसी प्रयत्न के विभिन्न प्रकार के रूप, आकार, शरीर या इन्द्रियों को ग्रहण करने की शक्ति तथा ३. विकरणधर्मित्व—इन्द्रिय-व्यापारों के निरुद्ध हो जाने पर भी निरतिशय ऐश्वर्य से सम्पन्न रहना। इस प्रकार मनुष्य को पाशुपतसम्प्रदाय द्वारा निर्धारित आचरण और संयम की लम्बी चर्या के अन्त में ज्ञान और क्रिया की अद्भुत शक्तियां प्राप्त हो जाती हैं। यह स्पष्ट है कि परम स्थिति की प्राप्ति के निमित्त इस सम्प्रदाय में निर्धारित विधियाँ कितनी अपरूप और विलक्षण हैं। रुद्र-शिव मानव-आवास-स्थलों से दूर खुले क्षेत्रों तथा जंगली और भयावह प्रदेशों के देवता थे तथा उच्छृंखल या अमर्यादित लोग उनकी पूजा करते थे। उनको प्रसन्न करने के लिए आगे चलकर जिस पूजा-पद्धति का विकास हुआ उस पर रुद्र-शिव के इस स्वरूप का प्रभाव पड़ा। श्वेताश्वतर-उपनिषद् ने रुद्र-शिव के मानवीकरण का प्रयत्न किया किन्तु उनका अशिष्ट और जंगली स्वरूप प्रचलित बना रहा। अब हम शैव सम्प्रदाय का विचार करेंगे जो बाद में प्रतिष्ठापित किया हुआ प्रतीत होता है। यहाँ पर भी माधव ही हमारे प्रधान मार्ग-दर्शक रहेंगे, क्योंकि वे बहुत सारी कृतियां अब प्राप्त नहीं है, जिनका उल्लेख उन्होंने किया है।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

३०. शैवसिद्धान्त

तत्त्व तीन हैं :—१. पति २. पशु या जीवात्मा तथा ३. पाश या बन्धन। समस्त शैव सिद्धान्त विद्या, क्रिया, योग और चर्या इन ४ पादों या भागों में विभक्त है। प्रथम पाद में पशु (जीवात्मा) पाश और ईश्वर के स्वरूप का विवेचन किया गया है तथा इसमें मन्त्र और मन्त्रेश्वर के महत्त्व का निर्धारण किया गया है। द्वितीय भाग या पाद में दीक्षा विधि की व्याख्या है जिसके अनेक रूप हैं तथा अनेक अंग हैं। तृतीय पाद में अङ्गीभूत प्रक्रियाओं सहित योग का वर्णन है। चतुर्थ पाद में जो विहित है उसे करने तथा जो अविहित है उसे न करने के रूप में जो आचरण है उसका उपदेश है। इसके बिना योग सम्भव नहीं है।

१. पति—

पति शिव हैं। वे जीवात्माओं के कर्मों से प्रेरित होकर क्रियाशील होते हैं तथा भोग्य पदार्थों और उनके साधनों को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार उनकी सर्जन-शक्ति का प्रयोग मनुष्य के कर्मों पर आधारित है। वे सब कुछ करते हैं अतएव वे सर्वज्ञ हैं। ईश्वर का शरीर मानव-शरीर की भाँति मल और कर्म आदि पाशों से युक्त न होकर शक्तियों से निर्मित होता है। किन्हीं ५ विशेष मन्त्रों को उनके शरीर के विभिन्न अवयवों के रूप में माना जाता है।[1] ये पांचों उनकी शक्तियाँ हैं तथा इन्हें उनके विभिन्न रूप भी माना

१. ये पांच मन्त्र तै० आ० (१०,४३-४७) और महानारायणीय उप० (१७) में हैं। टीकाकार ने इन्हें शिव के सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान नामक पांच मुख बतलाया है। उन्हें शिव के पांच रूप भी कहा गया है। हेमाद्रि (दानखण्ड, भाग १, पृ० ७८९-७९२ बिब्लि० इण्डि०) ने एक विशेष दान का उल्लेख किया है, जिसमें शिव के इन पांच रूपों को सोने या अन्य धातुओं की बनी मूर्तियों के दान देने का वर्णन है। प्रत्येक को देते समय एक श्लोक पढ़ा जाता है। एक शैव ग्रन्थ ने इन पांच रूपों को क्रमशः पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश से अभिन्न बतलाया है। एक अन्य ग्रन्थ वीरशैवचिन्तामणि (शोलापुर १९०८) में उन पांच रूपों को इन तत्त्वों का स्रष्टा कहा गया है।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

जाता है तथा इन्हीं के द्वारा वे पांच कर्म करते हैं जो कि सर्जन, पालन, संहार, आवरण और प्रसाद हैं। शिव के निम्नलिखित ४ अङ्ग हैं—१. मन्त्र, २. मन्त्रेश्वर ३. महेश्वर एवं ४. मुक्त।

पशु —

पशु जीवात्मा है, जो अणु या सूक्ष्म है तथा क्षेत्रज्ञ आदि नामों से ख्यात है। यह नित्य और सर्वव्यापी है। यह क्रिया में असमर्थ नहीं है और न केवल एक है, जैसाकि इसे दर्शन की अन्य शाखाओं ने माना है। पाशों के निवारण के उपरान्त वह नित्य और असीम ज्ञान एवं क्रिया की शक्तियों से समन्वित शिव बन जाता है। मुक्त जीव शिव हैं, जो कि नित्यमुक्त और पांच अक्षरों के शरीर वाले शिव की अनुकम्पा से मुक्त होते हैं। यद्यपि ये शिव हो जाते हैं किन्तु वे स्वतन्त्र नहीं होते, अपि तु नित्य देव शिव के अधीन रहते हैं। पशु तीन प्रकार के हैं—

१. विज्ञानाकल :—जिसने ज्ञान, ध्यान, तप या भोग द्वारा कृत कर्मों के संस्कारों के क्षय के परिणाम स्वरूप समस्त कलाओं से अपना सम्बन्धविच्छेद कर लिया है[1] तथा जिसमें मलमात्र शेष रह गए हैं,

२. प्रलयाकल :—दूसरा पशु प्रलयाकल है। इसकी कलाओं का क्षय जगत् के प्रलय द्वारा हो चुका है। उसमें कर्म के संस्कार और मल दोनों ही रहते हैं।

३. तीसरा सकल है, जिसमें मल, कर्म तथा माया ये तीनों ही पाश हैं।

विज्ञानाकल पशु दो प्रकार का होता है :—

(१) ऐसा जिसके कलुष का अन्त हो चुका है,

(२) जिसके कलुष का अन्त नहीं हुआ है। पहली श्रेणी के विज्ञानाकल पशु वे हैं जिनके कलुषों का अन्त हो जाने से उन्हें विद्येश्वरों की स्थिति पर पहुँचा दिया जाता है। वे विद्येश्वर ८ हैं तथा निम्नलिखित है :—१ अनन्त, २. अणु या सूक्ष्म, ३. शिवोत्तम ४. एकनेत्र, ५. एकरुद्र, ६. त्रिमूर्ति, ७. श्रीकण्ठ एवं ८. शिखण्डी।

एक अन्य लेखक कहता है कि शिव समाप्तकलुष (जिनके कलुष समाप्त हो गए हैं) पशुओं को विद्येशत्व से विभूषित करता है जो आठ प्रकार के हैं तथा असमाप्त कलुषों (जिनके कलुषों का अन्त नहीं हुआ है ऐसे) को वह मन्त्रों की महिमा पर पहुँचा देता है जो कि संख्या में सात करोड़ हैं।

१. द्रष्टव्य पूर्ववर्ती खण्ड

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

प्रलयाकल पशु भी दो प्रकार के हैं। पहला वह है जिसके दोनों पाश परिपक्व हो चुके हैं (और लगभग टूटने ही वाले हैं) तथा दूसरा इससे भिन्न है। पहले को तो मोक्ष प्राप्त होता है किन्तु दूसरे को पुर्यष्टक से संश्लिष्ट होकर अपने कर्म-संस्कारों के अनुसार अनेक जन्मों में जाना होता है। पुर्यष्टक एक सूक्ष्मशरीर है जो कि ऐसे तत्त्वों से वना है जिनकी संख्या भिन्न भिन्न प्रकार से दी गई है। पुर्यष्टक-युक्त पशुओं में पुण्यवान पशु हैं महेश्वर अनन्त उन्हें भुवन- पतित्व प्रदान करते हैं।

सकल पशु भी दो प्रकार का है १. ऐसा पशु जिसका कलुष परिपक्व हो चुका है तथा २. ऐसा पशु जिसके कलुष का परिपाक नहीं हुआ है। प्रथम को १११८ मन्त्रों अर्थात् अनेक प्रकार के मन्त्रों का मन्त्रेश्वर बना दिया जाता है। उसके आचार्य का रूप ग्रहण करके परमेश्वर दीक्षा-प्रक्रिया द्वारा तथा परिपक्व कलुष के प्रतिरोध के लिए अभीप्सित शक्ति के द्वारा उसे मोक्ष प्रदान करता है। जिनके कलुषों का परिपाक नहीं हुआ है ऐसे अणु या जीवात्मा को अपने कर्मों के अनुसार परमेश्वर भोग भोगने में लगाए रहता है।

३. पाश—

पाश चार प्रकार के हैं : १. मल, २. कर्म या कर्मों के संस्कार, ३. माया और ४. रोधशक्ति। मल वह पाश है जो आत्मा की ज्ञान और क्रिया-शक्तियों को तिरोहित कर देती है तथा तण्डुल के ऊपर की भूसी या छिलके जैसी (तुषतण्डुलवत्) है। फल की प्राप्ति के दृष्टिकोण से किए गए कर्मों के संस्कार कर्म पाश हैं, जिनमें धर्म और अधर्म दोनों ही आते हैं। वे बीज और अङ्कुर के समान अनादि तथा प्रवाह के रूप में चले आ रहे हैं। माया वह पाश है जिसमें प्रलयकाल में समस्त सृष्टि का उपसंहरण हो जाता है। (मा) तथा सर्जनकाल में जिससे समस्त सृष्टि आयत होती है। रोधशक्ति शिव की शक्ति है। चूंकि यह तीन अन्य पाशों को नियन्त्रित करती हुई पशु के यथार्थ स्वरूप को तिरोहित करती है अतः यह स्वयं भी पाश कहलाती है। यह अपना कार्य सम्पादित करती है। यह वाक्य शक्ति है जिसके द्वारा वस्तुओं का नामकरण किया जाता है और इस प्रकार उनका स्वरूप निर्धारित किया जाता है।[1]

यह इस सम्प्रदाय का प्रथम भाग (विद्यापाद) है, अन्य तीन भागों के स्वरूप का वर्णन ऊपर संक्षेप में दिया जा चुका है। इसके कतिपय विवरण ये हैं[2]—द्वितीय भाग (क्रियापाद) में मन्त्र-सिद्धि, सन्ध्योपासना, पूजा, जप,

---

१. शम्भुदेव, शैवसिद्धान्तदीपिका, शोलापुर १९०९

२. इसी ग्रन्थ से

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

हवन, शाश्वत ग्रानन्द की प्राप्ति के निमित्त नैमित्तिक कर्म, ग्राचार्य ग्रौर साधक का ग्रभिषेक तथा व्यक्ति को ग्रपने ग्रभ्युदय ग्रौर निःश्रेयस के लिए ग्रावश्यक दीक्षा विधान का वर्णन है। तृतीय भाग या योग पाद में छत्तीस तत्त्वों, इन तत्त्वों के ग्रधिष्ठाता देवों, विभिन्न लोकों के पतियों, पशु, सर्वेश्वर, ग्रात्मा शक्ति, जगत् की कारणभूता माया ग्रौर महामाया का प्रत्यक्षीकरण, सांसारिकता में पड़े लोगों के लिए सूक्ष्मता, लघुता ग्रादि ग्रद्भुत शक्तियों की उपलब्धि, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि तथा शरीर में मूलाधार या नाभि से प्रारम्भ होने वाले चक्रों की स्थितियों का उल्लेख किया गया है। चतुर्थ पाद (चर्यापाद) में तपों, पवित्रारोपण, प्रतिष्ठा, शिवलिङ्गों के स्वरूप, उमा ग्रौर महेश्वर के दृश्य लिङ्ग, स्कन्द, नन्दी जैसे गणों के ग्रधिपतियों मन्त्रों के जप के लिए प्रयुक्त होने वाली चर्या तथा मृतक श्राद्धों का वर्णन है। यह ग्रन्तिम भाग द्वितीय भाग या क्रिया-पाद में विहित क्रियाग्रों के सहकारी तथा प्रकाशक विषयों का समावेश करने वाला प्रतीत होता है। ऊपर उल्लिखित प्रतिषिद्ध कर्म ये हैं—

१. ग्रन्य देवता को निवेदित किए हुए प्रसाद का भक्षण, २. ग्र—शिव, ग्रा—शिव-भक्त, ३. शैव-मत, ३. शैव मत में विहित क्रियाग्रों की निन्दा, ४. ईश्वर की वस्तुग्रों का उपयोग तथा ५. पशुग्रों का वध

शैव-सम्प्रदाय के सिद्धान्त पाशुपत सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की ग्रपेक्षा ग्रधिक संयत ग्रौर तर्क-संगत हैं। पाशुपत सम्प्रदाय तथा ग्रागे उल्लेख्य दो ग्रतिशय वादी सम्प्रदायों को ग्रतिमार्गिक (या मार्ग से दूर) कहा गया है तथा ऊपर उद्धृत ग्रनुच्छेद में शम्भुदेव ने इन्हें रुद्र द्वारा प्रकाशित बतलाया है। शैव-सम्प्रदाय को उन्होंने सिद्धान्तशास्त्र या मन्त्रों पर ग्राधारित सच्चा शास्त्र कहा है तथा बतलाया है कि उसे शिव ने प्रकाशित किया था। वायवीय संहिता में भी इसे सिद्धान्त-सम्प्रदाय कहा गया है। यह ध्यान देने की बात है कि शैव तथा पाशुपत दोनों ही सम्प्रदाय द्वैतवादी हैं तथा इनकी यह धारणा है कि परमात्मा ग्रौर जीवात्मा दो पृथक् सत्ताएं हैं तथा प्रधान जड़ जगत् का उपादान कारण हैं। मुक्तावस्था में जीवात्मा ग्रज्ञान ग्रौर दुर्बलता से मुक्त हो जाती है तथा पाशुपत-सिद्धान्त के ग्रनुसार ग्रसीम ग्रानन्द ग्रौर क्रिया-शक्ति को प्राप्त कर लेती है, जबकि शैवों की यह मान्यता है कि वह तो स्वयं शिव बन जाता है, ग्रर्थात् भगवान शिव से उसे पूर्ण सादृश्य प्राप्त हो जाता है लेकिन सर्जन-शक्ति से वह सम्पन्न नहीं हो पाता।

परवर्ती काल में जिस शैव सम्प्रदाय का विकास हुग्रा तथा इसके बाद

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

उल्लेख्य शम्भुदेव और श्रीकण्ठ शिवाचार्य ने जिसका वर्णन किया है एवं वायवीय संहिता की पंक्तियों द्वारा जो अनुमोदित है, उसकी मान्यता है कि शिव, जीवात्मा एवं जड़ जगत् के मूल तत्त्वों वाली शक्ति से संपन्न हैं तथा इसी शक्ति से समस्त जगत् का विकास हुआ है। क्योंकि शक्तिविशिष्ट शिव द्वारा सृष्टि की जाती है अतः हम इसे रामानुज के दर्शन की भांति विशिष्टाद्वैतवाद कह सकते हैं। शक्ति-विशिष्ट-शिव द्वारा सृष्टि रचना लिङ्गायत-सम्प्रदाय का भी सिद्धान्त है।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

३१. कापाल या कालामुख सम्प्रदाय

२.२.३५ या ३६ ब्रह्मसूत्र के भाष्य में रामानुज ने हमें यह बतलाया है कि कापालिकों की यह धारणा है कि छः मुद्रिकाओं के तत्त्व को जानने वाला और उनके प्रयोग में निष्णात व्यक्ति भगासन पर आसीन आत्मा पर अपने मन को एकाग्र करके परम आनन्द को प्राप्त करता है। ये छः मुद्रिकाएं ये हैं :—१. कण्ठिका, २. रुचक, ३. कुण्डल ४ शिखामणि ५. भस्म तथा ६. यज्ञोपवीत। जिसके शरीर में ये मुद्रिकाएं धारण की जाती हैं वह आवागमन चक्र से मुक्त हो जाता है। कालामुखों की यह धारणा है कि ऐहलौकिक और पारलौकिक इच्छाओं की पूर्ति के उपाय निम्नलिखित हैं—

१. नर-कपाल में भोजन करना,
२. मृत-शरीर की भस्म का शरीर पर लेप करना,
३. भस्म का भक्षण करना,
४. लगुड़ धारण करना,
५. सुरा-पात्र रखना तथा
६. सुरा-पात्र में स्थित देवता की पूजा करना,

रुद्राक्ष-माला, शिर पर जटा-जूट, नरकपाल, भस्म का शरीर में लेपन तथा ऐसी ही अन्य बातों का उल्लेख शैव-शास्त्रों में है। उनकी यह भी मान्यता है कि अन्य जातियों के लोग कतिपय विधानों के करने से ब्राह्मण हो जाते हैं तथा उत्तम स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं, क्योंकि साधारण दीक्षा-विधान के सद्यः उपरान्त व्यक्ति ब्राह्मण बन जाता है तथा कापालिक व्रत धारण करके पवित्र सन्त हो जाता है।

शंकरदिग्विजय (अध्याय १५, श्लोक १-२८) में माधव ने एक ऐसे स्थान में, जो कि टीकाकार के अनुसार उज्जयिनी था, शंकर को कापालिकों से मिलाया है। इस सम्प्रदाय के आचार्य शंकर से मिलने के लिए आए। उनका शरीर श्मशान-भूमि से गृहीत भस्म से लिप्त था। उनके कर में एक नर-मुण्ड तथा एक लौह-यष्टि थी। इन्होंने शंकर से कहा : तुम्हारे शरीर

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

पर भस्म तो सर्वथा उपयुक्त है[1] किन्तु तुम पवित्र नर-कपाल की जगह अपवित्र मृत्पात्र क्यों लिए हुए हो ? तुम कपाली भैरव की पूजा क्यों नहीं करते ? भैरव भला तब तक कैसे प्रसन्न होंगे जब तक मानव-रक्त और सुरा से रञ्जित नर-कपाल से उनकी पूजा नहीं की जाती ? तदुपरान्त शंकर की दिग्विजय-यात्राओं में साथ गए हुए राजा सुधन्वा और कापालिकों के बीच युद्ध हुआ। शंकर ने भी उन्हें शाप दिया और वे सभी मारे गए। तब कापालिकों के प्रमुख क्रकच ने शंकर के पास आकर अपने हाथ में लिए हुए कपाल को सुरा से भरा, इसका आधा भाग तो स्वयं पी लिया तथा आधा भाग छोड़कर भैरव का आह्वान किया। भैरव वहाँ पर आए और क्रकच ने उनसे अपने शत्रुओं का नाश करने की प्रार्थना की किन्तु क्योंकि शंकर तो स्वयं भैरव के ही अवतार थे अतः भैरव ने शंकर का नाश न करके स्वयं क्रकच को ही नष्ट कर दिया। आनन्दगिरि की पुस्तक में कापालिक—जिनसे शंकर उज्जयिनी में मिले थे—भैरव को महान् देवता कहते हैं जो कि सर्जन, संहरण आदि करते हैं। वे सुरापान तथा एक विशेष प्रकार के भोजन (सम्भवतः घृणित पदार्थ) द्वारा अपनी ज्ञान-शक्ति के तीक्ष्ण होने तथा सदैव कपाली की शक्ति अर्थात् भैरवी द्वारा आलिङ्गित रहने की बात करते हैं। मालती-माधव[2] में भवभूति ने श्रीशैल को कापालिकों का प्रधान पीठ बतलाया है। उन्हें योग-क्रियाओं से प्राप्त तीव्र गति आदि की अदभुत शक्तियों से समन्वित बतलाया गया है। कपाल कुण्डला नाम की नारी नर-कपालों की माला धारण करती है। वह नाटक की नायिका मालती को उस स्थान से उठा ले जाती है जहाँ वह अपने पिता के प्रासाद में आधी रात गए सो रही थी और अपने आचार्य अघोर-घण्ट द्वारा देवी के आगे मारे जाने तथा बलिदान किए जाने के लिए उसे श्मशान के समीप कराला-चामुण्डा की प्रतिमा के आगे रख देती है।

यह स्पष्ट है कि यह सम्प्रदाय कितना भयंकर और आसुर था। मानव-मस्तिष्क में प्रकृति के अनेक बाह्य-स्वरूपों द्वारा संचारित भय से ही रुद्र-सम्बन्धी वैदिक धारणा का उदय हुआ था, जिसका विकास या परिवर्धन नर-कपाल-धारी तथा नर-बलि एवं सुरा द्वारा प्रसन्न होने वाले चण्डिका नाम की पत्नी के सहित उग्रदेव भैरव की आदर्श कल्पना के रूप में हुआ। अभी अभी दिए गए विवरण में कापालिक और कालामुख सम्प्रदायों के बीच कुछ

---

१. सामान्य शैव भी अपने शरीर पर भस्म-रेखा धारण करते हैं। शंकर के शरीर पर भी वैसी ही रेखाएं थीं

२. मालती-माधव (मेरा द्वितीय संस्करण) प्रथम अंक, पृ० ३३

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

सम्भ्रम सा दिखता है। रामानुज के विवरण से कालामुख अत्यन्त अतिवादी सम्प्रदाय जान पड़ता है तथा उन्हें शिव-पुराण में जैसाकि ऊपर देखा जा चुका है महाव्रतधर कहा गया है। महाव्रत का अर्थ कोई बड़ा व्रत है। व्रत की महत्ता का अर्थ व्रत का असाधारण स्वरूप वाला होना है, जैसे कि नर-कपाल में रखे हुए भोजन को करना, मृत शरीर की भस्म का लेपन शरीर में करना तथा अन्य जिनका उल्लेख रामानुज ने कालामुखों के प्रसङ्ग में किया है। किन्तु मालती-माधव के टीकाकार जगद्धर ने कापालिक व्रत शब्द का व्याख्यान महाव्रत कह कर किया है जो कि ठीक लगता है क्योंकि नासिक जिले के कपालेश्वर मन्दिर में रहने वाले साधुओं को दानपत्र में महाव्रती कहा गया है। ऊपर कापालिकों का जो विवरण अन्य साक्ष्यों से दिया गया है वह अत्यन्त अतिवादी सम्प्रदायों का प्रतीत होता है।

अतएव साधारण रूप में लोग कापालिकों और कालामुखों के मध्य कोई बड़ा अन्तर नहीं करते, ऐसा प्रतीत होता है।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

३२. काश्मीरी शैव धर्म

मानव-बुद्धि और भावना की उच्छृंखल पथभ्रष्टता के इस दारुण चित्र से अधिक मानवीय तथा तर्क सङ्गत शैव-सम्प्रदाय की ओर मुड़ने में एक राहत सी मिलती है। काश्मीरी शैवधर्म की स्पन्दशास्त्र तथा प्रत्यभिज्ञाशास्त्र नामक दो शाखाएं हैं। प्रथम शाखा के कर्ता वसुगुप्त और उनके शिष्य कल्लट कहे गए हैं। इस शाखा के दो प्रमुख ग्रन्थ शिवसूत्रम् या शिवसूत्राणि तथा स्पन्दन-कारिकाएं हैं, जिसमें केवल इक्यावन कारिकाएं ही हैं। प्रथम ग्रन्थ वसुगुप्त को स्वयं शिव द्वारा या किसी सिद्ध द्वारा प्रकाशित किया गया बतलाया जाता है। ये सूत्र महादेव-पर्वत की एक शिला पर उत्कीर्ण थे और शिव ने वसुगुप्त को शिला दिखलाई थी। एक दूसरा विवरण यह है कि इनका प्रकाशन स्वप्न में ईश्वर ने किया था तथा एक तीसरे विवरण में इनके प्रकाशन का श्रेय एक बार पुनः किसी सिद्ध पुरुष को दिया गया है। इन अन्तिम दो घटनाओं को महादेव-पर्वत में घटित बतलाया गया है। द्वितीय ग्रन्थ के सम्बन्ध में भी परस्पर-भिन्न परम्पराएं प्राप्त होती हैं। एक में कारिकाओं का रचयिता वसुगुप्त को माना गया है तथा दूसरी में कल्लट को। किन्तु यह तीसरी परम्परा कुछ सत्य प्रतीत होती है कि कल्लट को इस मत का ज्ञान वसुगुप्त से प्राप्त हुआ और उन्होंने अपने शिष्यों की शिक्षा के लिए इन कारिकाओं की रचना की। यह कह सकना कठिन है कि शिव-सूत्र सम्बन्धी इस घुमावदार परम्पर का, जिसमें वसुगुप्त को सीधे उनका कर्ता नहीं कहा गया, अर्थ क्या है? सम्भवत: मूल कृति स्पन्दन-कारिका थी तथा शिवसूत्रों का गद्य बाद में पुरानी या पुरातन-पन्थी शैली में लिखा गया और क्योंकि वसुगुप्त इन सूत्रों के रचना-काल के आसपास हुए होंगे एवं लोगों में अपने कार्यों के कारण प्रसिद्ध हो गए होंगे अतएव लोग इन नए सूत्रों की अद्भुत उत्पत्ति को मानने लगे और वसुगुप्त को स्वयं उनका रचयिता न मानकर किसी अन्य से प्राप्त करने वाला मानने लगे।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

कल्लट ८५४ ई० के अवन्तिवर्मन्[1] के शासन-काल में हुए थे। अतएव उनके गुरु की साहित्यिक सक्रियता का समय नवम शतक के प्रारम्भ में रखा जा सकता है। इस मत के अनुयायी जगत् की रचना के निमित्त ईश्वर के लिए कर्म जैसे किसी प्रेरक कारण या प्रधान जैसे किसी उपादान कारण की आवश्यकता का दृढ़तापूर्वक खण्डन करते हैं। वे न तो यह स्वीकार करते हैं कि ईश्वर स्वयं उपादान-कारण है, जैसी कि वेदान्त सूत्रों की मान्यता है और न ही वे यह सोचते हैं कि माया या भ्रम जैसे किसी तत्त्व से असत्प्रतीतियों का जन्म होता है. उनके अनुसार ईश्वर स्वतन्त्र है तथा वह केवल अपनी इच्छा-शक्ति द्वारा ही सब रचता है, जो कि अस्तित्व में आता है। वह स्वयं में जगत् को इस तरह प्रतिभासित करता है, जैसे कि जगत् उससे भिन्न हो, यद्यपि वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। जैसे कि भवन और नगर दर्पण में प्रतिबिम्बित होते हैं किन्तु दर्पण उनसे प्रतिविम्वित नहीं होता, इसी प्रकार स्वयं में प्रतिभासित जगत् से ईश्वर अप्रभावित रहता है। न ही वह केवल उस रूप में ही विद्यमान है, जैसा कि जगत् में उसका अनुभव किया जाता है। इस सिद्धान्त से निकला हुआ निष्कर्ष यह है कि वह जगत् का उपादान कारण नहीं है। एक श्लोक में, जिसे वसुगुप्त का बतलाया गया है, शूलिन् या शिव की वन्दना की गई है तथा इन्हें बिना किसी भित्ति (आधार) के और बिना किसी उपकरण-समूह के जगत् का चित्र तैयार करने वाला कहा गया है।[2]

उपादान और प्रयोजक कारण के बिना सृष्टि का उन्होंने जो दूसरा उदाहरण दिया है वह एक योगी का है जो कि बिना किसी सामग्री के मात्र संकल्प से वस्तुओं को रचता है। स्वयं महेश्वर अपनी अद्भुत शक्ति से अनेक जीवात्माओं के रूप में प्रकट होते हैं तथा अन्य शक्ति द्वारा वे उन वस्तु-स्थितियों को अस्तित्व में लाते हैं, जिनसे हमारे जीवन की जाग्रत तथा स्वप्न अवस्थाएं बनती हैं।[3] इस प्रकार इस मत के अनुसार जीवात्मा परमात्मा से अभिन्न है। किन्तु मल के कारण जीवात्मा इस अभेद का दर्शन नहीं कर पाता। यह मल तीन प्रकार का है।

---

१. बूहलर, रिपोर्ट ऑफ ए टूर मेड इन कश्मीर, पृ० ७८

२. माधव, सर्वदर्शन संग्रह, प्रत्यभिज्ञादर्शन। यह श्लोक काव्यप्रकाश के चौथे उल्लास में भी है। अलंकार शास्त्र के अन्य आचार्यों द्वारा भी यह उद्धृत है।

३. द्रष्टव्य मेरी "रिपोर्ट ऑन दि सर्च फॉर संस्कृत मैन्यूस्क्रिप्ट्स", १८८३-८४, पृ० ८०, पादटिप्पणी १

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

(१) जब जीवात्मा अपने मुक्त और विश्वव्यापी स्वरूप को अज्ञान के कारण भूल कर स्वयं को अपूर्ण मानने लगता है तथा शरीर जैसी वस्तुओं को, जो आत्मा नहीं हैं, आत्मा मानता है और इस प्रकार स्वयं को घटाकर परिमित कर देता है या सीमाओं में बंध जाता है, तब यह मल आणव मल कहलाता है।

(२) माया—जोकि पदार्थों को रचती है—द्वारा रचित शरीर में उसका रहना ही मायीय नामक अन्य मल है।

(३) जब अन्तःकरण या चित्त के प्रभाव से कर्मेन्द्रियां सक्रिय हो उठती हैं, तो इससे उद्भूत मल को कर्म-मल कहते हैं। उदाहरणार्थ अन्त में सुख या दुःख देने वाले अच्छे या बुरे कर्म करने का मनुष्य का अहम्भाव।[1] इन अनेक प्रकार के मलों को नाद द्वारा सक्रिय किया जाता है जो कि शिव की आद्या शक्ति के रूप में एक नारी-तत्त्व है तथा जिसमे वाक् का उदय होता है। वाक् के बिना वे विचार, जो लोक-व्यापार को सम्भव बनाते हैं, न तो स्थिर ही रह सकते हैं और न ही कोई निश्चित स्वरूप ग्रहण कर सकते हैं। इस लिए वाक् तत्त्व को मल का प्रभव माना जाता है जो सांसारिक जीवन में पहुँचाने वाला है। इस शक्ति के साथ अम्बा, वामा, रौद्री, ज्येष्ठा जैसी अन्य शक्तियां भी सम्बद्ध हैं।[2] गहन ध्यान द्वारा जब भक्त के चित्त में परम-सत्ता का दर्शन होता है तथा समस्त सीमित चिन्तन विलीन हो जाते हैं तब यह मल तिरोहित हो जाता है। जब यह स्थिति स्थिर हो जाती है तब जीवात्मा स्वतन्त्र हो जाता है और परमात्मा हो जाता है। दर्शन का उदय ही भैरव कहलाता है क्योंकि यह दर्शन उन्हीं का है और इसे वही कराते हैं।[3]

काश्मीरी शैवमत के प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के संस्थापक सोमानन्द थे तथा इनके द्वारा लिखित कृति शिवदृष्टि कहलाती है। किन्तु इस दर्शन के प्रमुख

---

१. शिवसूत्रविमर्शिनी, क्षेमराजकृत, सूत्र १,२ और ३ काश्मीर द्वारा प्रकाशित

२. वही, सूत्र ४ तथा स्पन्दकारिका, ५.४२। मल और नाद के इन अनेक प्रकारों की तुलना शैव-दर्शन के पाशों (मल, कर्म, माया और रोध-शक्ति) से की जा सकती है (द्रष्टव्य, सर्वदर्शनसंग्रह)। यहाँ पर मल शैवदर्शन के पाश के लिए प्रयुक्त है और आणव मल के लिए। शम्भुदेव ने भी इसे आणव कहा है।

३. शिवसूत्रविमर्शिनी, १.५,

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

प्रबन्ध की रचना उनके शिष्य उदयाकर ने की थी। इसमें श्लोक पाये जाते हैं, जो सूत्र कहलाते हैं। इन सूत्रों पर सोमानन्द के प्रशिष्य अभिनवगुप्त की विस्तृत टीकाएं हैं।[1] अभिनवगुप्त ने ९९३ ई० तथा १०१५ ई० के मध्य लिखा[2] जिससे सोमानन्द को दशम शतक के पूर्वार्ध में विद्यमान माना जाना चाहिए।

जगत् की रचना तथा जीवात्मा और परमात्मा के सम्बन्धों के विषय में इस दर्शन द्वारा प्रतिष्ठापित सिद्धान्त वही हैं जो कि पूर्ववर्ती दर्शन के थे। किन्तु इस दर्शन के अनुसार अभेद का ज्ञान प्रत्यभिज्ञा है। एक ऐसा उपनिषद्[3] वचन है जिसमें यह कहा गया है कि उसके प्रकाशित हो जाने पर सभी कुछ प्रकाशित हो जाता है तथा उसमें प्रकाश द्वारा प्रत्येक वस्तु ज्ञेय या दृश्य हो जाती है।[4] इस प्रकार हमारी ज्ञान-शक्ति वही है, जो कि ईश्वर की है तथा हमारे बाहर की प्रत्येक वस्तु उसकी प्रकाशक शक्ति द्वारा ही ज्ञेय बनती है। क्योंकि हम ज्ञान और क्रिया-शक्ति से युक्त हैं अतः हम ईश्वर की प्रकृति के ही अंशभूत हैं। किन्तु इस अंश को किसी सीमा में बांधना तर्कसङ्गत नहीं है। अतः यह समझना चाहिए (यह फलित है) कि हम साक्षात् ईश्वर हैं। किन्तु वर्तमान अवस्था में हमें ईश्वर के ज्ञान एवं उत्कर्ष लक्षणों का बोध नहीं है। यह इस बात का प्रत्यभिज्ञान नहीं है कि हम ईश्वर हैं जबकि हम वस्तुतः ईश्वर तो हैं ही। जिस प्रकार कोई कामिनी किसी ऐसे युवक के प्रेम से पीड़ित हो जाए जिसके गुणों का वर्णन उससे किया गया है। यदि उसे उस युवक के पास ले जाया जाए तो वह आनन्द से अभिभूत नहीं होती और न पहचानने के कारण उसे सामान्य व्यक्ति की तरह देखती है परन्तु जब उसे बतलाया जाता है कि यही वह व्यक्ति है जिसके गुणों ने उसे इतना मोहित कर रखा है, तब वह आनन्दित हो उठती है एवं उसे आत्म-समर्पण कर देती है, यही बात जीवात्मा के बारे में भी है। वह (जीव) ईश्वर के स्वरूप के परमानन्द का अनुभव नहीं कर पाता, (यद्यपि वह स्वयं ईश्वर है) क्योंकि उसे इस बात का ध्यान नहीं रहता कि जो उच्च गुण

---

१. बूलर, रिपोर्ट ऑफ ए टूर मेड इन कश्मीर, सं० ४६५-६६ का अनुच्छेद, पृ० १६१

२. वही, सं० ४६५-६६ का अनुच्छेद, पृ० १६०

३. वही, पृ० ८१-८२

४. कठ० उप० ५.१५; श्वे० उप० ६.१४; मु० उप० २.२.१०

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

ईश्वर में हैं, वे उसमें भी हैं किन्तु जब उसका गुरु उसे इस बात का विश्वास कराता है कि उसमें वे गुण विद्यमान हैं अर्थात् जब वह गुरु के उपदेश से स्वयं में ईश्वर का प्रत्यभिज्ञान करने में समर्थ हो जाता है तब प्रशान्त आनन्द का उदय उसके अन्दर होता है । स्पन्ददर्शन ने ईश्वर से अभेद की अनुभूति के मार्ग के रूप में ध्यान की अवस्था में मन में भैरव या ईश्वर के दर्शन के उदय तथा इसके कारण मल के नष्ट हो जाने का उल्लेख किया है जब कि इसकी धारणा यह है कि ईश्वर रूप में स्वयं का प्रत्यभिज्ञान ही इसका एकमात्र मार्ग है ।

माधव के अनुसार इन दोनों मतों में प्राणायाम, ध्यान तथा उन अन्य आभ्यन्तर एवं बाह्य नियमों का विधान नहीं किया गया है जिन्हें अन्य दर्शनों ने आवश्यक माना है। स्पष्ट रूप से इन दोनों सम्प्रदायों ने स्वयं को उस पारम्परिक शैव-मत से पृथक् कर लिया जिसका विकास शनैः कापालिक या कालामुख सम्प्रदायों के रूप में हुआ । इसीलिए किसी भी अर्थ में उनके लिए पाशुपत या लाकुल विशेषण लागू नहीं किया जा सकता । इसीलिए वसुगुप्त द्वारा एक अभिनव शास्त्र के प्रकाशन की कल्पना की गई, यद्यपि गम्भीर शैव-सम्प्रदाय के कतिपय सिद्धान्त स्पन्दशास्त्र में विद्यमान थे ।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

३३. वीरशैव या लिङ्गायत-सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय की स्थापना सामान्यतया आराध्य सम्प्रदाय के एक ब्राह्मण भादिराज के पुत्र वसव द्वारा बतलाई जाती है। वसव की कथा पूना से १९०५ ई० में प्रकाशित बसव पुराण में दी गई है।[1] इस कथा से किसी भी तरह यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि इस सम्प्रदाय की स्थापना उसने इसके सिद्धान्तों और निष्कर्षों को किसी पन्थ के रूप में ढालते हुए की। किन्तु वह इस सम्प्रदाय का कट्टर समर्थक था। वसव-पुराण के प्रारम्भ में यह बतलाया गया है कि नारद शिव के समीप गए और उनसे कहा कि पृथ्वीलोक में विष्णु के भक्त, यज्ञ-धर्म के अनुयायी, जैन एवं वौद्ध सभी हैं किन्तु आपके कोई भी भक्त वहाँ पर नहीं है। वे समय समय पर होने वाले और शिव-भक्ति को प्रतिष्ठापित करने वालों के रूप में विश्वेश्वराराध्य, पण्डिताराध्य, महायोगी एकोराम आदि का उल्लेख करते हैं और कहते हैं कि सम्प्रति कोई भी नहीं है। इस पर शिव ने अपने नन्दी (गण) से अपने धर्म की अभिवृद्धि के निमित्त तथा वीरशैवों के प्रयोजन की सिद्धि के लिए पृथ्वी पर अवतरित होने को कहा। इस सब से यह प्रतीत नहीं होता कि वसव इस सम्प्रदाय के जन्मदाता थे। उनके पूर्ववर्ती भी थे, जिनमें से तीन के नाम तो अभी अभी बतलाए गए हैं। बसव का जीवन राजनैतिक द्वन्द्व का था। अपने जन्मस्थान बागेवाड़ी से वे कल्याण गए, जबकि विज्जल या विज्जण का राज्य था (११५७-११६७ ई०)। उनके मामा बलदेव इस राज्य के मन्त्री थे तथा उनकी मृत्यु के उपरान्त उन्हें यह पद दे दिया गया। वसव की बहिन—जोकि सुन्दरी नारी थी, से राजा ने विवाह कर लिया। वे राजा के कोषाध्यक्ष थे और उन्होंने जङ्गम नाम के लिङ्गायत-यतियों की सहायता और सेवा में प्रचुर सम्पत्ति व्यय कर दी। यह बात राजा विज्जण को मालूम हुई, जो शनैः शनैः वसव से पूर्णतया विरक्त हो गए और उन्हें कैद करने को सन्नद्ध

---

१. वसव-पुराण तथा लिङ्गायत-सम्प्रदाय के अन्य बहुत से ग्रन्थ इस सम्प्रदाय के एक प्रभावशाली एवं विद्वान् सदस्य शोलापुरवासी स्वर्गीय श्री मल्लप्पा नारद के संरक्षण में प्रकाशित हुए थे।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

हुए। बसव वहाँ से भाग निकले और राजा ने उनकी खोज में कुछ लोग भेजे। वसव ने इन्हें सरलता से पराजित्त कर दिया जिस पर राजा सेनाओं सहित उन्हें दण्ड देने के लिए चल पड़े, परन्तु बसव ने बड़ी संख्या में अपने अनुयायी जुटा लिए और वे राजा को पराजित करने में सफल हुए। राजा ने बसव से सन्धि कर ली और उन्हें वापस कल्याण ले आए। परन्तु उनमें सच्ची सन्धि तो नहीं हो सकी और कुछ समय उपरान्त बसव ने राजा की हत्या करवा दी।

एक जैन द्वारा लिखित विज्जलरायचरित नामक एक रचना है। इसमें भी बसव तथा विज्जण के साथ उनके सम्बन्धों के बारे में विवरण दिए गए हैं। यह बसव के शत्रु के दृष्टिकोण से लिखित है तथा इसमें बसव की बहिन को दासी के रूप में दिए जाने का उल्लेख है जो सम्भवतः सत्य है। पर क्योंकि लिङ्गायत तथा जैन विवरणों में मुख्य बातों में मतैक्य है अतः उन्हें ऐतिहासिक माना जा सकता है।[1] इस प्रकार बसव युक्तिमान् राजनीतिज्ञ थे तथा वे किसी नए मतवाद के प्रवर्तक या किसी भी नूतन सम्प्रदाय के संगठन कर्ता शायद ही रहे हों। इसके अतिरिक्त इस समय प्राप्त अनेकों लिङ्गायत ग्रन्थों में तो उनके नाम का उल्लेख किसी भी धर्मोपदेशक के रूप में नहीं किया गया। अतएव उन्होंने जो किया वह यह प्रतीत होता है कि उन्होंने वीरशैव-सम्प्रदाय का योग्योत्कर्ष करने, इसे प्रधानता प्रदान करने और इस मत के प्रचार करने में अपने राजनैतिक प्रभाव का उपयोग किया। एक दूसरा व्यक्ति और है जिसे कतिपय अभिलेखों के आधार पर डा० फ्लीट लिङ्गायत-सम्प्रदाय के संस्थापक के रूप में सामने लाए हैं और यह व्यक्ति एकान्त या एकान्तक रामय्या है। इस व्यक्ति का विवरण बसवपुराण के उत्तरार्द्ध में भी दिया गया है तथा बसवपुराण एवं अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि वह जैनों का शत्रु था और उनके देवों एवं देवायतनों को विनष्ट करना चाहता था। उसने उन लोगों से यह शर्त लगाई कि मैं अपने शिर को काट दूंगा तथा शिव के चरणों पर रख दूंगा तथा यदि यह शिर मुझे पुनः प्राप्त हो जाता है और मेरे कन्धों पर पहले ही की भाति यथास्थान जुड़ जाता है तो फिर जैनों को अपनी प्रतिमाएं फेंकने को सहमत हो जाना चाहिए तथा शैव धर्म स्वीकार कर लेना चाहिए। अभिलेख के अनुसार यह कृत्य

१. लिंगायत सम्प्रदाय के विवरण के लिए देखिए बसवपुराण पूना से प्रकाशित। बसव पुराण का अनुवाद जे० बी० बी० आर० ए० एस०, भाग ८

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

पहले अबनूर में उस जगह संपादित किया गया जहाँ पर यह अभिलेख विद्यमान है और जब रामय्या ने जैनों को अपनी मूर्तियाँ विनष्ट करने को बाध्य किया तो वे लोग कल्याण गए एवं राजा विज्जण से उस बात की शिकायत की। इस पर राजा ने रामय्या को अपने सामने बुलवाया तथा उससे इस बात का स्पष्टीकरण देने को कहा कि उसने ऐसा क्यों किया ? तब उसने राजा के ही सामने पुनः अपने शिर को काटने और उसे पुनः प्राप्त करने के कृत्य को दुहराने का प्रस्ताव किया। बसवपुराण में उस समय वहाँ पर बसव को उपस्थित बतलाया है जबकि यह बाजी लगाई जा रही थी। इस प्रकार रामय्या द्वारा केवल जैनधर्म को नीचा दिखलाने का ही वर्णन है, इससे अधिक वीर शैव सम्प्रदाय के स्थापित करने का नहीं।

अब जहाँ तक दीक्षाओं का प्रश्न है, जैसे कि जब व्यक्ति को गुरु या आचार्य का वरण करते समय जो दीक्षा ग्रहण करनी होती है, उसमें यह आवश्यक है कि जल से परिपूर्ण चार कलश चारों दिशाओं में तथा एक कलश मध्य में रखा जाए। मध्य का कलश गुरु रूप में वरणीय व्यक्ति का होता है जिसे विश्वाराध्य नामक एक प्राचीन आचार्य का प्रतिनिधि माना जाता है तथा अन्य चार कलश रेवणसिद्ध, मरुलसिद्ध, एकोराम एवं पण्डिताराध्य नामक चार संप्रदायों में प्रतिपालित तथा कतिपय मठों[1] से सम्बद्ध चार अन्य पुरोहितों के होते हैं। एक दूसरे ग्रन्थ में भी यही सूची दी गई है।[2] ये पांच कलश पूर्व खण्ड में उल्लिखित शिव के सद्योजात आदि पांच मुखों या स्वरूपों के लिए प्रयुक्त होते हैं।[3] ऊपर उल्लिखित आचार्य या गुरु इस कलि-युग में शिव के पांच स्वरूपों से उद्भूत माने जाते हैं।[4] संसार में अन्य युगों में उत्पन्न अन्य नामधारी आचार्यों का भी उल्लेख किया गया है किन्तु इनसे हमें कोई भी प्रयोजन नहीं है। इन पांच आचार्यों में कम से कम तीन का उल्लेख इस खण्ड के प्रारम्भ में बसव से पूर्ववर्ती आचार्यों के रूप में किया जा चुका है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वीरशैव या लिङ्गायत सम्प्रदाय बसव से पूर्व ही अस्तित्व में आ चुका था। यह शैवदर्शन या सिद्धान्तदर्शन नाम से ख्यात शैवों के अधिक संयत और गम्भीर दर्शन से सम्बद्ध था, विशेष रूप से शैव

---

१. विवेकचिन्तामणि, पूर्वभाग, शोलापुर १९०९ ई० पृ० २३० तथा आगे।

२. वीरशैवाचारप्रदीपिका, पूना, १९०५ ई०, पृ० ३३-३७

३. पृ० १२४ टिप्पणी १

४. पञ्चाचार्यपञ्चमोत्पत्तिप्रकरण, बम्बई, १९०३ ई०, पृ० १

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

दर्शन के पूर्व-निर्दिष्ट परवर्ती रूप से ।[1] किन्तु स्थल, अङ्ग, लिङ्ग इत्यादि पारिभाषिक शब्द तथा इसके विचार माधव आदि द्वारा व्याख्यात इस सम्प्रदाय के विचारों से पूर्णतया भिन्न हैं। तथा ये शब्द हमें अन्यत्र नहीं प्राप्त होते, अतएव यह एक आधुनिक सम्प्रदाय है। इसका उदय कब हुआ, यह कह सकना कठिन है। किन्तु यह वसव के समय में स्पष्टतया सुदृढ़ स्थिति में था। अतएव इसका उदय लगभग एक सौ वर्ष पूर्व हुआ होगा । ऊपर दिए गए पांच आचार्यों के नामों में से कम से कम दो के नाम आराध्यशब्दान्त हैं, जबकि अन्य पुस्तकों में इन पांचों के नामों के साथ यह उपाधि जुड़ी हुई है।[2] यह (आराध्य) लिङ्गायतों से ही सम्बद्ध एक सम्प्रदाय का नाम था।

ब्राउन[3] महोदय ने पांच आचार्यों का प्रतिनिधित्व करने वाले पांच कलशों में से एक मध्यवर्ती आचार्य का उल्लेख नहीं किया तथा अन्य चार आचार्यों को आराध्य कहा है । इस प्रकार दीक्षा एवं अन्य संस्कारों के अवसर पर सम्भावित पांचों आचार्य सारे के सारे आराध्य सम्प्रदाय के हैं, जो ब्राउन महोदय के अनुसार वीरशैव-मत का ही एक सम्प्रदाय था। आराध्यों और सामान्य लिङ्गायतों के मध्य पर्याप्त दुर्भावनाएं रही हैं। यह सम्भवतः आराध्यों द्वारा पवित्र गायत्रीमन्त्र के जप तथा यज्ञोपवीत-धारण जैसे कतिपय ब्राह्मण अनुष्ठानों के जारी रखे जाने के कारण हुआ होगा। किन्तु स्वयं आराध्य नाम —जिसका अर्थ पूजनीय या सम्माननीय होता है—ही यह दरसाता है कि इन दोनों के मध्य कलह उत्पन्न होने से पूर्व आराध्य अत्यधिक सम्मानित थे। इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए सत्य तो यह प्रतीत होता है कि वीर-शैव-मत को आराध्यों ने ही एक रूप दिया। ये (आराध्य) विद्वान् और सदाचारी लोग रहे होंगे। वसव जैसे उत्तरकालीन सुधारकों द्वारा यह मत कट्टर और ब्राह्मण-विरोधी बना दिया गया होगा। और इस प्रकार वीरशैव-मत की ये दो शाखाएं अस्तित्व में आईं। अब हम इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवरण देंगे :—

एक सच्चिदानन्दमय, परमब्रह्म शिव तत्त्व है, और यह स्थल कहलाता है। तदुपरान्त इसके स्थल कहे जाने के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण दिए गए हैं,

---

१. पञ्चाचार्यपञ्चमोत्पत्तिप्रकरण, बंबई, १९०३ ई०, पृ० ९५

२. वहीं, पृ० ३५

३. जनरल ऑफ लिटरेचर एण्ड साइन्स, भाग ११, मद्रास

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

जिनमें से दो तो कृत्रिम व्युत्पत्ति पर आधारित हैं। परब्रह्म या शिव-तत्त्व में महत् आदि तत्त्व विद्यमान हैं तथा उसी में लीन भी हो जाते हैं। इसमें प्रकृति एवं पुरुष से उद्भूत विश्व सर्वप्रथम स्थिर रहता है तथा अन्त में इसी में लीन भी हो जाता है। इसीलिए यह स्थल कहलाता है (प्रथम भाग स्थ, स्थानवाचक है तथा द्वितीय भाग 'ल' लयवाचक है)। इसे यह नाम इसलिए भी दिया गया है क्योंकि यह समस्त चल और अचल (चराचर) जगत् का आधार स्थान है तथा समस्त शक्तियों, समस्त प्रकाश-पुञ्जों एवं समस्त आत्माओं को धारण करता है। यह समस्त भूतों, समस्त लोगों तथा समस्त सम्पत्तियों का आश्रय है। यह परमानन्द प्राप्ति के इच्छुक व्यक्तियों द्वारा अधिगम्य परमपद है और इसी कारण यह एक तथा अद्वैत स्थल कहलाता है। शक्ति में क्षोभ उत्पन्न होने से यह स्थल दो में विभक्त हो जाता है।[1] लिङ्गस्थल, (२) अङ्गस्थल। लिङ्गस्थल ही शिव या रुद्र है तथा आराध्य है जबकि अङ्गस्थल जीवात्मा है और आराधक है। इसी प्रकार स्वेच्छा से शक्ति स्वयं को दो भागों में विभक्त करती है, जिसमें से एक भाग शिव पर आश्रित है तथा कला कहलाता है जबकि दूसरा भाग जीवात्मा पर आश्रित है और भक्ति कहलाता है। शक्ति में एक प्रकार की ग्रहणशीलता है जिससे यह क्रियाशील और जगत् से संलग्न होती है, जब कि भक्ति इस ग्रहणशीलता से मुक्त है और यह क्रिया एवं जगत् से पराङ्मुख करके मुक्ति को प्राप्त कराती है। शक्ति अद्वय तत्त्व को आराध्य बनाती है और भक्ति जीवात्मा को आराधक। अतएव शक्ति लिङ्ग या शिव में स्थित है और भक्ति जीवात्मा में। इस भक्ति द्वारा जीवात्मा और शिव का सायुज्य भी होता है।

लिङ्ग स्वयं शिव है। केवल शिव का बाह्य चिह्न या प्रतीक मात्र नहीं। लिङ्ग स्थल (१) भावलिङ्ग, (२) प्राणलिङ्ग तथा (३) इष्टलिङ्ग इन तीन भागों में विभक्त है। भावलिङ्ग कलाओं से रहित है तथा इसका दर्शन केवल श्रद्धा द्वारा ही किया जा सकता है। यह देश काल से निरपेक्ष विशुद्ध सत् है, तथा परम से भी पर है। दूसरा लिङ्ग मन द्वारा ग्राह्य है तथा सकल और निष्कल भेद से दो प्रकार का है। तृतीय लिङ्ग सकल है तथा चक्षुग्राह्य है। यह समस्त इष्ट पदार्थों को प्रदान करता है और क्लेशों का अपनयन करता है अथवा इसका यह नाम इसलिए है क्योंकि इसकी पूजा ध्यानपूर्वक की जाती है (इष्ट)। प्राणलिङ्ग परमात्मा का चित् है और इष्टलिङ्ग आनन्द है। भावलिङ्ग परम तत्त्व है और प्राणलिङ्ग सूक्ष्म रूप है तथा इष्टलिङ्ग स्थूल रूप है। आत्मा चैतन्य और स्थूल रूपभूत तथा प्रयोग, मन्त्र एवं क्रिया से विशिष्ट ये तीनों लिङ्ग कला, नाद और विन्दु का रूप धारण

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

करते हैं। इन तीनों में से प्रत्येक दो भागों में विभक्त है। भावलिङ्ग, महालिङ्ग और प्रसाद लिङ्ग के रूप में, प्राणलिङ्ग, चरलिङ्ग और शिवलिङ्ग के रूप में तथा इष्टलिङ्ग, गुरुलिङ्ग और आचारलिङ्ग के रूप में विभक्त हैं। छः प्रकार की शक्तियों से संचालित इन छः लिङ्गों से निम्न निम्न स्वरूपों का उदय होता है[1] :—

(१) जब शिवतत्त्व चित्-शक्ति द्वारा सञ्चालित होता है तो महालिङ्ग का उद्भव होता है। इसके गुण जन्ममृत्युविरहत्व, निर्मलत्व, पूर्णता, एकत्व, सूक्ष्मता, परात्परता, अक्षयत्व, अगाधता, भवितग्राह्यता, तथा चैतन्यत्व हैं।

(२) पराशक्ति से सञ्चालित होने पर शिव तत्त्व से सादाख्य तत्त्व का उदय[2] होता है, जो लघु, नित्य, अविभाज्य, इन्द्रियागोचर, धीगम्य, अविनाशी तथा ऐसा मूल तत्त्व है जो कि विकसित होता है। यह तत्त्व प्रसाद-लिङ्ग कहलाता है।

(३) आदि शक्ति से सञ्चालित शिवतत्त्व से चरलिङ्ग की उत्पत्ति होती है, जो कि अनन्त, आभ्यन्तर और वाह्य जगत् में व्याप्त, तेज से परिपूर्ण है, पुरुष है, प्रधान या प्रकृति से पर है तथा केवल मनोग्राह्य है।

(४) इच्छा शक्ति से सञ्चालित होने पर इससे शिवलिङ्ग का निर्माण होता है जो अहंकारयुक्त, ज्ञान एवं कला से समन्वित दिव्य आभा वाला तथा एक शान्त आनन वाला सान्त तत्त्व है।

(५) ज्ञानशक्ति से चालित शिवतत्त्व गुरुलिङ्ग को उत्पन्न करता है, जो कर्तृत्व-युक्त है, प्रत्येक शिक्ष्यमाण शास्त्र या मत का अधिष्ठाता है, तेजोमय है, आनन्द का असीम सागर है तथा मानव-बुद्धि में बसता है।

(६) क्रिया शक्ति से प्रभावित होने पर शिवतत्त्व आचारलिङ्ग कहलाता है। क्रिया के रूप में यह समस्त मनोग्राह्य भूतों के अस्तित्व का आधार है तथा संन्यास की ओर ले जाता है।

---

१. शिवतत्त्व तथा उनकी 'परा' 'आदि' शक्तियों के योग से सादाख्य की उत्पत्ति होती है। सादाख्य पांच हैं :—

१. शिव सादाख्य, जिसका सदा शिव के रूप में विकास होता है,
२. अमूर्त सादाख्य, जो ईश बनता है,
३. समूर्त—ब्रह्मेश रूप में विकसित होता है,
४. कर्ता—ईश्वर बनता है तथा
५. कर्म—ईशान रूप धारण करता है।

उपर्युक्त ग्रन्थ में उल्लिखित सादाख्य सदाशिव लगते हैं।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

इस प्रकार यह देखा गया कि अपनी शक्ति द्वारा मूल सत्ता ईश्वर और जीवात्मा के रूप में विभक्त हो जाती है तथा ईश्वर के वे छः स्वरूप जिनका उल्लेख किया गया, ईश्वर को देखने के विभिन्न प्रकार हैं। प्रथम स्वरूप अनन्त सत्ता है, जो स्वतन्त्र है। दूसरा स्वरूप वह है जिस रूप में हम उसकी कल्पना अपनी पराशक्ति द्वारा वर्धित होते हुए या सृष्टि करते हुए करते हैं। तीसरा रूप वह है जिसमें इसे जड़ जगत् से विविक्त रूप में ग्रहण किया जाता है। चौथा रूप शरीर वाला है किन्तु यह शरीर साधारण पदार्थों से निर्मित न होकर दिव्य है, जैसा कि वैष्णवों के नारायण या कृष्ण का है। पांचवाँ रूप वह है जिसमें वह मनुष्यजाति को उपदेश देता है तथा उसके छठे रूप में उसके द्वारा तब तक जीवात्मा को समस्त कर्मों का निर्देशन करने का भाव विद्यमान है जब तक जीवात्मा मुक्त नहीं हो जाता। इस रूप में शिव समुद्धर्ता है।

भक्ति जीवात्मा का लक्षण या वैशिष्ट्य है। इसमें ईश्वराभिमुखी प्रवृत्ति रहती है। इस प्रवृत्ति की ओर की जा रही प्रगति की तीन अवस्थाएं हैं और तदनुरूप अङ्गस्थल के भी तीन विभाग हैं। प्रथम या सर्वोच्च भाग योगाङ्ग, दूसरा भोगाङ्ग तथा तीसरा त्यागाङ्ग कहलाता है। प्रथम द्वारा मनुष्य शिव-सायुज्य का आनन्द प्राप्त करता है, दूसरे द्वारा वह शिव के साथ भोग करता है तथा तीसरे में क्षणभङ्गुर जगत् का परित्याग करता है। प्रथम अर्थात् योगाङ्ग कारण में लीन हो जाना या सुषुप्ति की अवस्था है, दूसरा सूक्ष्म शरीर या स्वप्नावस्था है तथा तीसरा स्थूल शरीर या जागृत अवस्था है। इनमें से प्रत्येक के दो दो प्रभेद किए गए हैं। पहले या योगाङ्ग के ऐक्य और शरण ये दो प्रभेद हैं। व्यक्ति द्वारा जगत् की अयथार्थता का विश्वास हो जाने पर शिव के आनन्दों में सम्मिलित होना ही ऐक्य है। इसे समरसा भक्ति कहते हैं जिसमें ईश्वर और जीवात्मा आनन्दानुभूति में एक हो जाते हैं। दूसरी भक्ति शरणभक्ति कहलाती है जिसमें जीव स्वयं में तथा सर्वत्र लिङ्ग या ईश्वर को देखता है। दूसरी भक्ति भी (१) प्राणलिङ्गी और (२) प्रसादी इन दो प्रकारों की है। प्राणलिङ्गी भक्ति जीवन के समस्त अनुरक्तियों का परित्याग, अहङ्कार का परित्याग तथा लिङ्ग या ईश्वर पर अपने पूर्ण चित्त का संयोजन है। प्रसादी भक्ति का अनुभव तब होता है जबकि जीव अपने समस्त भोग्य पदार्थों का परित्याग लिङ्ग या महेश्वर के लिए करके प्रसाद की उपलब्धि कर लेता है। अन्तिम या त्यागांग के माहेश्वर और भक्त दो विभाग हैं। माहेश्वर वह है जिसे ईश्वर के अस्तित्व में दृढ़ विश्वास है, जो शिवोद्देश्यक व्रतों और

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

नियमों की पूरी चर्या, सत्य, आचार, स्वच्छता इत्यादि का अनुपालन करता है तथा लिङ्ग या शिव की एकता में दृढ विश्वास रखने का कठोर व्रत धारण करता है। भक्त वह है जो चित्त को आकृष्ट करने वाले समस्त पदार्थों से अपने मन को मोड़ कर तथा भक्ति और विधानों का आचरण करता हुआ जगत् से उदासीन जीवन यापन करता है।[1]

यहां पर संसार के प्रति औदासीन्य (जो कि प्रथम अवस्था है) से लेकर विपर्यस्त क्रम से मध्यवर्ती अवस्थाओं में से होते हुए सामरस्य (शिव के साथ आनन्दमय सायुज्य)—जो कि उच्चतम अवस्था है—पर्यन्त आत्मा की प्रगति की अवस्थाओं का चित्रण है। इस प्रकार यहाँ पर निर्दिष्ट लक्ष्य परमात्मा और जीवात्मा के मध्य पूर्ण अभेद का स्थापन या व्यक्तित्व के त्यागपूर्वक अहम्भाव से मुक्त विशुद्ध आत्मा हो जाना नहीं है जो कि शङ्कर के महान् अद्वैतवादी दर्शन का सिद्धान्त है। शिवतत्त्व ने अपना विभाजन अपनी शक्ति द्वारा लिङ्ग या ईश्वर तथा अङ्ग अर्थात् जीवात्मा के रूप में किया तथा अन्य शक्तियों के प्रभाव से यही शिवतत्त्व जगत् का स्रष्टा बन गया, वीरशैव सम्प्रदाय का यह विश्वास यह व्यक्त करता है कि इस मत का सिद्धान्त यह है कि सर्जन का बीज शक्ति के रूप में स्वयं ईश्वर में ही निहित है किन्तु यह शक्ति मिथ्या नहीं है। अतएव इस सिद्धान्त का रामानुज के सिद्धान्त से साम्य है। किन्तु रामानुज के दर्शन में ईश्वर के विशेषणीभूत जीव और जड़ जगत् के वास्तविक मूल तत्त्व हैं, जो बाद में विकसित होते हैं। जहाँ तक वीरशैवों के मत का सम्बन्ध है, ईश्वर में केवल एक शक्ति विद्यमान है जिससे सर्जन होता है। अतः वीरशैवों के अनुसार ईश्वर इस शक्ति से विशिष्ट है और रामानुज के अनुसार मूलतत्त्व से। अतएव लिङ्गायत-सम्प्रदाय विशिष्टाद्वैतवादी है। यह भी देखा जा चुका है कि इस सम्प्रदाय द्वारा मुक्ति के मार्ग के रूप में भक्ति तथा शिव सामरस्य प्राप्ति-पर्यन्त नैतिक और आध्यात्मिक चर्या का उपदेश दिया गया है। इस मामले में भी यह रामानुज के मत से साम्य रखता है।

श्रीकण्ठशिवाचार्य, जिनका वेदान्तसूत्रभाष्य बहुत लम्बी अवधि से लोगों के सामने है, का भी यही मत है। १,४,२२ सूत्र के भाष्य में उन्होंने

---

१. यह मयिदेव के अनुभवसूत्र (शोलापुर० १६०८) के विवरण का सारांश है।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

बतलाया है कि जीवात्मा के अर्थ में प्रयुक्त आत्मा शब्द का प्रयोग बृ० उ० (५,५,६) में परमात्मा के बोधनार्थ किया गया है क्योंकि परमात्मा जीवात्मा का अन्तर्यामी है तथा इस अर्थ में उसे प्रत्येक वस्तु से अभिन्न कहा जाता है। ४,४,३-४ सूत्र के अपने भाष्य में उन्होंने मुक्तात्मा को परमात्मा के समान अर्थात् परमात्मा के गुणों से समन्वित बतलाया है। ४,४,२ के भाष्य में वे मुक्तात्मा को समरस कहते हैं। इस प्रकार श्रीकण्ठ का मत वीर शैवों के मत से मिलता जुलता प्रतीत होता है। अतएव पाशुपत आदि चार प्राचीन द्वैतवादी सम्प्रदायों से विपरीत ये तीनों शैव-सम्प्रदाय विशिष्टाद्वैतवादी हैं।

लिङ्गायतों के सर्वोत्कृष्ट वर्ग में वे लोग आते हैं जोकि अपने को लिङ्गि-ब्राह्मण कहते हैं। लिङ्गधारी अन्य जातियाँ या श्रेणियाँ उनके अनुगामी मात्र हैं। लिङ्गि-ब्राह्मणों में आचार्य और पञ्चम ये दो मुख्य वर्ग आते हैं। इनके बारे में जो पौराणिक विवरण दिया गया है वह निम्नलिखित है :—

आचार्य लोक मूलतः संख्या में पाँच थे तथा इनका उद्भव एक पूर्ववर्ती खण्ड में बतलाए गए शिव के सद्योजात आदि पांच मुखों से हुआ था। ये वही हैं जिनका उल्लेख किसी भी पवित्र अनुष्ठान के अवसर पर तत्तन्नामों से रखे गए कलशों के प्रसङ्ग में ऊपर किया जा चुका है। इन्हीं पांचों से सम्प्रति विद्यमान आचार्य-वर्ग का उद्भव हुआ है। इन पांचों के वीर, नन्दी, वृषभ, भृङ्गी और स्कन्द ये पांच गोत्र हैं। मूलतः ये पांचों शिव के ही समान श्रेष्ठ थे। शिव के ईशान-मुख से गणेश्वर निकले, जो पाँच आनन वाले थे। इन पाँच मुखों से मखारि, कालारि, पुरारि, स्मरारि और वेदारि नाम से ख्यात पाँच पंचमों का उदय हुआ। पाठकों को याद होगा कि ये पाँचों नाम स्वयं-संपादित कतिपय कृत्यों के कारण दिए गए स्वयं शिव के नाम हैं। इनसे अन्यों का उद्भव हुआ जो उपपञ्चम कहलाते हैं। प्रत्येक पञ्चम को पाँच आचार्यों में से किसी एक के साथ गुरु के रूप में अपना सम्बन्ध स्थापित करना होता है। गुरु का गोत्र ही उसका अपना गोत्र होता है तथा समान गोत्र वालों में परस्पर विवाह सम्बन्ध नहीं किए जा सकते। इन पञ्चमों का अपना गोत्र अपने प्रवर और अपनी शाखा रहती है। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि लिङ्गायतों ने ब्राह्मण-व्यवस्था का ही अनुकरण किया था। पञ्चमों को शिव का सच्चा भक्त बतलाया गया है। सामान्य विवरण के अनुसार सच्चे लिङ्गायत चार श्रेणियों में विभक्त हैं :—

(१) जङ्गम या आचार्य

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

(२) शीलवन्त,
(३) वणिक् और
(४) पंचमशाली

शीलवन्त और वणिक् श्रेणियाँ गृहीत व्यवसायों या अनुसृत जीवनपद्धतियों पर आधारित हैं। अतएव यहाँ पर भी ऊपर निर्दिष्ट कृति में केवल दो श्रेणियों का ही उल्लेख है। प्रथम या आचार्य श्रेणी के लोग सामान्यतया जङ्गम कहलाते हैं, इनमें से कुछ ऐसे हैं जो विरक्त कहलाते हैं, ध्यान आदि संन्यास का जीवन बिताते हैं। उनके मठ होते हैं तथा सभी लोग उनकी पूजा करते हैं। एक ऐसा ही मठ, जिसे 'प्रधान मठ कहा जा सकता है, वह है जो कि धारवाड़ से लगभग एक सौ मील दूर मैसूर राज्य के चितल द्रुग में अवस्थित है। यहाँ के प्रधान महन्त का बहुत सम्मान है और इस सम्प्रदाय के अनुयायियों पर उसका अत्यधिक प्रभाव रहता है। इसी श्रेणी के द्वितीय वर्ग में वे लोग आते हैं जो पौरोहित्य-कर्म करते हैं और सारे संस्कार करवाते हैं। ये विवाहित व्यक्ति होते हैं और गृहस्थ-जीवन बिताते हैं। पञ्चमों और उनके सम्प्रदाय के अनुयायियों पर इनका धार्मिक नियन्त्रण रहता है। ये पुरोहित जङ्गम हिमालय से लेकर मैसूर प्रान्त तक देश के विभिन्न भागों में अवस्थित पाँच प्रधान मठों में से किसी एक के प्रतिनिधि होते हैं। सम्प्रदाय से सम्बद्ध किसी भी जटिल प्रश्न का समाधान इनमें से किसी एक मठ द्वारा प्रसारित अन्तिम आदेशों से किया जाता है। शुद्ध लिङ्गायतों के अतिरिक्त उनसे ही सम्बद्ध एक अन्य वर्ग है तथा एक वर्ग अर्धलिङ्गायतों का है। लिङ्गायत मांस एवं मदिरा पान से विरत रहते हैं। उनकी विधवाओं को विवाह करने की अनुमति है। ब्राह्मण-मतानुयायी हिन्दुओं के समान उनमें ऋतु-काल के समय नारियों को अशुद्ध और अस्पृश्य नहीं माना जाता।

वीरशैवों में ब्राह्मणों के उपनयन संस्कार जैसा एक दीक्षा-संस्कार है। ब्राह्मणों के गायत्री-मन्त्र के स्थान पर इनका मन्त्र 'ॐ नमः शिवाय' है तथा उन्हें यज्ञोपवीत के स्थान पर शिव लिङ्ग को धारण करना होता है। दीक्षा के अवसर पर गुरु अपने वाम-कर में लिङ्ग को ग्रहण करता है, इसकी प्रचलित षोडशोपचार पूजा करता है तथा इसे शिष्य को दिखलाता है। तदुपरान्त वह शिष्य के वाम-कर में रख कर उससे इसे अपनी आत्मा के ही समान एवं समस्त सत्-पदार्थों में सर्वश्रेष्ठ के रूप में देखने का आदेश देता है। इसके बाद वह ब्राह्मणों द्वारा यज्ञोपवीत धारण करते समय प्रयुक्त मन्त्र

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

का जप करते हुए एक कौशेय वस्त्र से इसे शिष्य के कण्ठ में बांध देता है। लिङ्ग-स्वायत्त-दीक्षा कहते हैं। यह संस्कार लड़कियों का भी होता है तथा पुरुषों की ही तरह नारियों को भी लिङ्ग धारण करना होता है। लिङ्ग को सामान्यतया चांदी की एक ताबीज में रखा जाता है और गले में लटका लिया जाता है। वीरशैवों को ब्राह्मणों की संध्योपासनाओं जैसे दैनिक अनुष्ठानों का सम्पादन करना होता है तथा इन अवसरों पर जपा जाने वाला मन्त्र या तो ऊपर बतलाया हुआ (ॐ नमः शिवाय) मन्त्र रहता है अथवा शिव-गायत्री का मन्त्र रहता है। इसकी प्रथम दो पंक्तियां वही हैं जो कि ब्रह्म-गायत्री की हैं तथा इसकी अन्तिम पंक्ति है "तन्नः शिवः प्रचोदयात्"। विवाह-संस्कार में वधू के पाणिग्रहण के अवसर पर पढ़ा जाने वाला मन्त्र वही है जो कि ब्राह्मणों का है तथा सप्तपदी विधि में पढ़ा जाने वाला मन्त्र वही है जो कि ऋग्वैदिक ब्राह्मणों द्वारा प्रयुक्त है। किन्तु अपने विवाह संस्कारों में वे आज्य होम नहीं करते जैसा कि ब्राह्मण करते हैं। शरीर पर पहने गए इष्ट-लिङ्ग नामक लिङ्ग की पूजा ही उनकी प्रमुख देवोपासना है। मन्दिरों में उपस्थिति तथा उनमें स्थित लिङ्ग की आराधना उनके लिए किसी भी तरह आवश्यक नहीं है। शिव के सार्वजनिक-मन्दिरों के साथ उनका सीधा सम्बन्ध नहीं रहता।

लिङ्गायतों में यह पारस्परिक अनुश्रुति है कि जब शिव ने ब्रह्मदेव को बनाया तो उन्होंने उनसे जगत् की रचना करने को कहा। किन्तु ब्रह्मदेव ने कहा कि वे तो यह नहीं जानते कि यह काम कैसे किया जाए? इस पर शिव ने स्वयं ही जगत् की रचना की, जिससे ब्रह्मा के लिए यह उदाहरण भूत हो सके। गोत्रों एवं शाखाओं-सहित ऊपर बतलाए हुए पञ्चम एवं आचार्य ही शिव की यह सृष्टि है। इस आख्यानक का यथार्थ अर्थ यह है कि लिङ्गायतों ने ब्राह्मण-धर्म के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में अपने लिए एक नए सम्प्रदाय की स्थापना की तथा दोनों के बीच का निकट साक्ष्य इसी दृष्टि कोण की पुष्टि करता है। किन्तु मात्र अनुकरण उनका उद्देश्य नहीं था। उन्होंने इसमें अनेक संशोधन किए विशेषतः स्त्रियों की स्थिति में, जैसा कि ऊपर के उल्लेख में द्रष्टव्य है। इस मामले में यह वैष्णव, शैव किंवा बौद्ध, जैन आदि उन सभी सम्प्रदायों से भिन्न है, जिन्होंने सामाजिक सम्बन्धों और गृह-विधानों की अपनी विशिष्ट व्यवस्था स्थापित नहीं की यद्यपि जैसा ऊपर दिखलाया जा चुका है, लिङ्गायतों की सामाजिक-व्यवस्था और गृह्य-विधान ब्राह्मणों की सामाजिक व्यवस्था और गृह्य-विधानों का ही अनुकरण है। किन्तु अनुकरण संशोधन सहित किया गया है।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

इस समस्त विवरण से जो प्रभाव पड़ता है वह यह है कि लिङ्गायत मत का उदय ब्राह्मण-धर्म की शक्ति के प्रति ईर्ष्या तथा इस धर्म के साथ प्रतिद्वन्द्विता की भावना के कारण हुआ था। ईर्ष्या तथा प्रतिद्वन्द्विता की इस भावना की आशा पूर्णतया कुचले हुए मन वाले लोगों में नहीं की जा सकती। अतएव यह सम्प्रदाय आराध्य नाम से ख्यात ब्राह्मणों के एक वर्ग के नेतृत्व में रहने वाले ब्राह्मणेतर उच्च जातियों के उत्साही हिन्दुओं के बीच अस्तित्व में आया होगा। इस वर्ग के कुछ लोग अभीप्सित संशोधनों की दिशा में बहुत आगे नहीं बढ़ सके और जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, उन्होंने एक पृथक् सम्प्रदाय बना लिया।[1] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सभी लिङ्गायतों का उद्भव शूद्र जाति से नहीं हुआ अपितु उनमें तीनों उच्च जातियों का मिश्रण है। उनका यह दावा यथार्थ जान पड़ता है कि इस सम्प्रदाय के दो प्रमुख वर्ग लिङ्गी-ब्राह्मण या लिङ्गधारी ब्राह्मण हैं। आचार्य या जंगम वर्ग उन पाँच पवित्र व्यक्तियों से उद्भूत बतलाए जाते हैं जो कि धार्मिक-संस्कारों के अवसर पर पूजे जाते हैं तथा जिनके आराध्यशब्दान्त नाम उनके ब्राह्मण होने के सूचक हैं। अतएव हम निर्भय होकर उन्हें ब्राह्मण

---

१. अनन्तानन्द-गिरि ने इस बात का उल्लेख किया है कि शंकराचार्य से एक आराध्य संप्रदाय का शास्त्रार्थ हुआ था (द्रष्टव्य, शंकर दिग्विजय, पृ० ३७)। किन्तु माधव के शंकरदिग्विजय सहित धनपति रचित डिंडिम के इसी प्रसङ्ग में आराध्य संप्रदाय का उल्लेख नहीं मिलता। अतः यदि हम यह मान भी लें कि अनन्तानन्द गिरि द्वारा उल्लिखित संप्रदाय वही था, जिसे हमने लिङ्गायतों से संबद्ध बतलाया है, फिर भी यह संदिग्ध ही रह जाता है कि शंकराचार्य से पूर्व आराध्य संप्रदाय का अस्तित्व था या नहीं? अथवा अनन्तानन्दगिरि के साक्ष्य पर आराध्य संप्रदाय को शंकराचार्य के समय के लगभग अर्थात् नवीं सदी से पूर्व विद्यमान माना जा सकता है और इसके बाद इस मान्यता का प्रचलन हुआ होगा कि इसी की परिधि में लिङ्गायतों का सुधार आरम्भ हुआ तथा आराध्य संप्रदाय के एक वर्ग ने नए धर्म को अपना कर अपना विकास किया जब कि दूसरा वर्ग रूढिवादी बना रहा और ब्राह्मण धर्म की चर्याओं को मानता रहा। इसी वर्ग से आधुनिक आराध्य संप्रदाय का विकास हुआ।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

वंशी मान सकते हैं[1]। जहाँ तक पंचमों का सम्बन्ध है, वे ब्राह्मण-व्यवस्था के वैश्य प्रतीत होते हैं, जो व्यापार और कृषि के धन्धे करते थे। चूंकि वैश्य द्विजाति-वर्ग के हैं इसी लिए पञ्चम भी द्विजाति रहे होंगे और इसीलिए वे लिङ्गी-ब्राह्मण-वर्ग में अन्तर्भूत हैं।

१. ऐसे जङ्गम भी हैं, जो संस्कृत जानते हैं। ऐसे ही एक मल्लिकार्जुन-शास्त्री से मेरा पत्र-व्यवहार रहा है। इन्होंने मुझे इस संप्रदाय के कुछ ग्रन्थ बतलाए, जिनका अनुसरण मैंने इस परिच्छेद में किया है। उन्होंने कुछ विषयों पर मुझे मौखिक सूचनाएं भी दीं। वे अपने को वेदाध्ययन के अधिकारी ब्राह्मण मानते हैं। उनका अपना वेद शुक्लयजुर्वेद है। चितलद्रुग मठ के महन्त दो मास पूर्व पूना आए थे। उनके साथ महन्त का समस्त वैभव, चार हाथी और बहुत से अनुयायी थे। वे एक सज्जन, विनम्र और कृपालु व्यक्ति थे। उन्होंने संस्कृत-व्याकरण का अध्ययन किया था और वे धारा प्रवाह-रूप से विशुद्ध संस्कृत बोल सकते थे। इस संप्रदाय के कतिपय ग्रन्थ संस्कृत में हैं।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

३४. द्रविड़ देश में शैव धर्म

शैव धर्म द्रविड़ या तमिल देश में फैला हुआ है तथा इसका अपना विस्तृत साहित्य भी है। यह साहित्य ग्यारह संग्रहों में है। प्रथम तीन संग्रहों में तिरुञानसम्बन्ध नामक एक परम सामान्य सन्त द्वारा रचित स्तुतियाँ हैं। इनकी संख्या तीन सौ चौरासी है, प्रत्येक स्तुति पडिगम कहलाती है, जो कि दस पदों की होती है तथा लेखक के नाम से युक्त ग्यारहवां पद भी प्रायः जोड़ दिया जाता है। अगले तीन संग्रहों की रचना अप्पर ने की थी, जो संबंध से अधिक पुराने, साथ ही समकालीन भी थे तथा जो बौद्ध धर्म या जैनधर्म को त्याग कर शैव बन गए थे। सातवां संग्रह सुन्दर का है, जो बाद की पीढ़ी के एक ब्राह्मण भक्त थे। ये सात ग्रन्थ देवारम् कहलाते हैं तथा इनकी तुलना ब्राह्मण-वेदों से की जाती है। अनेक जुलूसों में जहाँ एक ओर ब्राह्मण वेदों के मन्त्रों का पाठ किया जाता है वहीं दूसरी ओर देवारम् की देवताओं के लिए संबोधित स्तुतियों का। तिरुवासगम् आठवां ग्रन्थ है तथा यह उपनिषदों जैसा है। इस ग्रन्थ का रचयिता मानिक्कवासगर है। नवां संग्रह देवारम् स्तुतियों के अनुकरण पर विरचित स्तुतियों का संग्रह है। इनका एक लेखक कन्दरादित्य नामक चोल नृपति है। राजराज चोल, जो कि ९८४-८५ ई० में सिंहासनाधिरूढ हुआ, वंशानुक्रम से इससे पांचवां था, दसवें संग्रह में तिरुमूलर नामक एक योगी के रहस्यमय गीत हैं। ग्यारहवां संग्रह प्रकीर्ण रचनाओं से युक्त है जिनमें से अन्तिम दस रचनाएं नम्बि आन्दार नम्बि द्वारा लिखित हैं। इनमें तीसरी रचना तमिल पेरिय-पुराण का आधार है। पेरिय पुराण सहित ये ग्यारहों संग्रह, जो सभी तमिल-भाषा में लिखे गए हैं, तमिल शैवों के पवित्र धर्मग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त सनातन आचार्यों की भी कृतियाँ हैं जो संख्या में १४ हैं तथा सिद्धान्त शास्त्र कहलाती हैं। इनके विषय दार्शनिक हैं। इन सभी लेखकों में तिरुञानसंबंध सर्वाधिक सम्मानित लेखक हैं। जन्म से वे ब्राह्मण थे तथा जीवन के बहुत प्रारम्भकाल से ही उनमें कवित्व शक्ति विकसित हो चुकी थी। उनकी स्तुतियाँ विशुद्धतम भक्ति भावनाओं से भरी हुई हैं और बड़ी मधुर हैं। जिन धुनों में उन्हें मूलतः गाया जाता है वे द्रविड

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

राग है। किन्तु बाद में उत्तर-भारतीय नामों के साथ उत्तर-भारतीय धुनों का भी प्रयोग होने लगा। प्रत्येक शैव-मन्दिर में उपासना के निमित्त संबंध की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठापित की जाती हैं। तथा तमिल कवियों और दार्शनिकों ने अपनी कृतियों के प्रारम्भ में उनकी वन्दना की है। ये बौद्ध और जैन धर्मों के महान् शत्रु थे तथा उनके पडिगमों या स्तुतियों के हर दसवें चरण में बौद्धों या जैनों की भर्त्संना की गई है। एक अवसर पर मधुरा की रानी कुनि पाण्ड्य ने उन्हें आमन्त्रित किया और यहाँ पर बौद्ध और जैनों से उनका शास्त्रार्थ हुआ, जिसके अन्त में वहाँ का राजा शैवमत में दीक्षित हो गया।[1]

तञ्जोर के राजराजेश्वर मन्दिर के एक अभिलेख के अनुसार राजा राज राजदेव (जिसके नाम पर इस मन्दिर का नाम भी रखा गया) अपने शासन काल से २९ वें वर्ष पूर्व तिरुपदियम् या तिरुज्ञान सम्बन्ध के पडिगमों के गायकों की मदद के लिए दैनिक वृत्ति देता था।[2] राजराज के सिंहासनासीन होने की तिथि का निर्धारण उसके एक अभिलेख में एक चन्द्र ग्रहण के उल्लेख के आधार पर ९८४-८५ ई० में किया गया है।[3] एक अन्य अभिलेख में उल्लिखित इस तथ्य से इस बात की सङ्गति बैठ जाती है कि उसने सत्याश्रय पर विजय प्राप्त की थी जो कि महाराष्ट्र के उत्तरवर्ती चालुक्य-वंश के संस्थापक तैलप का तुरन्त बाद का उत्तराधिकारी था तथा जिसकी मृत्यु शकाब्द ९३० तदनुसार १००८ ई० में हुई थी।[4] इस प्रकार राजराज के राज्यारोहण से उन्तीसवें वर्ष पूर्व अर्थात् १०१३ ई० से पूर्व ही संबन्ध के पडिगम् इतने पवित्र माने जाने लगे थे कि उनके गायन को ब्राह्मण वेदों के अनुयायियों के द्वारा शतरुद्रीय के पाठ की भाँति एक पुण्य प्रद कार्य माना जाने लगा था। संबन्ध की स्तुतियों को यह महत्ता तभी प्राप्त

---

१. उपर्युक्त विवरण पी० सुन्दरम् पिल्लई के विद्वत्ता पूर्ण लेख से लिया गया है। इण्डि० एण्टि० भाग २५ पृ० ११३ तथा आगे। खेद की बात है कि पिल्लई महोदय ने इस बात की स्पष्ट सूचना नहीं दी है कि सम्बन्ध ने जिनकी भर्त्संना की है, वे बौद्ध थे अथवा जैन।

२. ई० हुल्श, साउथ इन्डियन इन्स्क्रिप्शन्स, भाग २, पृ० २५२, सं० ६५

३. इण्डि० एण्टि०, भाग २३, २९७

४. साउथ इण्डियन इन्स्क्रिप्शन्स, भाग २ पृ० २

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

हुई होगी जब कि वे ग्यारहवीं सदी के प्रारम्भ काल से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व ही अस्तित्व में आचुकी होंगी। श्री पिल्लई द्वारा प्राप्त इस निष्कर्ष से यह बात मेल खाती है कि सम्बन्ध सातवीं सदी में हुए थे।

काञ्चीपुर के मन्दिरों के अभिलेखों में छठी सदी में शैवधर्म के उन्नत अवस्था में होने के साक्ष्य विद्यमान हैं। पल्लव-नृपति राजसिंह ने एक मन्दिर बनवाया था तथा देवता का नाम उन्हीं के नाम पर राजसिंहेश्वर रखा गया था। कतिपय अभिलेखों से राजसिंह प्राचीन चालुक्य नरेश पुलकेशिन् प्रथम[1] का समसामयिक प्रतीत होता है, जिसका समय ५५० के आसपास रखा जा सकता है क्योंकि उसका पुत्र कीर्तिवर्मा प्रथम ५६७ ई० के आसपास सिंहासनाधिरूढ़ हुआ था।[2]

तमिल देश में जिस शैवधर्म का प्रचलन हुआ था सामान्यतया वह साधारण प्रकार का शैव धर्म प्रतीत होता है क्योंकि देवारन् के पद्यों में शिव का स्तुतिगान और अनन्य भक्ति-भावनायें विद्यमान हैं। परन्तु इसका कोई दर्शन भी रहा होगा क्योंकि काञ्ची के राजसिंहेश्वर मन्दिर के एक अभिलेख में अत्यन्तकाम (राजसिंह का ही एक दूसरा नाम) को शैव सिद्धान्तों के दर्शन में निष्णात बतलाया गया है। तथा ऊपर विस्तार से बतलाए गए शैव-साहित्य के अन्तिम प्रकार को (जैसा कि कहा ही जा चुका है) सनातन आचार्यों द्वारा विरचित सिद्धान्त शास्त्र कहा गया है। ये शैव धर्म के दार्शनिक ग्रन्थ रहे होंगे तथा उनमें उपदिष्ट दर्शन सम्भवतः उस शैव-दर्शन से पूर्ण अभिन्न या मिलता जुलता रहा होगा जिसकी व्याख्या हम पहले ही कर चुके हैं। किन्तु सिद्धान्तों द्वारा उपदिष्ट मत वस्तुतः क्या था, इस बात का पता लगाने के हमारे पास कोई भी साधन नहीं हैं क्योंकि कोई रचनाएं परीक्षणार्थ प्राप्त नहीं हैं। पेरिय-पुराण में शिव के तेरसठ भक्तों का विवरण दिया गया है। ये भक्त वैष्णव आलवारों से मिलते जुलते हैं। इन दोनों ही श्रेणियों में भक्तों को जिन शत्रुओं से विवाद करना पड़ता था वे जैन थे। ऐसा लगता है कि चौथी एवं पांचवीं सदियों में उत्तर-भारत में ब्राह्मण-धर्म के पुनरुत्थान के बाद शैव और वैष्णव दोनों ही धर्म सुदूर दक्षिण तक फैल गए होंगे। बौद्ध और जैन धर्मों का प्रवर्तन वहाँ पहले ही हो चुका था जब दाक्षिणात्य देश में

---

१. साउथ इण्डियन इन्स्क्रिप्शन्स, भाग १, पृ० ११

२. अर्ली हिस्ट्री ऑफ दि डेकन, द्वितीय संस्करण, पृ० ६१

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

इन दो परवर्ती ईश्वरवादी धार्मिक मतों का प्रसार हुआ था, उस समय दोनों ही वहां पर प्रभावशाली थे। अतएव विवादों और शास्त्रार्थों की आवश्यकता तो थी ही और इन मतों ने अपने पूर्ववर्ती धर्मों के शास्त्रार्थ जारी रखे। शैव-मत (ब्राह्मण धर्म के) पुनरुत्थान से पूर्व ही तमिल-देश में फैल चुका था, यह निश्चय करने के लिये हमारे पास कोई भी साक्ष्य नहीं है।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

३५. शाक्त सम्प्रदाय

रुद्र-शिव-विषयक विचार को देखने के लिए हमने गृह्यसूत्र-पर्यन्त जिस वैदिक साहित्य का परीक्षण किया उसमें कहीं भी अभिभावक शक्ति से सम्पन्न किसी देवी का उल्लेख प्राप्त नहीं होता। हमें रुद्राणी, भवानी जैसे नाम प्राप्त होते हैं किन्तु ये मात्र व्युत्पन्न शब्द हैं और इनसे किसी स्वतन्त्र-शक्ति-सम्पन्न देवी के मत के विद्यमानता की सिद्धि नहीं होती। उमा भी एक देवता की पत्नी ही है और अपने पति के प्रभाव का अतिक्रमण नहीं करतीं। किन्तु महाभारत (भीष्म-पर्व, अध्याय २३) में कृष्ण के परामर्श से अर्जुन द्वारा की गई एक स्तुति है जिसमें उनसे भावी युद्ध में विजय प्रदान करने के लिए प्रार्थना की गई है। स्वयं यह स्तुति ही यह प्रदर्शित करती है कि जब इसकी रचना की गई थी तथा इसे कविता में निबद्ध किया गया था, उस समय तक दुर्गा को पहले ही ऐसा महत्त्व प्राप्त हो चुका था कि लोग उनकी आराधना अपनी कामनाओं की पूर्ति करने में समर्थ शक्ति-शालिनी देवी के रूप में करने लगे थे। जिन नामों से उन्हें संबोधित किया गया है, वे निम्न लिखित हैं—कुमारी, काली, कपाली, महाकाली, चण्डी कात्यायनी, कराला, विजया, कौशिकी, उमा तथा कान्तारवासिनी। विराटपर्व (अध्याय ६) में युधिष्ठिर कृत एक अन्य स्तुति भी है। यह स्तुति प्रमुख दाक्षिणात्य पाण्डु-लिपियों में नहीं है तथा सम्भवतः प्रक्षिप्त है, क्योंकि इसमें वही विषय-वस्तु है जो कि हरिवंश के एक ऐसे ही स्थल में है। इस स्तुति में जो बातें और विशेषण ध्यान देने योग्य हैं वे ये हैं :—उन्हें महिषासुरमर्दिनी कहा गया है, सुरा, मांस और पशु उन्हें रुचिकर हैं। वे यशोदा से उत्पन्न हुई थीं और उन्हें (कंस द्वारा) पत्थर पर पटका गया था, जिस पर वे स्वर्ग को चली गई थीं। वे नारायण की परमप्रिया कहलाती हैं तथा वासुदेव की भगिनी हैं। वे स्थायी रूप से विन्ध्याचल पर निवास करती हैं। हरिवंश (श्लोक ३२ ३६) में यह वर्णन किया गया है कि विष्णु पाताल लोक गए तथा कालरूपिणी निद्रा से यशोदा की पुत्री होने को कहा। उन्हें बतलाया गया कि वे कौशिकी होंगी तथा विन्ध्याचल में उनका स्थायी निवास होगा। वहाँ पर वे शुम्भ और निशुम्भ का वध करेंगी तथा पशु-मेधों द्वारा उनकी आराधना की जाएगी। आप्या

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

दुर्गा की एक स्तुति भी दी गई है जिसमें उन्हे शबरों, पुलिन्दों, बर्बरों, एवं अन्य वन्य जातियों की देवी तथा मदिरा और मांस में अनुराग रखने वाली बत-लाया गया है। मार्कण्डेय-पुराण (अध्याय ८२) के अनुसार महिषासुर का वध करने वाली देवी शिव, विष्णु तथा ब्रह्मदेव के प्रचण्ड तेज से बनीं और उनके विभिन्न अवयवों तथा अलङ्कारों की संरचना में सभी अन्य देवों का योगदान रहा। उन्हें चण्डी और अम्बिका भी कहा गया है। इससे आगे दिए गए विवरण के अनुसार शुम्भ एवं निशुम्भ का वध करने वाली देवी की उत्पत्ति का विवरण इस प्रकार है :—

शुम्भ और निशुम्भ नामक दैत्यों से पीडित देवगण हिमालय गये और देवी की स्तुति की। उसी समय पार्वती गङ्गा में स्नान करने के लिए आ निकलीं। तब पार्वती के शरीर से शिवा—जिन्हें अम्बिका भी कहते हैं—निकलीं और बोलीं कि शुम्भ और निशुम्भ के वध के लिए देवगण जिसकी स्तुति कर रहे हैं, वह मैं ही हूँ। क्योंकि वे पार्वती के शरीर के कोश से उद्‌भूत हुई थीं, अत एव वे कौशिकी कहलाईं। अम्बिका जब पार्वती के शरीर से निकलीं तो उनके शरीर का वर्ण कृष्ण हो गया और इससे उनका नाम, कालिका पड़ा। युद्ध के दौरान जब शुम्भ और निशुम्भ ने उन पर आक्रमण कर दिया तब उनका ललाट क्रोध से कृष्णवर्ण का हो गया तथा वहाँ से नर-मुण्ड-माला, व्याघ्र-चर्म एवं हाथ में खटवाङ्ग धारण किए हुए करालमुखी काली निकलीं। इन्होंने चण्ड और मुण्ड दैत्यों का वध किया और अम्बिका के समीप लौट आयीं। क्योंकि इन्होंने चण्ड और मुण्ड नामक दैत्यों का वध किया था अतः अम्बिका ने इनका नाम चामुण्डा रखा। ब्राह्मी, माहे-श्वरी, वैष्णवी, कौमारी, वाराही, नारसिंही एवं ऐन्द्री ये सात शक्तियां—जो उन उन देवों की शक्तियाँ हैं, जिनसे उनके नाम व्युत्पन्न हैं—उनकी विभूति बतलाई गई हैं। अन्त में देवी कहती हैं कि वैवस्वत मनु में वे विन्ध्याचल निवासिनी का स्वरूप धारण कर पुनः शुम्भ और निशुम्भ का वध करेंगी। वे अपने अन्य स्वरूपों का भी वर्णन करती हैं जिन्हें वे अन्य अवसरों पर ग्रहण करेंगी जैसे नन्दसुता, शाकम्भरी, भीमा, भ्रामरी आदि।

यहाँ पर दिए गए विवरण से यह दिखता है कि यहाँ देवी एक ही हैं जिसके अनेकों विभिन्न नाम हैं। किन्तु आलोचनात्मक दृष्टि से देखने पर यह प्रकट होगा ये केवल नाम-मात्र नहीं हैं अपितु ये विभिन्न देवियों के सूचक हैं जिनकी धारणाओं का उदय विभिन्न ऐतिहासिक परिस्थितियों में हुआ किन्तु

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

बाद में जिन्हें हिन्दुओं की सहज मानसिक प्रवृत्ति द्वारा एक देवी से अभिन्न मान लिया गया। सर्व प्रथम हमें उमा मिलती हैं, जो रक्षा करने वाली देवी हैं तथा शिव की भार्या हैं। तब हमें हिमावती और पार्वती नाम मिलते हैं, जो उमा के ही विशेषण हैं क्योंकि इनके पति भी गिरीश (पर्वत पर रहने वाले) ही थे तथा उमा भी पर्वत पर उत्पन्न हुई थीं। तदुपरान्त अरण्यों में रहने वाली विन्ध्याचलनिवासिनी देवियाँ हैं जिन्हें पशुओं किंवा मनुष्यों तक की बलि दी जाती थी, मदिरा की आहुति दी जाती थी तथा जो पुलिन्दों, शबरों और बर्बरों जैसी वन्य-जातियों द्वारा आराधित देवियां थीं। ये उग्र देवियां थीं तथा इनके नाम कराला, काली, चण्डी, चामुण्डा आदि थे। यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि प्रथम दो नाम उस समय अस्तित्व में आए होंगे जबकि प्राचीन काल में रुद्र को उस अग्नि से अभिन्न माना गया जिसकी ज्वालायें ही रुद्र की जिह्वायें थीं तथा इन ज्वालाओं के काली, कराली ये दो नाम तथा पांच अन्य नाम थे। उत्तरकालीन काली और कराली देवियों की उग्रता का कारण सम्भवतः अग्नि के साथ उनका अभेद था, बर्बर जातियों द्वारा उनका पूजित होना नहीं। किन्तु इस बात की पूरी सम्भावना है कि कराली और चामुण्डा को इस स्वरूप की प्राप्ति में इन दोनों ही तत्त्वों का योगदान रहा है। हम इस बात की आशा कर सकते हैं कि परवर्तीकाल में रुद्र की पत्नी की स्वरूप-रचना में आदिम-जातियों का योगदान उसी प्रकार रहा होगा जैसा कि प्राचीनकाल में स्वयं रुद्र की स्वरूप-रचना में इनका योगदान रहा—जैसा कि शतरुद्रीय में चित्रित है। इन देवियों की धारणा के उदय में तीसरा प्रबल तत्त्व शक्ति का तत्त्व है। इच्छा, क्रिया, सृष्टि, मोह आदि शक्तियों की कल्पना देवियों के रूप में की गई क्योंकि शक्ति शब्द स्त्रीलिङ्ग है। ऊपर उल्लिखित ब्राह्मी, माहेश्वरी आदि सात देवियों की उत्पत्ति शक्ति सम्बन्धी इसी धारणा से तथा सात देवों की शक्तियाँ होने से हुई। बाद में कुछ ब्राह्मण-कुलों की अपनी इष्ट-देवियां बन गईं, जैसे कात्यों में कात्यायनी और कुशिकों में कौशिकी। देवी का और भी आगे विकास हुआ, विशेषतया शक्ति की भावना के प्रभाव से। इस प्रकार हमें देवी के तीन रूप प्राप्त होते हैं जिनमें उसकी पूजा होती थी :—१ साधारण सौम्य रूप, जिसकी सामान्यतया पूजा की जाती है, २. उग्र रूप, जिसमें वह कापालिकों और कालामुखों के सम्प्रदायों से सम्बद्ध हो गई हैं और पशुओं तथा मनुष्यों की बलि चढ़ाई जाती थी तथा ३. कामात्मक रूप, इस रूप में उसकी पूजा शाश्वत सम्प्रदायानुयायी करते हैं जो शक्ति के उपासक होने के कारण शाक्त कहलाते हैं।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

इन विभिन्न स्वरूपों में देवी की आराधना का विधान जिन तन्त्रों में किया गया है उनका साहित्य अत्यन्त विशाल है। अब हम (हमारे द्वारा) कामात्मक कहे गए इन अनेक स्वरूपों में से एक एक स्वरूप पर आधारित सम्प्रदाय के सिद्धान्तों और विधियों की संरचना की समीक्षा करेंगे। इन सम्प्रदायों में देवी को आनन्द-भैरवी, त्रिपुर-सुन्दरी और ललिता कहा गया है। उनके निवास का वर्णन इस प्रकार है :—सुधा के सागर में पाँच देवतरु हैं। वहीं नीप या कदम्ब वृक्षों की पाँतें या घेरा है जिसके मध्य में एक मणि-मण्डप है। उस मण्डप में चिन्तामणि से निर्मित एक प्रासाद स्थित है, जिसमें त्रिपुर-सुन्दरी महा-ईशानी एक पर्यङ्क पर आसीन हैं। शिव, सदाशिव और महेशान उनके मञ्च, पर्यङ्क और उपबर्हण हैं तथा ब्रह्मदेव, हरि, रुद्र और ईश्वर मंच के पैर हैं। वहाँ पर महेश्वर-सार[1] में निहित कतिपय कार्यों को पूरा करने वाली आत्माएं भी हैं। मण्डल की कतिपय मूर्तियों तथा पारिभाषिक शब्दों का यह प्रतीकात्मक अर्थ है। इस प्रकार देवी को सर्वोच्च स्थिति प्रदान की गई है। आनन्द-भैरव या महा-भैरव (यह नाम शिव के लिए दिया गया है), कालव्यूह, कुलव्यूह, नामव्यूह, ज्ञानव्यूह, चित्तव्यूह (अहंकार, चित्त-बुद्धि, महद् और मन) इन नौ व्यूहों की आत्मा हैं अथवा वे इन नौ व्यूहों से निर्मित हैं। महाभैरव ही देवी की आत्मा हैं। अतएव देवी भी इन नौ व्यूहों की आत्मा हैं अथवा इन नौ व्यूहों से निर्मित हैं। अतएव दोनों ही एक सत्ता हैं। उनमें जब सामरस्य होता है, तब सृष्टि होती है किन्तु सर्जन-प्रक्रिया के दौरान नारी तत्त्व या महाभैरवी तथा संहार-प्रक्रिया में महाभैरव का प्राधान्य रहता है।[2]

शाम्भव-दर्शन के—जिस प्रकार शाक्तों के विधि-विधान आधारित बतलाए जाते हैं—दार्शनिक सिद्धांत ये हैं[3] :—शिव और शक्ति आद्य तत्त्व हैं। शिव प्रकाश के रूप में विमर्श या स्फूर्ति स्वरूपा शक्ति में प्रविष्ट होते हैं तथा विन्दु का स्वरूप ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार शक्ति शिव में प्रविष्ट होती है,

---

१. सौन्दर्य-लहरी, लक्ष्मीधर की टीका सहित, मैसूर-संस्करण। द्रष्टव्य श्लोक ८ और ९२ की टीका।

२. वही, श्लोक ३४

३. १८८३-८४ की मेरी 'रिपोर्ट ऑन दि सर्च फॉर संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स,' के पृ० ८९-९१ में दिए गए विषय से।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

जिससे विन्दु का विकास होता है और इससे नाद नामक नारी तत्त्व निर्गत होता है। विन्दु और नाद, ये दोनों संयुक्त होकर मिश्र-विन्दु बन जाते हैं और यही तत्त्व स्त्री-पुरुष के गाढ़ सायुज्य का प्रतिनिधित्व करता है तथा काम कहलाता है। पुनः विन्दु दो हैं। इनमें से एक श्वेत है और पुरुष-तत्त्व का प्रतीक है तथा दूसरा जो कि रक्त है, स्त्री-तत्त्व का प्रतीक है। ये ही (विन्दु) कलाएं हैं। श्वेत, रक्त और मिश्र ये तीनों बिन्दु मिलकर एक हो जाते हैं और कामकला नामक तत्त्व बन जाते हैं। इस प्रकार यहाँ चार शक्तियों का सामरस्य है :—

१. मूल बिन्दु—जो उस सामग्री का प्रतीक है जिससे जगत् का निर्माण होता है,

२. नाद—जिस पर बिन्दु के विकास से उद्‌भूत तत्त्वों का नामकरण निर्भर है। विन्दु और नाद दोनों में उत्कट प्रेम है। किन्तु केवल इतने से ही सृष्टि का आरम्भ नहीं होता। वे केवल वस्तुओं और वाक् के उपादान हैं। अतएव इनमें उत्पादकता तभी आती है जबकि इनके साथ—

३. श्वेत पुरुष-विन्दु (जो स्वयं उत्पादन नहीं कर सकता) तथा

४. रक्त स्त्री-बिन्दु रूप में दो उत्पादक शक्तियों का योग होता है। जब ये चारों तत्त्व मिलकर एक कामकला तत्त्व का रूप ग्रहण करते हैं तभी वागर्थमय सृष्टि का आरम्भ होता है। कुछ लोगों के अनुसार जब नारी-तत्त्व पहले पहल विन्दु में प्रविष्ट होता है उस समय नाद के साथ-साथ हार्धकला नामक एक अन्य तत्त्व का भी विकास होता है। एक विशिष्ट ग्रन्थ में सर्वोच्च देवी कामकला को सूर्य (संयुक्त विन्दु) रूपी मुख, अग्नि एवं चन्द्र। (रक्त और श्वेत-विन्दु) रूपी स्तनों तथा हार्धकला रूपी योनि से समन्वित बतलाया गया है। इस दृष्टिकोण मे एक योनि का भी प्राविधान है जिससे सृष्टि निकलती है। इस प्रकार से संगठित स्वरूप वाली देवी सृष्टि करने वाली है तथा वही सर्वोच्च देव है तथा परा, ललिता, भट्टारिका, तथा त्रिपुरसुन्दरी कहलाती है। प्रतीकात्मक रूप से शिव को 'अ' अक्षर से तथा शक्ति को संस्कृत वर्णमाला के अन्तिम अक्षर 'ह' से अभिन्न बतलाया गया है। इस ह् को अर्धकला कहा गया है। इसलिए उपर्युक्त स्त्रीतत्त्व या योनि को ह् अक्षर के आकार का अर्धभाग (हार्धकला) कहा गया है। यह अर्धकला अथवा 'ह्' शिव-वाचक 'अ' के साथ मिलकर कामकला या त्रिपुर-

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

सुन्दरी का प्रतीकात्मक रूप है जो शिव और शक्ति के संयोग का फल है। इस प्रकार उन्हें 'अहम्' कहा जाता है तथा वे स्वयं भी अहम् या व्यक्तित्व से युक्त हैं। इसीलिए उससे होने वाले सभी विकास अर्थात् सारी सृष्टि अहं-कार से युक्त है। सभी आत्मायें त्रिपुरसुन्दरी की रूप-मात्र हैं तथा देवी-चक्र सहित कामकलाविद्या का अध्ययन और आचरण करने के उपरान्त वे सभी त्रिपुर-सुन्दरी हो जाती हैं। 'अ' और 'ह्' अक्षर क्योंकि वर्णमाला के प्रथम और अन्तिम अक्षर हैं और सभी वर्ण किंवा उनके माध्यम से सभी शब्द अर्थात् सम्पूर्ण वाक् ही इनके अन्तर्गत है और जैसे समस्त पदार्थों का उद्भव त्रिपुर सुन्दरी से होता है वैसे ही उन अर्थों के व्यञ्जक सभी शब्द भी उन्हीं से उत्पन्न हैं। इस प्रकार उन्हें चार प्रकार की वाणियों में प्रथम वाणी परा कहते हैं। सर्जन परिणाम है, विवर्त नहीं। यह शाम्भवदर्शन है। यहाँ यह सु-स्पष्ट है कि यद्यपि प्रारम्भ में यह दर्शन पुरुष-तत्त्व को स्वीकार करता है फिर भी यह पुराणतत्त्व पूर्णतया स्त्री-तत्त्व से अभिभूत है और यह स्त्री तत्त्व ही प्रधान है तथा इसमें सर्वोच्च-देव एक देवी त्रिपुरसुन्दरी है। इस मत को मानने वाले प्रत्येक व्यक्ति को यही आकांक्षा रहती है कि मैं त्रिपुरसुन्दरी से अभिन्न हो जाऊं तथा उसके धार्मिक अभ्यासों में एक अभ्यास इस बात के चिन्तन का भी है कि मैं एक स्त्री हूँ। इस प्रकार शक्ति-सम्प्रदाय के अनुयायियों के इस विश्वास से उनके नामकरण का औचित्य सिद्ध हो जाता है[1] कि ईश्वर स्त्रीरूप है, अतएव सभी का उद्देश्य यही होना चाहिए कि वे स्त्री हो जाएं।

निष्ठा-पूर्ण पूजा की दीक्षा ग्रहण करके त्रिपुरसुन्दरी की आराधना की जाती है तथा उन्हें प्राप्त भी किया जाता है। यह दीक्षा तीन प्रकार की है —प्रथम दीक्षा में महापद्मवन में शिव के अङ्क पर आसीन विशुद्ध आनन्द-विग्रह से युक्त, सभी पदार्थों की मूल कारण तथा आत्मा से अभिन्न रूप में देवी का ध्यान मन में करना होता है। द्वितीय दीक्षा चक्र पूजा है, जो कि बाह्य पूजा (बाह्य-याग) है तथा तीसरी दीक्षा में यथार्थ सिद्धान्त का अध्ययन एवं ज्ञान आता है। चक्र-पूजा का शाक्त-सम्प्रदायों में अत्यन्त महत्त्व है। इनमें नौ योनियों के मण्डल के मध्य में बनाए गए योनि के चित्र की पूजा करनी होती है। यह पूरा मण्डल श्रीचक्र[1] कहलाता है। ये चित्र किसी भोज-पत्र, रेशमी वस्त्र अथवा स्वर्ण-पत्र पर बनाये जाते हैं। इस पूजा के सिलसिले में यह

---

१. सौन्दर्यलहरी ५.४१ टीका

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

बात भी ध्यान रखने की है कि शाक्तों में दो श्रेणियां हैं :—

१ कौलिक २ समयिन्।

इनमें प्रथम स्थूल भौतिक पदार्थ की पूजा करते हैं जबकि दूसरे काल्पनिक रूप को पकड़ते हैं। अभी अभी उल्लिखित मण्डलों की पूजा पूर्व कौल (प्राचीन कौल) करते थे जबकि उत्तर कौल (आधुनिक कौल) जीती जागती सुन्दरी नारी की योनि की पूजा करते हैं। कौल लोग अपनी देवी की पूजा मदिरा, मांस, मधु, मत्स्य तथा ऐसी ही अन्य वस्तुओं द्वारा करते हैं और फिर इन वस्तुओं को स्वयं ग्रहण करते हैं। किन्तु समयिन् इस प्रकार की पूजा से दूर रहते हैं। ब्राह्मण तक गुप्त रूप से शाक्त-संप्रदाय के सिद्धान्तों का प्रचार करते हैं तथा त्रिपुर-सुन्दरी देवी की पूजा पूर्व कौल या उत्तर कौल विधियों से करते हैं। भैरवी-चक्र की पूजा के समय जाति का भेद नहीं रह जाता। सभी जातियों के लोग ब्राह्मण हो जाते हैं किन्तु जैसे ही पूजा का अन्त होता है कि वे पुनः अपनी अपनी जाति के बन जाते है।[1] साधारण धार्मिक ग्रन्थों में उल्लिखित ललिता और उपाङ्ग ललिता नामक देवियों की पूजा की अन्य सरल एवं शिष्ट विधियों का भी वर्णन है। उपाङ्ग-ललिता की पूजा आश्विन शुल्क-पक्ष की पञ्चमी और ललिता की पूजा प्रथम दस दिनों में सम्पन्न होती है। स्त्रियों द्वारा पूजित होने पर उपाङ्गललिता उनके वैधव्य का निवारण करती हैं।[2]

---

१. ऑफ्रेक्त' का ऑक्सफोर्ड कैटलाग, पृ० ९२ टि०

२. द्रष्टव्य हेमाद्रि, व्रतखण्ड

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

३६. गाणपत्य सम्प्रदाय

रुद्र के पास मरुतों के समूह हैं जो कि उनके गण कहलाते हैं तथा इन गणों के नायक गणपति थे। जैसा कि हम देख चुके हैं रुद्र नाम को एक सामान्य नाम बना दिया गया तथा यह मूल रुद्र जैसी प्रकृति वाले अनेक सत्त्वों का बोधक बन गया। इसी प्रकार गणपति नाम को भी सामान्य नाम बना दिया गया तथा इसका अर्थ गुण अथवा समुदायों का नायक हो गया। आत्मा-वाचक एक अन्य नाम विनायक भी प्रयोग में आया। अथर्वशिरस् उपनिषद् में रुद्र को अनेक देवों या आत्माओं से अभिन्न बतलाया गया तथा इन्हीं में एक विनायक भी हैं। महाभारत (अनुशासनपर्व १५१ श्लोक २६) में गणेश्वरों और विनायकों का उल्लेख उन देवों के मध्य किया गया है जो मनुष्यों के कर्मों का निरीक्षण करते हैं तथा सर्वत्र विद्यमान हैं तथा इसी में पुनः (श्लोक ५७) विनायकों को स्तुत होने पर मनुष्यों के समस्त अनिष्टों को हटाने वाला कहा गया है। गणेश्वर, गणपति या विनायक को यहाँ पर शतरुद्रीय में गणपति के वर्णन के समान संख्या में अनेक और सर्वत्र विद्यमान बतलाया गया है। मानव गृह्यसूत्र (२,१४) में विनायकों का विवरण दिया गया है। संख्या में वे चार हैं तथा इनके नाम (१) शालकटंकट, (२) कूष्माण्ड राजपुत्र, (३) उस्मित और (४) देवयजन हैं। इनसे ग्रसित होने पर व्यक्ति जमीन को कूटता है, घास काटता है, अपने शरीर पर लिखता है एवं स्वप्न में जल, मुण्डित व्यक्ति, उष्ट्र, सूकर तथा गर्दभ आदि देखता है, वह यह अनुभव करता है जैसे कि वह आकाश में उड़ रहा हो और जब चलता है तब उसे लगता है जैसे कि कोई उसका पीछा कर रहा है। इसके अतिरिक्त इनसे ग्रसित होने पर राजकुमार को राज्य प्राप्त नहीं होता, हालांकि वह राज्य करने योग्य रहता है। कन्याओं को वर नहीं मिलते, भले ही वे अभीप्सित गुणों से समन्वित हों और सक्षम रहने पर भी स्त्रियों को बच्चे नहीं होते। अन्य स्त्रियों की सन्तानें मर जाती हैं। अध्यापन के लिए समर्थ विद्वान् अध्यापक को शिष्य प्राप्त नहीं होते और छात्रों के मार्ग में अनेक विघ्न और अवरोध उपस्थित हो जाते हैं। व्यापार तथा कृषि विफल हो जाती है। जिस व्यक्ति में इनसे ग्रसित होने के ऐसे चिह्न दिखलाई पड़ते

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

हैं उसे चार-स्थानों से लाए गए जल में चारों विभिन्न दिशाओं से गृहीत मृत्तिका को डाल कर स्नान कराया जाता है। स्नान के उपरान्त तुरन्त निकाले गए सरसों के तेल की आहुतियाँ उदुम्बर (ऊमर) वृक्ष से निर्मित ध्रुवा से चारों विनायकों को दी जानी चाहिएँ तथा उस व्यक्ति के शिर पर तेल डालना चाहिए। तदुपरान्त धान और चावल, पकी और कच्ची मछली, तरह तरह की दालों और अन्य वस्तुओं के विविध प्रकार के भोजन को एक टोकरी में रख कर इस टोकरी को चौराहे पर रख देते हैं परन्तु वहाँ की भूमि में पहले कुश बिछा दिया जाता है। तदुपरान्त प्रेतात्माओं सहित अनेक देवों का आह्वान किया जाता है और यह इच्छा व्यक्त की जाती है कि वे स्वयं सन्तुष्ट हों और सन्तुष्ट होकर आराधक को सन्तुष्ट करें। यह वह संस्कार या विधि है जिसके करने से विनायकों द्वारा ग्रसित व्यक्ति छुटकारा पा जाता है।

अपनी स्मृति में (१,२७१) याज्ञवल्क्य ने यही विधान प्रायः इन्हीं शब्दों में दिया है। किन्तु इसमें यह विधान कुछ अधिक विकसित या जटिल रूप में दिखलाई पड़ता है। वे यह कहते हुए इसका वर्णन प्रारम्भ करते हैं कि रुद्र और ब्रह्मदेव ने विनायक को गणों के नायक पद पर नियुक्त किया (अर्थात् उन्हें गणपति बना दिया) तथा उनके लिए लोगों के कार्यों में कठिनाइयाँ खड़ी करने तथा रुकावटें डालने के काम निर्धारित कर दिए। स्मृति में केवल एक ही विनायक को सम्बोधित किया गया है किन्तु सूत्र में आए हुए चार नामों के स्थान में ये छः नाम दिए गए हैं:— (१) मित, (२) सम्मित, (३) शाल, (४) कटंकट, (५) कूष्माण्ड और (६) राजपुत्र तथा इन्हें एक ही विनायक के छः भिन्न भिन्न नाम बतलाया गया है। विभिन्न प्रकार के भोजनों से युक्त टोकरी को तैयार करने के उपरान्त विनायक की माता अम्बिका की वन्दना करने का निर्देश भी दिया गया है।

सूत्र में विद्यमान विधान का स्वरूप निश्चित रूप से अन्य कृति में विद्यमान विधान की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। किन्तु दोनों के मध्य जो अन्तर है वह यह प्रदर्शित करता है कि सूत्र और स्मृति की रचना के मध्य जो समय बीता था उसमें चार विनायक, एक गणपति-विनायक हो गए थे और अम्बिका को उनकी माता माना जाने लगा था। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि गणपति विनायक मूल रूप से अमैत्रीपूर्ण या अनिष्टकारी देव हैं किन्तु आराधक विधानों द्वारा वे मैत्रीपूर्ण या कल्याणकारी बन सकते हैं। इस पक्ष की दृष्टि से उनका स्वयं रुद्र से साम्य है। विनायक ईसवीय संवत् से पूर्व ही लोगों के उपासना की पात्र या विषय बन चुके थे, यह निष्कष गृह्यसूत्र में ऊपर

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

उल्लिखित विधान के विद्यमान होने से ही निकलता है । किन्तु अम्बिका के सुत गणपति-विनायक का हिन्दू देवमण्डल में प्रवेश काफी बाद में हुआ । जिन गुप्त[1] अभिलेखों का मैंने कभी पहलेपरीक्षण किया है उनमें से किसी में भी न तो उनके नाम का उल्लेख किया गया है और न उनके सम्मान में प्रदत्त किसी दान का ही । किन्तु एल्लोरा के दो गुफा-मन्दिरों में काल, काली, सप्तमातृका और गणपति की सामूहिक मूर्तियां हैं ।[2] इन गुफाओं को आठवीं सदीके उत्तरार्द्ध का बतलाया जाता है । अतएव पांचवीं सदी के अन्त तथा आठवीं सदी के अन्त के मध्यकाल में गणपति-उपासना आचरित होने लगी तथा याज्ञवल्क्य की स्मृति छठी सदी से पूर्व नहीं लिखी गई होगी । गणपति-पूजा के प्रचलन को सूचित करने वाला एक अन्य अभिलेख तथा एक प्राचीन मूर्ति जोधपुर से २२ मील पश्चिमोत्तर में स्थित घटियाला नामक स्थान में मिली है । इसमें एक स्तम्भ है जिसमें चारों दिशाओं की ओर मुख किए हुए गणपति की चार मूर्तियाँ हैं । इसमें खुदे हुए अभिलेख के प्रथम वाक्य में विनायक की वन्दना की गई है । इस अभिलेख की तिथि वि० सं० ९१८ तदनुसार ८६२ ई० है ।[3]

यह निर्धारित कर सकना कठिन है कि यह देवता गज के आनन वाला कब और कैसे बना ? एल्लोरा के गुफा-मन्दिरों की प्रतिमाओं में यह मुख है तथा आठवीं सदी के प्रारम्भ में भवभूति ने भी अपने मालती-माधव नाटक के नान्दी-श्लोक में उनका वर्णन ऐसे आनन से युक्त देव के रूप में किया है । रुद्र-शिव तथा उनसे सम्बद्ध देवों का वनों एवं वन्य प्रदेशों के साथ घनिष्ट सम्बन्ध था, जिनमें गज भी पाए जाते हैं । रुद्र तथा अपने एक रूप में उनकी शक्ति द्वारा धृत चर्म हाथी का है । सम्भव है कि मूलतः अनिष्टकारी देवता के शरीर के ऊपर गज का आनन रख देने की बात कुछ लोगों की कल्पना में बड़ी जंची होगी । बुद्धि के लिए गणपति की ख्याति मेरे विश्वास से उनके और बृहस्पति के मध्य सम्भ्रम हो जाने से हुई होगी, जिन्हें ऋग्वेद २,२३,१ में गणपति कहा गया है । बृहस्पति वस्तुतः बुद्धि के वैदिक कालीन देवता हैं तथा वे ऋषियों के भी ऋषि कहलाते हैं ।

---

१. जे० बी० बी० आर० ए० एस० भाग २०, पृ० ३५६ तथा आगे इसमें मेरा "पीप इन्टू दि आर्मी हिस्ट्री ऑफ इण्डिया" द्रष्टव्य ।

२. फरगुसन और बर्जेस, केवटेम्पुल्स, रावण की खाई और रामेश्वर मन्दिर ।

३. एपि० इण्डि०, भाग ९, पृ० २७७ तथा आगे ।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

आनन्दगिरि या अनन्तानन्दगिरि (जैसा कि कभी कभी उन्हें कहा गया है) ने अपने शङ्करदिग्विजय में तथा माधव के शङ्करदिग्विजय की अपनी टीका में धनपति ने गाणपत्य-सम्प्रदाय के छः प्रभेदों का उल्लेख किया है। पहले प्रभेद में महागणपति की उपासना करने वाले लोग आते हैं। उन लोगों के अनुसार महागणपति स्रष्टा हैं, तथा प्रलय काल में ब्रह्मदेव आदि के विनष्ट हो जाने पर केवल वे ही शेष रह जाते हैं। उनका ध्यान एक दांत वाले विशिष्ट आनन से युक्त तथा अपनी शक्ति द्वारा आलिङ्गित रूप में किया जाना चाहिए। अपनी अद्भुत शक्ति से वे ब्रह्मदेव आदि की रचना करते हैं। जो मूल-मन्त्र का जप करता है तथा इन गणपति का ध्यान करता है वह परमानन्द को प्राप्त करता है। शंकराचार्य के सामने इन सिद्धान्तों के वर्णन करने वाले व्यक्ति का नाम गिरिजासुत दिया गया है।

इसके बाद अन्य उपदेशक आते हैं। इनका नाम गणपति-कुमार है तथा वे हरिद्रा-गणपति के आराधक हैं। वे अपना आधार ऋग्वेद के २,२३,१ को बनाते हैं तथा इसका प्रतिपादन इस अर्थ में करते है :—"हम तुम्हारा ध्यान करते हैं; तुम रुद्र, विष्णु, ब्रह्मा, इन्द्र, आदि के गणों के पति हो; तुम भृगु, गुरु, शेष आदि ऋषियों के उपदेष्टा हो; तुम शास्त्रज्ञों में सर्वोपरि हो, तुम जगत् की सृष्टि में लगे हुए ब्रह्माओं के सर्वोच्च पति हो अर्थात् सृजन आदि के कार्यों में ब्रह्मा एवं अन्य देवों द्वारा तुम आराधित हो"। पीत कौशेय परिधानों को धारण किए हुए, पीत यज्ञोपवीतधारी चतुर्भुज, त्रिनेत्र और सिन्दूर से लिप्त मुख वाले, पाश, अङ्कुश तथा दण्ड को अपने करों में धारण किए हुए गणपति की पूजा एवं ध्यान करना चाहिए। जो कोई इस रूप में गणपति की पूजा करता है वह मुक्ति प्राप्त करता है। गणपति समस्त जगत कारण हैं तथा ब्रह्मा आदि उसी के अंश हैं। इस गणपति के आराधक को अपनी दोनों भुजाओं पर गरम लोहे द्वारा गणपति के आनन और दांत को दगवाना चाहिए।

तदुपरान्त हेरम्बसुत आए, जो उच्छिष्ट गणपति के आराधक थे। इस प्रभेद के अनुयायी वाममार्गी थे, जिसकी स्थापना सम्भवतः शक्ति-पूजा के कौलाचार के अनुकरण पर हुई थी। इस गणपति का वह रूप अत्यन्त अश्लील है। इस सम्प्रदाय के अनुयायियों में जाति का कोई भेद-भाव नहीं माना जाता। विवाह जैसी मर्यादाओं के प्रतिबन्ध का पालन नहीं किया जाता। स्वच्छन्द कामाचार और मदिरा-पान की भी छूट है। अनुयायी को अपने भाल पर रक्त-चिह्न लगाना चाहिए। सन्ध्यावन्दनादि सदृश समस्त विधि-विधान व्यक्ति की अपनी इच्छा पर छोड़ दिए गए हैं।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

नवनीत, स्वर्ण तथा संतान इन अन्य तीन गणपतियों के अनुयायी अपने देवता की पूजा श्रौत-विधि (जैसा कि वे इसे कहते हैं) के अनुसार करते हैं। परन्तु क्योंकि गणपति का पूजन प्रत्येक धार्मिक-कृत्य के प्रारम्भ में किया जाता है अतः वे ही प्रधान देवता हैं तथा अन्य सारे देवता उन्हीं के अंश हैं। इसी रूप में गणपति की पूजा की जानी चाहिए। उनके उपासक सारे जगत् को गणपतिमय देखते हैं और इसी रूप में उनकी पूजा भी करते हैं।

क्योंकि गणपति-विनायक देवता का प्रचलन छठी सदी के लगभग हुआ था अतः यह संदिग्ध है कि क्या शङ्कराचार्य के समय में ये अनेक सम्प्रदाय विद्यमान थे? भुजाओं पर अपने देवता के आनन और दांत दगवाने की इनकी प्रथा जैसी चीज माध्व वैष्णवों में भी थी किन्तु इससे यह सूचित तो नहीं होता कि इस सम्प्रदाय का उदय कब हुआ? किन्तु किसी सम्प्रदाय-विशेष से सम्बन्ध न रखते हुए गणपति की पूजा किसी भी धार्मिक विधान के प्रारम्भ में या विशेष अवसरों पर लगभग सभी हिन्दू करते हैं। मृत्तिका-निर्मित उनकी प्रतिमा की पूजा मराठा देश में भाद्रपद मास की शुक्लपक्ष की चतुर्थी के दिन बड़े धूमधाम से की जाती है तथा पूना के पास चिञ्चवाड़ में केवल गणेश की पूजा के लिए एक विशिष्ट प्रतिष्ठान ही है।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

३७. स्कन्द या कार्त्तिकेय

एक अन्य देव, जिसकी पूजा प्राचीन भारत में व्यापक-रूप से की जाती थी, किन्तु अब अत्यल्प हो गई है, स्कन्द या कार्त्तिकेय हैं। सामान्य विश्वास यह है कि वे शिव और पार्वती के पुत्र थे। किन्तु रामायण (१ अध्याय ३७) में वे अग्निदेव और गङ्गा के पुत्र के रूप में वर्णित हैं। गङ्गा ने भ्रूण को हिमवान् पर्वत पर फेंक दिया तथा छः कृत्तिका नक्षत्रों ने इसका पोषण किया और इसी लिए वे कृत्तिकाओं के पुत्र या कार्त्तिकेय कहलाए। महाभारत (वनपर्व अध्याय २२९) में उन्हें अग्नि का पुत्र बतलाया गया है किन्तु उनकी माता अग्नि की अपनी पत्नी स्वाहा को बतलाया गया है जिसने छः ऋषियों की पत्नियों के स्वरूप ग्रहण कर लिए थे और जिन्हें अग्नि प्रेम करते थे। किन्तु यहाँ पर उन्हें शिव का भी पुत्र कहा गया है क्योंकि अग्नि इन्हीं के एक रूप हैं। शिव और पार्वती को इनका माता-पिता बतलाने वाली अन्य कहानियाँ भी हैं। किन्तु आख्यानक कुछ भी रहे हों, इस बारे में तो कोई सन्देह नहीं कि वे शिव के साथ सम्बद्ध थे तथा उनके एक गण के नायक थे। (लिङ्गायत सम्प्रदाय विषयक खण्ड में जिसे बतलाया जा चुका है ऐसी) एक अनुश्रुति लिङ्गायत-सम्प्रदाय में प्रचलित है कि वे एक गोत्र के संस्थापक थे और स्वयं शिव के ही स्वरूप थे। वाहन के रूप में मयूर के साथ उनका सम्बन्ध भी उनके शिव से सम्बद्ध होने के ही अनुरूप है क्योंकि मयूर उन वनों में पाए जाते हैं जिनके देवता रुद्र तथा उनके अनुचर-गण हैं। उनके देव-सेनापति होने के विचार का उदय सम्भवतः रुद्र के गणों के नायक होने से हुआ। ऐतिहासिक काल में भी वे शिव से सम्बद्ध रहे हैं। पाणिनि के ५।३।९९ सूत्र के भाष्य में पतञ्जलि ने शिव, स्कन्द तथा विशाख की प्रतिमाओं का उल्लेख किया है जिनकी उनके काल में पूजा की जाती थी। कुषाण नृपति कनिष्क की मुद्राओं के पृष्ठ-भाग में यूनानी अक्षरों में स्कन्दो, महासेनो, कोमारो और बिजागो नामों के सहित कुछ आकृतियाँ पाई जाती है। प्रथम आकृति वाले देव स्कन्द हैं और क्योंकि वे देव-सेनापति थे अतः वे महासेन भी कहलाए, जो कि मुद्रा का द्वितीय नाम है। तृतीय नाम कुमार है जो स्कन्द का नाम है तथा चतुर्थ नाम संस्कृत का विशाख ही है। यदि प्रथम तीन केवल किसी एक ही देवता के होते तो फिर

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

तीन नामों तथा तीन आकृतियों के देने की क्या आवश्यकता थी ? अतएव इन्हें तीन तीन भिन्न-भिन्न देवता माना जाता रहा होगा। यहाँ पर विशाख निश्चित ही पतञ्जलि द्वारा स्कन्द से पृथक् विशाख का उल्लेख किए जाने से ही उल्लिखित है। उपरि निर्दिष्ट महाभारत के आख्यान में विशाख का उल्लेख इन्द्र के वज्र द्वारा प्रहृत होने पर स्कन्द के दक्षिण पार्श्व से उत्पन्न देव के रूप में हुआ है। यह कथा दो व्यक्तियों को एक करने की प्रवृत्ति की सूचक है तथा आगे चल कर उन्हें ऐसा ही बना दिया गया। अथवा इस तथ्य को देखते हुए कि मुद्राओं में बुद्ध के दो नाम मिलते हैं इन तीनों को किसी एक देवता का नाम माना जा सकता है। प्रारम्भिक काल में स्कन्द या महासेन की आराधना के प्रचलित होने के अन्य सङ्केत भी प्राप्त होते हैं। ४१४ ई० में ध्रुवशर्मा ने विलसाड[1] में स्वामि-महासेन के मन्दिर में एक प्रतोली बनवाई थी। हेमाद्रि के व्रत-खण्ड में कुमार और कार्त्तिकेय के नामों से अनेक पवित्र-विधानों तथा व्रतों को बतलाया है और इस देवता की पूजा तो आज भी उच्छिन्न नहीं हुई है।

---

१. जे० बी० बी० आर० ए० एस०, भाग २०, पृ० ३८५

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

३८. सौर-सम्प्रदाय एवं औदीच्य सूर्योपासना

आकाश में दृष्ट प्रभामण्डल के रूप में सूर्य एक वैदिक देवता थे, प्रकाश के काल्पनिक देवता के रूप में नहीं। ऐसे देवता की पूजा उत्तर काल में लुप्त नहीं हुई, यह आशा करना सर्वथा युक्तियुक्त ही है, क्योंकि सूर्य के प्रभामण्डल का दर्शन आकाश में प्रतिदिन होता है। ऋग्वेद के दो स्थलों (७,६०,१; ६२,२) में स्तुतिकर्ता ने सूर्य से यह कामना व्यक्त की है कि वह मित्र, वरुण एवं अन्य देवों को हमें निष्पाप बतलाएं। यह विचार सम्भवतः इस तथ्य से उदित हुआ कि उदीयमान सूर्य अपनी चमकीली प्रभा द्वारा उन सभी बातों को प्रकाशित कर देता है जिन्हें पूर्ववर्तिनी रात्रि के अन्धकार में किया गया है और इसी से इस विश्वास का भी विकास हुआ कि सूर्य पापों को नष्ट करते हैं। कौषीतिकी के बारे में यह बतलाया गया है कि उसने प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल सूर्य की पूजा की तथा पुष्प, चन्दन सहित जल अथवा केवल अर्घ्य देकर अपने पापों के निवारण के लिए उनकी स्तुति की (कौ० ब्रा० उप० २,७)। सान्ध्य तथा मध्याह्न उपासनाओं में हम यही करते हैं या हम से यही करने की अपेक्षा रखी जाती है। सूर्य, मन्यु और मन्युपति आराधक की रक्षा पापों से करें, इस कामना के अभिव्यञ्जक मन्त्र का पाठ करते हुए आचमन किया जाता है (आ० गृह्य० परिशिष्ट १,३, तै० आ० १०,२५.१)। इसके बाद गायत्री का जप करने के उपरान्त सूर्य की सहायक सामग्री के साथ या इसके बिना भी जल के तीन अर्घ्य दिए जाते हैं और तब आराधक "वह आदित्य ब्रह्म है"[1] इस मन्त्र का जप करते हुए अपने मस्तक के चारों ओर पानी को फिराता है। आश्वलायन ने यह निर्देश दिया है कि प्रातःकालीन संध्योपासना में पूर्वाभिमुख आराधक को सूर्य के पूर्ण-प्रभामण्डल के उदित होने तक गायत्री का जप करते रहना चाहिए तथा सायंकालीन संध्या में पश्चिमाभिमुख होकर तब तक गायत्री का जाप करते रहना चाहिए जब तक समस्त प्रभामण्डल पूरी तरह डूब न जाए और तारों का निकलना प्रारम्भ न हो जाए (आ० गृ० ३.७.४-६)। उपनयन संस्कार में, जब कि बालक को यज्ञोपवीत और विद्यार्थी जीवन के अन्य चिह्न प्रदान किए जाते हैं, तब उसे

---

१. असौ आदित्यो ब्रह्म

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

सूर्य का प्रभा-मण्डल दिखलाया जाता है। उस समय आचार्य सूर्य को सम्बोधित करते हुए उनसे प्रार्थना करता है "हे सविता! यह तुम्हारा ब्रह्मचारी है, इसकी रक्षा करो, यह मरने न पाए (आ० गृ० सू० १,२०,६)। खादिरगृह्यसूत्र में सम्पत्ति के भोग तथा यश की प्राप्ति के निमित्त सूर्य की आराधना का विधान किया गया है (४,१,१४ एवं २३)। अपने वन-आवास में प्रवेश के उपरान्त सूर्य के लिए युधिष्ठिर द्वारा सम्बोधित स्तुति तथा उनके, उनके परिवार और उनके अनुचरों द्वारा इच्छित भोजन तैयार कर देने वाला एक पात्र सूर्य द्वारा दिए जाने की बात सु-विदित है। सातवीं सदी में मयूर—जो कि हर्षवर्धन के दरबार में थे—ने श्वेत-कुष्ठरोग से मुक्ति पाने के लिए सौ श्लोकों (सूर्य-शतक) की रचना की थी। आठवीं सदी के प्रारम्भ-काल के लगभग भवभूति ने मालतीमाधव के सूत्रधार द्वारा अपने समस्त दुरितों के अपनयन तथा कल्याण के लिए उदीयमान सूर्य की स्तुति कराई है। इस प्रकार 'वैदिक काल से ही धन, अन्न, यश, स्वास्थ्य तथा अन्य कल्याणों की प्राप्ति के निमित्त सूर्य की उपासना होती रही है। आजकल सूर्य के बारह नामों का जप करते हुए बारह बार साष्टाङ्ग प्रणाम किया जाता है। ये सभी नाम संस्कृत व्युत्पत्ति वाले हैं तथा उनमें कोई विदेशी तत्त्व दिखलाई नहीं पड़ता। ऐसे साष्टाङ्ग प्रणामों का अधिक विस्तृत वर्ग भी है।

अत एव इस बात की आशा सहज ही की जा सकती है कि सूर्य की स्वतन्त्र आराधना के निमित्त कोई सम्प्रदाय अस्तित्व में आ गया होगा। आनन्दगिरि ने दक्षिण में सुब्रह्मण्य नामक एक ऐसे स्थान में, जो अनन्तशयन या त्रिवेन्द्रम् से चौदह दिनों की यात्रा करने योग्य दूरी पर स्थित है, सौर-सम्प्रदाय के अनुयायियों से शङ्कराचार्य की भेंट कराई है। उनके आचार्य का नाम दिवाकर था तथा अपने भाल पर वे रक्तचन्दन की चपटी टिपकी लगाते थे और रक्त पुष्पों को धारण करते थे। दिवाकर ने इस सम्प्रदाय का जो विवरण दिया है उसका सारार्थ निम्नलिखित है :—

परमात्मा सूर्य जगत् के स्रष्टा हैं। वे सौरों के देवता हैं और उनके द्वारा आराधित हैं। स्वयं श्रुतियों ने उन्हें जगत् का कारण कहा है जैसे "सूर्य चल और अचल की आत्मा है" (ऋग्वेद १.११५.१) और "वह आदित्य ब्रह्म है" आदि। इस प्रकार शास्त्रों के अनुसार सूर्य से अभिन्न बतलाया जाने वाला ब्रह्म समस्त जगत् का कारण है तथा इसी से ये समस्त वस्तुएं उद्भूत होती हैं (तै० उ०, ३.१.१)। इस सिद्धान्त की समर्थक एक स्मृति की पंक्तियां भी हैं। सूर्य के भक्तों की छः श्रेणियाँ हैं जो सभी लाल चन्दन से

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

बनाई हुई टिपकी लगाते हैं, लाल फूलों की माला को धारण करते हैं तथा अष्टाक्षरी मन्त्र का जप करते हैं। कुछ लोग सद्यः उदित सूर्य के प्रभामण्डल की पूजा ब्रह्मदेव के रूप में करते हैं तथा मध्याह्न सूर्य की उपासना संहारक ईश्वर के रूप में करते हैं। उन्हें प्रभवकर्ता भी माना जाता है। कुछ लोग अस्त होते हुए सूर्य को पालक विष्णु के रूप में मानते हैं। कुछ उन्हें सर्जन एवं विनाश का कारण तथा कुछ परम सत्ता मान कर पूजते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो सूर्य के तीनों रूपों को त्रितयी (ब्रह्मा, विष्णु और शिव) के रूप में मान कर उनकी उपासना करते हैं। प्रभामण्डल के नियमित दर्शन के व्रत का पालन करते हुए अन्य लोग उसमें सुनहली श्मश्रुओं तथा सुनहले केशों से युक्त परमात्मा को विद्यमान मान कर पूजते हैं। इसी श्रेणी के कुछ लोग केवल सूर्य-चक्र के दर्शन के व्रत का पालन करते हैं। वे इसको षोडशोपचार पूजा कहते हैं, अपने समस्त कर्म इस देवता को अर्पित कर देते हैं तथा सूर्य-मण्डल के दर्शन के बिना कुछ नहीं खाते। छठी श्रेणी के भक्त अपने ललाट, भुजाओं और वक्षःस्थल पर गरम लौह-खण्ड द्वारा सूर्य-चक्र लगवाते हैं और अपने मन में ईश्वर का निरन्तर ध्यान करते रहते हैं। इन सभी छहों श्रेणियों का एक ही अष्टाक्षरी मन्त्र का जप करना होता है। अन्य सम्प्रदायियों की भांति इस मत के अनुयायी भी विभिन्न वैदिक पंक्तियों की व्याख्या अपने देवता की महानता और श्रेष्ठता को प्रतिपादित करने वाली पंक्तियों के रूप में करते हैं। पुरुष सूक्त (ऋग्वेद, १०.९०) तथा शतरुद्रीय का व्याख्यान इसी रूप में किया गया है तथा निष्कर्ष यह निकलता है कि समस्त मुमुक्षुओं को सूर्य की पूजा करनी चाहिए, अपने शरीर पर उनके लाञ्छन धारण करने चाहिएँ और मन्त्र का जप करना चाहिए।

यहाँ तक हमें सौर-सम्प्रदाय के विकास में कोई विदेशी चिह्न दिखलाई नहीं पड़ते। किन्तु ईसा की प्रारम्भिक सदियों से ही उत्तर भारत में प्रचलित सूर्योपासना के विकास में इस प्रकार के प्रभाव का योगदान निःसन्देह रूप से रहा है। वराहमिहिर ने पहले दो बार उद्धृत अपने एक श्लोक में (बृहत्संहिता अध्याय ६० श्लोक १९) बतलाया है कि सूर्य-मन्दिरों और सूर्य मूर्तियों की प्रतिष्ठा व अभिषेक मगों द्वारा करवाया जाना चाहिए और सामान्यतया अपनी विशिष्ट पद्धति द्वारा विशेष देवताओं की पूजा करने वालों द्वारा ही उन-उन देवों से सम्बद्ध संस्कार संपादित कराए जाने चाहिएँ। इससे यह सिद्ध होता है कि वराह-मिहिर के अनुसार मग ब्राह्मण सूर्य-देव के विशेष पुजारी थे। इस सम्बन्ध में भविष्य पुराण में एक आख्यान (भवि० पु०

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

अध्याय १३९) है। जाम्बवती से उत्पन्न कृष्ण के पुत्र साम्ब ने चन्द्रभागा (पञ्जाब की आधुनिक चिनाब) के तट पर एक सूर्य-मन्दिर का निर्माण कराया, किन्तु कोई भी स्थानीय ब्राह्मण मन्दिर के नियमित पुजारी का कार्यभार वहन करने को तैयार न हुआ। तब उन्होंने उग्रसेन के पुजारी गौरमुख से पूछा। गौरमुख ने उनसे शाकद्वीप से सूर्य-पूजक मगों को बुलाने की बात कही। तदनन्तर मगों का इतिहास दिया गया है। सुजिह्व मिहिर-गोत्र के एक ब्राह्मण थे। उनके निक्षुभा नाम की एक पुत्री थी जिससे सूर्य को प्रेम हो गया था। इन दोनों का पुत्र जरशब्द या जरशस्त कहलाया और इसी से सभी मगों की उत्पत्ति हुई। अपनी कटि में वे एक मेखला पहनते थे जो अव्यङ्ग कहलाती थी। तदुपरान्त साम्ब अपने पिता के वाहन गरुड की पीठ पर आसीन होकर शाकद्वीप गए, वहाँ से कुछ मगों को लाए तथा उन्हें अपने द्वारा बनवाए हुए मन्दिर के पुजारी पद पर अभिषिक्त किया। भारत के इतिहास में काफी पहले से मगों का उल्लेख प्राप्त होता है। गया जिले के गोविन्दपुर में १०५९ शकाब्द तदनुसार ११७-३८ ई० का एक अभिलेख है जिसके प्रारम्भिक श्लोक में सूर्य से उत्पन्न होने वाले मगों को इस देश में साम्ब द्वारा लाया हुआ बतलाया गया है। छः महान् कवियों का भी उल्लेख किया गया है जिनमें से कुछ की रचनाएं अभी भी विद्यमान हैं। अन्यत्र भी मगों के चिह्न प्राप्त होते हैं तथा राजपूताना और उत्तर-भारत के अन्य प्रान्तों में मग नाम के ब्राह्मण हैं। ये मग प्राचीन फारस के मगी हैं तथा ऊपर उल्लिखित भविष्यत्पुराण में प्राप्य जरशस्त नाम इन्हें अवेस्ता के पैगम्बर जरथुस्त्र के साथ सम्बद्ध करता है। अव्यङ्ग—जो पुराणों के अनुसार ये लोग अपनी कटि में पहनते थे—अवेस्ता की भाषा का ऐव्याओंघेन है, जो आजकल पारसियों द्वारा धारित कुस्ति का वाचक है। पारसी पुरोहित मगिओं का वर्णन करते हुए अल्बरूनी ने कहा है कि वे भारत में विद्यमान थे तथा मग कहलाते थे।[1] शकद्वीप नामक महाद्वीप में उनकी स्थिति निर्धारित करने की कल्पना का उदय सम्भवतः इस तथ्य से हुआ होगा कि वे शकों की भाँति विदेशी थे जिनसे भारतीय लोग ईसा पूर्व दूसरी या तीसरी सदी के समय से ही परिचित थे। इस प्रकार स्पष्टतया सूर्य-पूजा या मिहिर-पूजा भारत में प्राचीन पारसी मगी लोगों द्वारा लाई गई। किन्तु यह कह सकना कठिन है कि किसकी प्रेरणा से और किन परिस्थितियों में वे यहाँ आए? साम्ब द्वारा उनके लाए जाने की आख्यानात्मक अनुश्रुति बारहवीं सदी के प्रथमार्ध

---

१. सखाउ का अनुवाद, भाग १; पृ० २

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

में विद्यमान थी, जैसा कि अभिलेख से हम देख चुके हैं। ऊपर निर्दिष्ट चन्द्र भागा के तट वाला मन्दिर वह था जो कि मुल्तान में स्थित था तथा जिसका सुन्दर वर्णन चीनी यात्री ह्वेनत्साङ्ग ने किया है। चार शताब्दियों बाद इसे अल्बरुनी ने देखा था।[1] यह सत्रहवीं सदी तक बना रहा, जब कि औरङ्गजेब ने पूरी इसे तरह नष्ट कर दिया। मुल्तान संस्कृत का मूलस्थान ही है और इस स्थान को यह नाम इस लिए दिया गया होगा क्योंकि सूर्य की नई उपासना सर्वप्रथम यहीं पर संगठित की गई थी तथा यह सूर्योपासना का मूल अधिष्ठान था। कनिष्क की मुद्राओं में मिरोमिहिर नाम से युक्त एक आकृति प्राप्त होती है। मिहिर शब्द पारसी के मिह्र शब्द का संस्कृत रूप है। और मिह्र मित्थ्र शब्द का अपभ्रंश है जो कि वैदिक शब्द मित्र का आवेस्तिक रूप है। मिह्र उपासना का उदय पारस में हुआ तथा इसका विस्तार एशिया माइनर तथा रोम तक हुआ था। इसकी धर्म-परिवर्तन शक्ति—जो कि इस मत के प्रारम्भिक अनुयायियों की विशेषता थी—से इस मत का प्रसार पूर्व की ओर भी हुआ होगा तथा कनिष्क की मुद्राओं पर मिहिर की आकृति इस प्रसार का साक्ष्य है। अतएव यह मत भारत में इस कुषाण नृपति के शासन काल के आसपास प्रविष्ट हुआ होगा तथा मुल्तान का वह मन्दिर जो इस मत का मौलिक अधिष्ठान था, इसी समय के लगभग बनवाया गया होगा।

मन्दसौर के एक अभिलेख में ४३७ ई० में श्रेणी वायपट्ट द्वारा एक सूर्य-मन्दिर के निर्माण का तथा ४७३ ई० में उसकी मरम्मत करवाए जाने का उल्लेख किया गया है। उत्तर प्रदेश के बुलन्द-शहर जिले में इन्दोर में प्राप्त एक अन्य ताम्र-पत्र अभिलेख में एक सूर्य-मन्दिर में दीपक जलाने के निमित्त ४६४ ई० में देवविष्णु द्वारा दिए गए एक दान का उल्लेख किया गया है। तथा एक तृतीय अभिलेख में ५११ ई० में आदित्य या सूर्य के एक मन्दिर को दिए गए दान का वर्णन है। और भी बहुत सारे सूर्य-मन्दिर विशेष रूप से पश्चिमी भारत में मुल्तान से कच्छ और उत्तरी गुजरात तक मिले हैं।[2] उत्तरी गुजरात में पाटन से अट्ठारह मील दक्षिण मोढेरा में एक सूर्य-मन्दिर के अवशेष विद्यमान हैं तथा जिनमें विक्रमाब्द १०८३ तदनुसार १०२७ ई० की तिथि पाई जाती है। एक अन्य मन्दिर ग्वालियर में था जो छठी सदी के प्रारम्भ में हूण राजा मिहिर कुल के समय में बनवाया गया था।

---

१. सखाउ का अनुवाद, भाग १, पृ० ११६

२. बर्जेस, आर्कीटेक्चरल एण्टिक्वीटीज़ आफ नारदरन गुजरात, लन्दन, १६०३

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

इस प्रकार के मन्दिरों में पूजी जाने वाली सूर्य प्रतिमाओं के स्वरूप का वर्णन वराह मिहिर (बृहत्संहिता, अध्याय ५८) ने किया है। उनके द्वारा उल्लिखित ये लक्षण हमारे वर्तमान उद्देश्य के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। वे ये हैं— उनके चरण जानुपर्यन्त ढके हुए रहने चाहिएँ और उन्हें उत्तर में प्रचलित वेश-भूषा से भूषित होना चाहिए (श्लोक ४६) तथा उनकी कटि में एक अव्यङ्ग होना चाहिए (श्लोक ४७)। तदनुसार ऊपर उल्लिखित मन्दिरों में पाई जाने वाली सूर्य की मूर्तियाँ, जानुपर्यन्त लम्बे उपानह और कमर में मेखला, जिसका एक छोर नीचे लटकता है, पहने हुए हैं।[1] यह मेखला, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, पारसी चिह्न है तथा उपानह का स्रोत भी पारसी या इससे मिलता जुलता होना चाहिए। निश्चित रूप से यह भारतीय तो नहीं है। सूर्य-प्रतिमा के ये लक्षण और पारसीक मगियों के वंशज मगों के सूर्य-मन्दिर के पुजारी होने का तथ्य इस निष्कर्ष का सङ्केत है कि यह उपासना भारत में पारस से आई। मेरा विश्वास है कि इतने सारे मन्दिरों का निर्माण भी विदेशी प्रभाव के ही कारण हुआ। क्योंकि ऊपर हमने जिन सौर-सम्प्रदायों का विवरण दिया है उसमें सूर्य के किसी मन्दिर का तनिक भी उल्लेख नहीं है। अतएव समस्त स्वरूपों की दृष्टि से उत्तर भारत में प्रचलित सौर-पूजा इन सम्प्रदायों से पूर्णतया भिन्न थी। इसका इन सम्प्रदायों से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। किन्तु हिन्दू-जनता ने इसे सूर्य की सामान्य-पूजा के रूप में स्वीकार कर लिया तथा इस उपासना से जिन भावनाओं का उद्वेलन हुआ वे सूर्य की स्वदेशी पूजा द्वारा उद्वेलित भावनाओं से भिन्न नहीं थीं। कतिपय मन्दिरों में प्राप्त अभिलेखों में सूर्य के प्रति भक्ति को जिस पद्धति से अभिव्यक्त किया गया है, उसमें कोई विलक्षणता या विदेशीपन नहीं है। सूर्य पूजा के पुजारी स्वयं मग शनैः शनैः पूर्णतया हिन्दू बना लिए गए और अन्ततोगत्वा अन्य हिन्दुओं से उनका भेद करना असम्भव हो गया, केवल उनकी जाति अलग बन गई। सातवीं सदी के मध्य में विद्यमान हर्षवर्धन के एक दान-पत्र में उनके पिता प्रभाकरवर्धन, पितामह आदित्यवर्धन, प्रपितामह राज्यवर्धन को सूर्य का परम भक्त (परमादित्यभक्त) कहा गया है।[2] यह इस बात का साक्ष्य है कि सम्भवतः स्वदेशी और विदेशी तत्त्वों के समन्वय से संगठित सूर्योपासना छठी सदी के प्रारम्भ में प्रचलित थी और बड़े बड़े राजा इसके समर्थक थे।

---

१. वही, फलक ५६

२. एपिग्राफिआ इण्डिका, भाग १ पृ० ७२-७३

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

उपसंहार

प्रकृति के भयप्रद और विध्वंसक रूप से उन गणों से युक्त—जिन्हें कभी कभी रुद्र या रुद्रिय कहते हैं (तथा जो गौण भयद रव करने वाले हैं)—भयङ्कर रव करने वाले रुद्र देवता की कल्पना तथा उनमें विश्वास किया जाने लगा। प्रसन्न किए जाने पर यही देवता शिव, शङ्कर और शम्भु बन जाता है। इस धारणा का शनैः शनैः और आगे विकास हुआ और रुद्र श्मशानों, पर्वतों और वनों जैसे वन्य और अमङ्गल-प्रद दृश्यों के देवता बन गए तथा और पर्वतों में रहने वाले पशुओं, असभ्य लोगों, चोरों और हीन वर्णों—जो उनक पूजा करते थे—के वे स्वामी बन गए। परिणामस्वरूप उनका विकास ऐसे देवता के रूप में हुआ जो विश्व में व्याप्त है, अग्नि और जल में समस्त प्राणियों, औषधियों तथा वृक्षों में उसका निवास है तथा वह सभी का सर्वोच्च शास्ता है। जब वे स्थिति पर पहुँचे तब वे औपनैषदिक कल्पनाओं के विषय बने और इनका ध्यान करने पर तथा विश्व में सर्वत्र उनका दर्शन करने पर मनुष्य को आनन्दमय शान्ति की उपलब्धि होती है।

परन्तु उनके भयंकर और वन्य रूप का तिरोधान नहीं हुआ प्रत्युत इसका विकास होता रहा और जब पाञ्चरात्र मत जैसे धार्मिक मतों की स्थापना की गई तो कुछ समय के उपरान्त रुद्र या पशुपति को आराध्य देव मानने वाले धार्मिक मत की भी स्थापना हुई। इसके संस्थापक एक मानव थे तथा उनका नाम लकुटिन्, लकुलिन्, लकुटीश अथवा नकुलीश था। उनके द्वारा रचित बतलाई जाने वाली कृति का नाम पञ्चार्थ था तथा उनका सम्प्रदाय पाशुपत नाम से ख्यात हुआ। इससे दो अतिवादी तथा शैव नाम से विख्यात एक अधिक सौम्य शाखा का विकास हुआ। इन सम्प्रदायों के चिह्न ईसा की दूसरी सदी से लेकर बारहवीं सदी के आसपास तक मिलते हैं। किन्तु दो अतिमार्गी शाखाओं के अमाङ्गलिक रूप तथा दो अन्य शाखाओं के वन्य और विकट रूप से प्रतिक्रिया का उदय हुआ तथा नवीं सदी के प्रारम्भ में हमें प्रथम काश्मीरी शैवमत का उदय दिखलाई देता है और लगभग सौ वर्षों बाद दूसरे मत का। इनके सिद्धान्त और आचार अत्यन्त

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

सौम्य हैं तथा इन्हें शङ्कर के दर्शन द्वारा प्रभावित माना जा सकता है, यद्यपि ये उनके कट्टर आत्माद्वैतवाद से बच निकले हैं और इसीलिए मुक्त आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता बतला सके हैं। ग्यारहवीं सदी के मध्यकाल के लगभग लिङ्गायत-सम्प्रदाय द्वारा इस मत का और अधिक सुधार किया गया। इस शाखा के दार्शनिक सिद्धान्त ये हैं कि ईश्वर शाश्वत, चित् और आनन्द हैं, विश्व का स्रष्टा है, मनुष्य-मात्र का उपदेष्टा और उद्धारक है। विश्व से शनैः शनैः स्वयं को विरक्त करके, भक्ति भाव भरी पूजा के मार्ग पर चलते हुए, ईश्वर के प्रति अर्पित करके तथा उन्हें सर्वत्र देखते हुए जीवात्मा ईश्वर के साथ स्वयं को आनन्दानुभूतिमय सायुज्य को प्राप्त कर लेता है। यह दर्शन रामानुज के दर्शन से प्रभावित मालूम पड़ता है। किन्तु लिङ्गायतों की भावना वीरतापूर्ण थी तथा उन्होंने उस समाज से पृथक् अपना एक स्वतन्त्र समुदाय ही बना लिया जिसकी उत्पत्ति ब्राह्मण धर्म पर आधारित है। किन्तु साथ ही जब ये सभी सम्प्रदाय विद्यमान थे उस काल में भी सामान्य जनों के बीच इन सम्प्रदायों के सिद्धान्तों की अपेक्षा न करते हुए सामान्य रुद्र-शिव-पूजा का प्रचलन भी बना रहा।

शिव अपनी शक्ति पार्वती या उमा से सम्पृक्त थे। वह भी कल्याणमयी एवं ऐश्वर्यमयी प्रकृति से समन्वित हैं, जैसा कि केन उपनिषद् में निर्देश हैं। परन्तु ठीक जैसे आदि-वासी तत्त्व का रुद्र-शिव की संरचना में योगदान है वैसे ही अधिक सुव्यक्त स्वरूप का आदिम-तत्त्व उनकी शक्ति के साथ जुड़ गया और वे एक उग्र देवी बन गईं जिन्हें पशु तथा नरबलियों द्वारा आराधित किया जाने लगा। पर क्योंकि मनुष्य में काम-प्रकृति अत्यन्त प्रबल है अतः यह देवी त्रिपुरसुन्दरी (तीन पुरों की सुन्दरी) तथा ललिता नामों से जगत् की सृष्टि करने वाली बन गई तथा इसकी पूजा पतित और काममयी विधियों द्वारा की जाने लगी। इस प्रकार शाक्त-सम्प्रदाय का उदय हुआ जिसके मानने वाले त्रिपुर सुन्दरी के साथ तादात्म्य को ही अपने जीवन का लक्ष्य मानने लगे। गणों के नायक होने के नाते गणपति वस्तुतः रुद्र-शिव-सम्प्रदाय से सम्बद्ध थे। यह धारणा लोगों को ग्रसित करने वाले विनायक की कल्पना के साथ व्यामिश्रित हो गई और इस प्रकार सम्मिश्रित देव गणपति-विनायक इस सिद्धान्त से लोगों के पूज्य बन गए कि किसी भी कार्य का आरम्भ करने से पूर्व विघ्न-कारिणी दुरात्माओं की पूजा की जानी चाहिए। तदुपरान्त वे छः गौण सम्प्रदायों के विशिष्ट देव बन गए, जिनमें से एक सम्प्रदाय का दर्शन शाक्त-साम्प्रदाय की भांति अनाचारी है। स्कन्द शिव के गणों में से एक के पति होने के नाते शिव के साथ अधिक घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध थे। बाद में

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

इन्हें शिव का पुत्र ही माना जाने लगा तथा इनकी पूजा पतञ्जलि के काल से आगे कई शताब्दियों तक प्रचलित रही और अभी तक पूर्णरूपेण उच्छिन्न नहीं हुई है। सूर्य एक ऐसे देवता थे जिनकी पूजा प्राचीन काल से ही की जाती थी तथा उनकी उपासना अभी तक लुप्त नहीं हुई है, क्योंकि सूर्य का प्रभामण्डल तो प्रतिदिन दिखलाई पड़ता है। किन्तु कुछ काल के उपरान्त सूर्य एक सम्प्रदाय-विशेष की पूजा के विषय हो गए। किन्तु ईसवीय शतक की तीसरी सदी के लगभग ईरान से सूर्योपासना की दूसरी शाखा का प्रवर्तन हुआ। इसने भारत में अपनी जड़ें जमा लीं और बहुत लम्बे समय तक पश्चिमोत्तर भारत में यह प्रचलित बनी रहीं। समय समय पर अनेक भव्य मन्दिरों का निर्माण उनकी पूजा के निमित्त किया गया। मग नामक एक विशिष्ट पुरोहित वर्ग इस सौर-मत के साथ सम्बद्ध था तथा हिन्दू जनता ने इस मत को इस तरह अपना लिया जैसे कि यह इस देश का स्वदेशी मत रहा हो।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

परिशिष्ट

हिन्दू देववाद तथा विश्वात्मवाद

हमने जिन संप्रदायों का परीक्षण किया है उनमें से अधिकतर संप्रदायों के संस्थापकों द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तों के दार्शनिक अंश क्योंकि उपनिषदों या भगवद्गीता में विद्यमान मौलिक विचारों पर आधारित हैं अतएव इस अन्तिम अनुच्छेद में इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक समझता हूँ कि ये विचार निश्चित रूप से क्या हैं और इन संप्रदायों के प्रवर्तकों ने इन्हें अपने विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति के निमित्त किस सीमा तक अपनाया है या उनमें किस हद तक संशोधन किया है।

इन विचारों पर विमर्श करते समय कुछ विद्वान् वेदान्तसिद्धान्त को जिसे वे अद्वैतवाद या विश्वात्मवाद बतलाते हैं देववाद के मध्य स्थूल प्रभेद के रूप में स्थापित किया है। उन्हें किसी ऐसे ग्रन्थ में, जिसका प्रधान लक्ष्य देवपरक है, ईश्वर की विश्वव्यापकता का अभिव्यञ्जक कोई स्थल प्राप्त हो जाता है तो वे उसे प्रक्षिप्त समझ लेते हैं। इस कृति के प्रारम्भ में ही मैंने इस मनःस्थिति का निर्देश किया है किन्तु इस सम्बन्ध में कुछ और अधिक कहना आवश्यक है। यदि देववाद (Theism) से उनका तात्पर्य अठारहवीं सदी के डीइज्म (Deism) से [जिसके अनुसार जगत् ईश्वर द्वारा निर्मित और परिचलित यन्त्र है और वह स्वयं इससे पृथक् रहता है] तथा संभवतः इसके साथ ही इस सिद्धांत से है कि वह उन लोगों से संबन्ध स्थापित करता है जो उसकी पूजा और आराधना करते हैं, तो वे संभवतः सही हैं। परन्तु यह हिन्दू देववाद नहीं है। वाह्य जगत् तथा मनुष्य के हृदय में ईश्वर का व्यापकत्व हिन्दू देववाद का मूल सिद्धांत है। किन्तु ईश्वर की विश्वोत्तीर्णता अर्थात् ईश्वर के जीव और जगत् से पृथक् होने तथा इनसे ऊपर होने, उन्हें प्रभावित करने, उनका नियमन करने, उनकी रक्षा करने और उनकी प्रार्थना सुनने के साथ इस बात की पूर्ण सङ्गति है। विश्वव्यापकता और विश्वोत्तीर्णता के विचार परस्पर-विरुद्ध नहीं हैं, इसे योरोपीय चिन्तक भी स्वीकार करते हैं। भगवद्गीता का देववाद इसी तरह का देववाद है। अतः विश्वव्यापकता-बोधक स्थलों को किसी भी तरह प्रक्षिप्त नहीं माना जाना चाहिए। इस प्रकार देववाद उपनिषदों में भी विद्यमान है यद्यपि इनमें विविध प्रकार के अद्वैतवादी विचार भी मिल जाते

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

हैं। स्पिनोज़ा ने पैन्थीइज्म की जो व्याख्या की है उसे इस प्रकार बतलाया गया है :—"ईश्वर यद्यपि वाह्य रूप से अनवधारित है किन्तु आत्मना पूर्णतः अवधारणार्ह है। इस प्रकार ईश्वर जो एकमात्र कारण है, स्वयं को विशिष्ट पदार्थों के अनन्त अनेकत्व में व्यक्त करता है। अतः स्पिनोज़ा पैन्थीइस्ट (अद्वैतवादी) तथा पैन्कॉस्मिस्ट (विश्वरूपत्ववादी) दोनों ही हैं। ईश्वर का अस्तित्व केवल उसी रूप में है जिस रूप में उसका अनुभव जगत् में किया जाता है और जगत् की सत्ता ईश्वर की अभिव्यक्ति में ही है।[1] उपनिषदों में, इस उद्धरण के प्रथम दो वाक्यों में जो कुछ प्रतिपादित है, उसके समान अद्वैतवादी सिद्धांत प्राप्त होते हैं। इस प्रकार के वाक्य (उपनिपदों में) प्राप्त होते हैं कि एक के जानने पर सब कुछ जान लिया जाता है। उदाहरणार्थ जब हम मृत्तिका के किसी एक पिण्ड की यथार्थ प्रकृति को समझ लेते हैं, तब हम मृत्तिका से जो कुछ निर्मित है उस सब को जान लेते हैं (छा० उ० ६.१.४), जब आत्मा को देखते, सुनते और जानते हैं तब यह सब कुछ जान लेते हैं, ब्रह्म, क्षत्र, ये लोक, ये देव, ये तत्त्व—सब कुछ आत्मा है (बृ० उ०, ४, ४, ६)। पुनश्च उपनिषदों में ऐसे कथन भी हैं कि प्रारम्भ में केवल सत् विद्यमान था, जो एक या अद्वैत था। उसने सोचा कि "मैं अनेक या बहुत हो जाऊं"। उसने प्रकाश उत्पन्न किया। यह कथन इस आशय का है कि प्रत्येक विद्यमान वस्तु ईश्वर का ही स्वरूप या परिणाम है। उपनिषदों में ऐसे अनेक स्थल हैं तथा इनमें से कुछ तो ब्रह्मसूत्र १,४, २३-२७ पर शङ्कराचार्य के भाष्य में भी उद्धृत हैं। किन्तु यह किसी भी रूप में अनुमेय नहीं है कि उपनिषदों का अद्वैतवाद स्पिनोज़ा के उद्धरण के अन्तिम वाक्य में प्रतिपादित सिद्धान्त के [अर्थात् ईश्वर विश्व से परिच्छिन्न होकर विश्वोत्तीर्ण है इस सिद्धांत के] अनुरूप है किन्तु इस दृष्टिकोण के विपरीत आपत्ति यह है कि ब्रह्म आत्मस्वरूप है। यह अंशों में विभाज्य शरीर के स्वरूप वाला नहीं है जिसका एक अंश तो विश्व में व्याप्त हो तथा दूसरा उससे बाहर रह जाए। इसकी पुष्टि श्वे० उ० (६,१९) के एक स्थल से हो जाती है। इस असङ्गति का निराकरण बादरायण ने ब्रह्मसूत्र २.१. २६-२७ में किया है। यहाँ पर दी गई युक्ति यह है कि यद्यपि उपनिषदों में यह कहा गया है कि ब्रह्म जगत् की योनि हैं किन्तु साथ ही इनमें जगत् से पृथक् ब्रह्म के अस्तित्व की पुष्टि की गई है (छा० उ० ३.१२. ६; ६.३.२)। ये दोनों ही बातें इस सिद्धांत की दृष्टि से असङ्गत हैं कि ब्रह्म आत्मा है तथा

१. इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, ग्यारहवां संस्करण, भाग २०, पृ० ६८३ ए, पेन्थीइज्म के अन्तर्गत

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

अंशों में विभाज्य नहीं है। यद्यपि ये दोनों ही बातें इस प्रकार से असङ्गत हैं तथापि श्रुति साक्ष्य के आधार पर उन्हें स्वीकार कर लेना चाहिए क्योंकि ब्रह्म और जगत् का यथार्थ स्वरूप मानव-बुद्धि की पहुँच से परे है, श्रुति-साक्ष्य में विश्वास न करने वाले नास्तिकों को कठिनाई का उक्त समाधान अस्वीकार्य होगा किन्तु इनसे यह व्यक्त होता है कि बादरायण स्पिनोजा की अद्वैतवाद की परिभाषा के उत्तर भाग से सहमत नहीं हैं अर्थात् उनके अनुसार आगमों में इस बात की पुष्टि नहीं है कि ईश्वर का अस्तित्व केवल उसी रूप में है जिस रूप में उसका अनुभव जगत् में किया जाता है तथा जगत् की सत्ता ईश्वराभिव्यक्ति में ही है। उन्होंने जिस असङ्गति की ओर निर्देश किया है वह ब्रह्म के अंशों में विभाज्य होने की असंभव धारणा पर आधारित है। इस धारणा को न लाकर हम यदि यह कल्पना करें कि एक दृष्टि से ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है या जगत् में उसका अनुभव किया जा सकता है तथा दूसरी दृष्टि से यह अविकारी है एवं ध्यान तथा उपासना का विषय है। तो फिर कोई असङ्गति नहीं रह जाती। जो भी हो, मुझे तो बादरायण का दृष्टिकोण ही ठीक प्रतीत होता है तथा उपनिषदों का अद्वैतवाद ठीक वही नहीं है, जैसा कि स्पिनोजा द्वारा प्रतिपादित है।

किन्तु अह आंशिक अभेदवाद भी उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित केवल एक सिद्धान्त है। जैसा कि प्रारम्भ में उल्लेख किया गया है, उनमें धार्मिक दर्शन की किसी एक शाखा के ही नहीं, अपितु अनेक दर्शनों के, यहाँ तक कि बौद्ध दर्शन के भी बीज निहित हैं। ब्रह्म को जगत् से पृथक् या भिन्न बतलाया गया है। इस रूप में आंशिक अभेदवाद का प्रतिषेध या खण्डन है। ब्रह्म को वाह्य-जगत् एवं मनुष्य की आत्मा में निवास करने वाला बतलाया गया है अर्थात् जीव और जगत् में ईश्वर की व्यापकता बतलाते हुए देववाद का उपदेश दिया गया है। उदाहरणार्थ बृ० उ० (३, ७, ७-३०) में हमें पहले तो "जो पृथ्वी में रहते हुए भी पृथ्वी से भिन्न है, जिसको पृथ्वी नहीं जानती, पृथ्वी स्वयं जिसका शरीर है और जो अन्तर्यामी होकर पृथ्वी का नियमन करता है, वह अमृत अन्तर्यामी आत्मा है" यह कहा गया है। आगे के अनुच्छेदों संख्या ३० तक जल, अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु, आदित्य, चन्द्रतारक, दिशा, तम, तेज, सर्व भूत, प्राण, वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन, त्वक्, रेत और विज्ञान सभी के लिए उसी प्रकार का वर्णन मिलता है। यहाँ पर अन्तर्यामी आत्मा को पृथ्वी इत्यादि से लेकर विज्ञान या जीवात्मा तक सभी से पृथक् किन्तु फिर भी उन्हीं में निवास करने वाला, अन्दर से उनका नियन्त्रण करने वाला, तथा इन्हीं शरीर से युक्त बतलाया गया है। यह अनुच्छेद इस कथन के साथ उपसंहृत है कि यह

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

अन्तर्यामी आत्मा अदृष्ट है, किन्तु स्वयं द्रष्टा है; अश्रुत है किन्तु स्वयं श्रोता है; अमत है किन्तु स्वयं मन्ता है; अविज्ञात है किन्तु स्वयं विज्ञाता है। कोई दूसरा द्रष्टा, मन्ता अथवा विज्ञाता नहीं है। इन पंक्तियों में हिन्दू देववाद की ये विशिष्ट बातें सामने लाई गई हैं कि ईश्वर एक मात्र द्रष्टा, एकमात्र श्रोता और एकमात्र विज्ञाता है अर्थात् वह सर्वद्रष्टा, सर्वश्रोता और सर्वज्ञ है और उसे कोई भी न देख सकता है, न सुन सकता है और न जान ही सकता है। वह समस्त पदार्थों से भिन्न है किन्तु उनमें निवास करता है और उनका नियन्त्रण करता है। इस प्रकार की व्यापकता की वाचक पंक्तियाँ उपनिषदों के अनेक भागों में प्राप्य हैं। इस प्रकार जगत् में व्यापक रहते हुए भी ईश्वर क्योंकि जगत् से भिन्न है अतः वह श्रद्धायुक्त ध्यान का विषय हो सकता है तथा सत्य, ज्ञान और बुद्धि के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार का मात्र विश्वात्मवाद ही स्पिनोजा-प्रतिपादित पेन्थीइज्म नहीं है। अतएव भगवद्गीता सदृश ईश्वरपरक ग्रन्थ में ईश्वर के विश्वानुगत्ववाचक वाक्यों को प्रक्षिप्त कहने के लिए कोई भी आधार नहीं है।

हमने ऊपर इस बात का उल्लेख किया है कि किस प्रकार बादरायण ने ईश्वर के विश्वानुग और साथ ही साथ विश्वोत्तीर्ण होने तथा उसके अखण्ड शुद्ध आत्मा होने में प्रतीत होने वाली असङ्गतियों का समाधान किया है। मेरे विचार से शङ्कराचार्य ने बादरायण के दृष्टिकोण की अच्छी व्याख्या की है किन्तु एक आपत्ति उठाते हुए वे अचानक अपना यह सिद्धान्त सामने ले आये हैं कि ब्रह्म का तथाकथित विश्वानुगत्व माया जनित है तथा यथार्थ नहीं है अर्थात् यह जगत् मिथ्या है। जगत् से ईश्वर का सम्बन्ध बतलाने वाले दो सिद्धांत हैं वे तथाकथित परिणामवाद तथा विवर्तवाद हैं। परिणामवाद वास्तविक विकास का सूचक है तथा विवर्तवाद भ्रमजनित विकास का। विवर्तवाद शङ्कराचार्य का सिद्धान्त है अतः उनके दर्शन को आत्माद्वैतवादी कहा जाना चाहिए, जबकि ब्रह्मसूत्रकार बादरायण आत्माद्वैतवादी हैं। यह बात उनके द्वारा दी गई ब्रह्म की इस परिभाषा से कि ब्रह्म वह है, जिससे प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होती है, तथा द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में उन्होंने "जो चित् है उसका विकास उचित रूप में नहीं हो सकता" इस सिद्धांत पर आधारित आपत्तियों का उत्तर जिस रूप में दिया है, उससे स्पष्ट हो जाता है। शङ्कराचार्य ने स्वयं २.१.१४ सूत्र के अपने भाष्य के अन्त में यह स्वीकार किया है कि सूत्रकार परिणामवाद के अनुयायी हैं। अपने सिद्धांत की रक्षा के निमित्त उन्होंने (शङ्कर ने) बिना किसी आधार के यह कल्पना कर डाली है कि

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

परिणामवाद मानते हुए बादरायण के मत में समस्त पदार्थों के भ्रमहेतुक होने की बात थी। यह शङ्कराचार्य का विवर्तवाद ही था जिसका वैष्णव और शैव-धर्म के परवर्ती सम्प्रदायों ने विरोध किया, शंकराचार्य के अनुसार तो (२.१.१४) समस्त भ्रमों के नष्ट हो जाने पर तथा केवल एक आत्मा मात्र विद्यमान रहने पर तात्त्विक स्थिति में शासक और शास्ता अर्थात् ईश्वर और भक्त के सम्बन्ध के लिए कोई गुन्जाइश नहीं रह जाती। इनमें से अधिकतर ने बादरायण के परिणामवाद को स्वीकार किया किन्तु उपासना-सिद्धांतों की प्रामाणिकता के लिए आवश्यक ईश्वर, जीव और जगत् के भेद की स्थापना उन्होंने विकास के विभिन्न प्रकारों को अपना कर की। इसी के द्वारा उन्होंने बादरायण द्वारा २.१.२६ में इङ्गित असङ्गति का भी निराकरण कर दिया। इस प्रकार बादरायण द्वारा प्रस्तुत समाधान उनके लिए आवश्यक नहीं था। रामानुज ने यह निर्धारित किया है कि जीवात्माओं तथा जड़ जगत् के बीज स्वयं ईश्वर में उसके लक्षणों या शरीर के रूप में विद्यमान हैं। इनसे समन्वित ब्रह्म जगत् में विकसित (विश्वानुग) होता है और इस प्रकार तीन विभिन्न प्रकार के तत्त्वों—जड़ जगत्, जीवात्मा तथा नियन्ता ईश्वर—को जन्म देता है। निम्बार्क की यह धारणा है कि अन्य दो तत्त्व ईश्वर के लक्षण या शरीर नहीं हैं अपितु अपनी सत्ता के निमित्त ईश्वर पर आश्रित हैं तथा सूक्ष्म रूप में उसकी शक्ति हैं, जो कि जड़ और चेतन जगत् के रूप में विकसित होती है। विष्णु-स्वामी तथा वल्लभ की यह मान्यता है कि परब्रह्म स्वयं को जड़ जगत्, जीवात्मा तथा परमेश्वर के रूप में अभिव्यक्त करता है किन्तु विकास की प्रक्रिया के दौरान उसके चित् और आनन्द गुण उसकी रहस्यात्मिका शक्ति द्वारा तिरोहित कर दिए जाते हैं और इस प्रकार जड़ जगत् की उत्पत्ति होती है। जब उसका केवल आनन्द गुण तिरोहित रहता है तब जीवात्माएं अस्तित्व में आती हैं तथा जब तीनों गुण अभिव्यक्त या सुस्पष्ट होते हैं तब वह परमेश्वर हो जाता है। वल्लभ ने इसके साथ पुरुषोत्तम के दो अन्य स्वरूप और बतलाये हैं जिनका उल्लेख उनके सम्प्रदाय के प्रसङ्ग में किया जा चुका है। मध्व ने ईश्वर के जगत् के उपादान-कारण होते तथा परिणाम स्वरूप उसके विकसित होने के सिद्धांत का खण्डन करते हुए ईश्वर और जीव, ईश्वर और जगत्, जीव और जगत्, जीव और जीव तथा जीव और अचेतन पदार्थों के मध्य पांच नित्य भेदों का प्रतिपादन किया है।

प्राचीन शैव-सम्प्रदायों में पाशुपतों ने सांख्यों के प्रधान को (विकास-सहित) जगत् का उपादान कारण बतलाया है और पशुपति को इसका निमित्त-कारण। ब्रह्मसूत्र २.२.२८ पर अपने भाष्य में श्रीकण्ठ शिवाचार्य ने

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

कहा है कि उनके पूर्वाचार्यों के अनुसार शिव द्वारा प्रकाशित आगमों पर आधारित एक दर्शन शिव को जगत् का एकमात्र निमित्त कारण मानता था। यह सङ्केत शैव-सिद्धांत की ओर जान पड़ता है, जो जैसा कि हम प्रतिपादित कर चुके हैं, एक द्वैतवादी या भेदवादी दर्शन है। उनके अनुसार वायवीयसंहिता में यह बतलाया गया है कि पहले शिव से शक्ति की उत्पत्ति होती है, शक्ति से माया की और माया से अव्यक्त की (१.७.३)। माया का तात्पर्य शिव की अद्भुत सर्जनात्मिका शक्ति है, जैसा कि परवर्ती सूत्र चार से स्पष्ट है तथा अव्यक्त का अर्थ प्रधान है जैसा कि सूत्र तीन और सातवें सूत्र से प्रतीत होता है। वे एक अन्य श्लोक उद्धृत करते हैं जिसमें कहा गया है कि शक्ति से लेकर पृथ्वी पर्यन्त समस्त पदार्थ शिव-तत्त्व से उत्पन्न हैं। इस प्रकार शक्ति के माध्यम से शिव जगत् के उपादान और निमित्त दोनों ही कारण हैं। शक्ति की उद्भावना उन लोगों ने की है जिन्होंने सर्जन को शिव तत्त्व का विकास माना है जब कि यह उन शैव-सिद्धान्तियों के लिए आवश्यक नहीं है जो कि सर्जक तत्त्व माया या प्रधान को शिव से भिन्न तथा स्वतंत्र रूप से विकसित होने वाला मानते हैं। श्रीकण्ठ ने १.४.२७ ब्रह्मसूत्र के भाष्य में श्वे० उ० ४.१८ में प्राप्य "शिव एव केवल:" (एकमात्र शिव विद्यमान था) की व्याख्या "चेतन और जड़ जगत् के रूप में शक्ति से युक्त शिव विद्यमान था, वह एक था"—इस रूप में की है। इस प्रकार उन्होंने यहाँ पर शक्ति समन्वित शिव को उपादान कारण माना है। इस विषय में उनका सिद्धांत निम्बार्क के सिद्धांत से मिलता है। किन्तु तुरन्त आगे वे शिव के शरीरभूत चित् और अचित् की बात करते हैं और इस प्रकार रामानुज के सिद्धांत से साम्य रखने वाले सिद्धांत की स्थापना करते हैं। वस्तुत: शिव और शक्ति के मध्य वे कोई भी भेद नहीं करते। लिङ्गायत सिद्धांत श्रीकण्ठ शिवाचार्य द्वारा प्रतिष्ठापित सिद्धांत के प्रथम प्रकार जैसा है। शक्तिविशिष्ट शिव कर्ता या स्रष्टा हैं अर्थात् जगत् के निमित्त तथा उपादान कारण हैं। काश्मीर शैवमत जगत् की उत्पत्ति को बिना किसी उपादान कारण के ईश्वरेच्छाजनित बतलाता है या इस बात को घोषित करता है कि ईश्वर स्वयं में जगत् को अभिव्यक्त करता है।

इस प्रकार इनमें से अधिकतर संप्रदायों ने स्पिनोजा के अद्वैतवाद का तथा ईश्वर के विश्वात्मक और विश्वोत्तीर्ण होने में जो असङ्गति है उसका परिहार यह प्रतिपादित करते हुए किया है कि गुण शरीर या शक्ति के रूप में ईश्वर के साथ सम्बद्ध जड़ तथा चेतन जगत् के बीजों का ही विकास होता है, ईश्वर स्वयं तो अविकारी रहता है। जगत् में पुरुषोत्तम के विकास तथा साथ ही साथ

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

उसके विश्वोत्तीर्णत्व को मानते हुए विष्णुस्वामी और वल्लभ ने बादरायण का अनुसरण किया है। ईश्वर के कतिपय गुणों को अव्यक्त बनाकर भेदों को जन्म देने वाली रहस्यमयी शक्ति की तुलना स्पिनोजा के कथन में प्रतिपादित स्वतः निर्धारिणी शक्ति द्वारा की जा सकती है। काश्मीरी शैव विकास शील उपादान कारण के रूप में ईश्वर को नहीं मानते और यह प्रतीत होता है कि वे असत् से सद् की उत्पत्ति वाला सिद्धांत स्वीकार करते हैं।

——:o:——

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

अनुक्रमणिका

अ

अग्निदेव, ब्राह्मण काल में ४९
अद्वैतवाद ७५
अनासक्तियोग २२
अनिरुद्ध ६६
अनूप प्रदेश ५३
अन्धक ५५
अन्धकवेण्हु ५५
अपरान्त (कोंकण) ५४
अभिगमन—एक पूजाविधि ५८
अमरकोश ६९
अमरसिंह, कोशकार ६५, ६६
अमितगति ६८, ६९
अर्थपञ्चक ८०
अवतारसंख्या ६२
अष्टांगिक योगमार्ग ८०

आ

आचार्याभिमानयोग ८०-८१
आत्मसमर्पण २४
आत्माद्वैतवाद २४५
आनर्तप्रदेश ५३
आभीर—उनका स्थान ५३ अहीर ५४ मराठा देश के उत्तरी भाग में राज्य ५४ एक जाति ५३ दस्यु और म्लेच्छ के रूप में ५४ —नृपति ईश्वरसेन ५४—वंश पुराणों में ५४—सेनापति रुद्रभूति ५४
आभीर शिवदत्त ५४
आलवार कुलशेखर ७४
आलवार वैष्णव २१७
आसुरी सम्पत् ३४

इ

इज्या—एक पूजाविधि ५८

ई

ईशोपनिषद् ३९
ईश्वर और उसके पाँच स्वरूप, ७७ (रामानुज के मत में)
ईश्वर या परमात्मा, मध्व के अनुसार ईश्वर के गुण ८६

उ

उदयगिरि ६३
उपसागर—वासुदेव के पिता ५५
उपादान—एक पूजाविधि ५८

ऋ

ऋषभ अवतार ६२

ए

एरन—एक अभिलेख ६४
एलोरा—दशावतार मन्दिर ६६

ऐ

ऐकान्तिक धर्म १९, ३७, ४२

ओ

ओसिआ ६७
ओसिआ के एक प्राचीन मन्दिर में दो विष्णु प्रतिमायें ६७

क

कंसाराति ६५
कठ उपनिषद् २०
कपिल अवतार ६२
कबीर १०० जीवनी, जन्म और मृत्यु की तिथियाँ १०२ रमैणी उपदेशों का अनुवाद १०३ और आगे; साखियाँ १०७
कर्मयोग २१
कल्कि अवतार ६१
काञ्चीपुरम्, काञ्जीवरम् ७६, २१७
कापाल या कालामुख सम्प्रदाय, मान्यतायें १९४

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

कालिदास ६४
कालियमर्दन का दृश्य ६६
कुतुब मीनार ६४
कुमारगुप्त ६३
कुलशेखर, त्रावणकोर के राजा ७३
कृष्ट या क्रिष्ट=कृष्ण ५५
कूर्म अवतार ६१
कृष्ण और क्राइस्ट ५५
कृष्ण और गोकुलवास ५२-५३
कृष्ण का बाल्यकाल विभिन्न परम्परायें ५२
कृष्ण के कार्य ५२, पूतनावध आदि ५२
कृष्ण प्रथम ६६
कैलास मन्दिर ६६

ख

खोह गांव ६४

ग

गाजीपुर ६३
गाणपत्य सम्प्रदाय २२६; प्रभेद; २२९ सिद्धान्त २२९ और आगे
गुण—सत्त्व, रजस्, तमस् ३६
गुप्तों की परम भागवत उपाधि ६३
गोलोक कृष्ण का आवास ५९
गोविन्द—भिन्न भिन्न अर्थ ५२-५३
गौडपादाचार्य ७५

घ

घटजातक ५५

च

चक्रपालित ६३
चन्द्रगुप्त द्वितीय ६३
चन्द्र नृपति ६४
चैतन्य जीवनी १२४; सिद्धान्त १२६; अनुयायी १२८
चोलनृपति ७६
चोलराजा ७६

ज

जगदेकमल्ल ७३
जयकेशिन् ७३
जयकेशी होयसाल ७४
जयनाथ ६४
जीव, जगत् और ब्रह्म ७७
जीवात्मा और परमात्मा के साधारण धर्म ७९; उनका वर्णन ७९; उनका विभाजन ८०
जैन दर्शन ७५
जोधपुर ६४
ज्ञान, मोक्षप्रदायक ज्ञान की आवश्यक बातें ८८
ज्ञान का उदय, प्रकार ८७
ज्ञानयोग २१
ज्ञानामृतसार ५८

ड

डिण्डिरवन १३२

त

तिरुज्ञानसंबंध २१५
तुकाराम, जन्मतिथि और जीवनी १३८ और आगे;—के अभङ्ग १४१ और आगे
तुलसीदास १११; जीवनी और उपदेश १११-११४
तैलप, चालुक्य वंश के संस्थापक २१६
त्रिचिनापल्ली ७६
त्रिपुरसुन्दरी आराधना २२४

द

दत्तात्रेय अवतार ६१
दन्तिदुर्ग एक राजा ६६
दर्शन अनीश्वरवादी ४०
दस्यु ५४
दादू ११०
दामोदर वासुदेव ६५
दाशरथि राम ६१
दासिक विधिविधान स्वर्ग प्राप्ति के साधन ३८
दास्यभाव मुक्ति का साधन ५९
दिवाकरमित्र ६६
दीनार=डिनेरियस ५३

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

देवकी = देवगब्भा ५५
देवगब्भा—कंस की भगिनी ५५
देवता, वैदिक, अग्नि से तादात्म्य ६१
देववर्ग, ब्राह्मणधर्म का ६९
देववाद और विश्वात्मवाद २४२ और आगे
दैव सम्पत् ३४
द्वारसमुद्र ७६

ध

धन्यविष्णु ६४
धन्वन्तरि का अवतार ६२
धर्मपरीक्षा ६७
धेनुक, गर्दभ के आकार का दैत्य ५५,

न

नन्दगोपा ५५
नर-नारायण ४७-४८
नरसिंह प्रतिमा ६५, ७७
नाथमुनि ७४
नामदेव और तुकाराम १३१
नामदेव, जन्मतिथि १३७; जीवनी १३९
—जन्म और जीवनी १३४; सिद्धान्त १३८ और आगे
नारद अवतार ६२
नारद परशुराम प्रसंग ५७
नारद पाञ्चरात्र संहिता १२९
नारद पुराण ६८
नारद पांचरात्र ५८
नारायण और ब्रह्मा ४६
नारायण का लोक ४७
नारायण व्युत्पत्ति ४५
नारायणीय १९
नास्तिकदर्शन ७५
नृसिंह अवतार ६१
नित्यतत्त्व और उनके तीन प्रकार ७७
निम्बार्क ९१; द्वैताद्वैतवाद और आगे ९२; अनुयायी और शाखायें ९६

प

पञ्चनद ५४
पण्ठरपुर १३१
पतञ्जलि ६९
पद्मपुराण ८१
परमसंहिता ५६
परिणामवाद २४५
पर्णदत्त ६३
पांचरात्र या भागवत मत ५६, ६६ उदय एवं विकास का समय ५६
पाणिनि ४२
पालि बौद्धधर्म ७५
पाशुपत मत १७६ और आगे; —मत का विवरण १८५-१८८
पुण्डरीक, विट्ठलभक्ति मार्ग के जन्मदाता १३३
पुरुषसूक्त ३०
पेरियपुराण २१५
पेर्मादि, पेर्माडि ७३
पोयसल ७३
पौष्करसंहिता ५६
प्रकृति का सांख्य में स्थान ७७
प्रकृति का स्वरूप ५६
प्रद्युम्न ६६
प्रधान, जगत् का उपादान कारण १४६

ब

बघेलखण्ड ६४
बलदेव ६६
बलदेव-कृष्ण की पूजा ५४, उनके साधारण जन्म की कथा ५४
बलिध्वंसिन् ६५
बल्लाल ७६
बाणभट्ट ६६
बादरायण २४५
बुद्ध अवतार ६२, ६५, ६७
बुद्धगुप्त ६४
बुहलर ६७
बृहदारण्यक ४०

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

बौद्धदर्शन ७५
बौद्ध भिक्षु ६६
ब्रह्मसूत्र ५८, ७५ ७७
ब्रह्मसूत्र पर रामानुज भाष्य ५६
भक्ति—सख्य, एवं अन्य आठ प्रकार ८१
भक्ति नवधा ५९
भक्ति मार्ग प्राप्ति के उपाय ८०
भगवद्गीता २० और आगे
—धर्म के स्रोत ३९, ७७
भगवान्, उनका अधियज्ञ और अभिभूत रूप २५
भागवत पुराण ५२, ८१
भागवत सम्प्रदाय ६३ और आगे
भार्गव राम ६१
भितरी ६३

म

मत्स्य अवतार ६१
मथुरा ५३
मधुवन ५३
मध्व या आनन्दतीर्थ ८४; रामानुज तथा शंकराचार्य से मतभेद ८४; पाँच शाश्वत भेदों का वर्णन ८४; जन्म, पठन आदि ८४-८५ काल ८६;—का मत वैशेषिक पद्धति के आधार पर ८६
मध्व, उनके अनुयायी ९० उनके ग्रन्थ ९०
मङ्गलीश—एक चालुक्यवंशीय राजा ६४
मनुष्य, तीन कोटियाँ ८७
मन्दोर ६४
मनोनिग्रह और वैराग्य ३६
मलूकदास ११०
महाभारत, शान्तिपर्व ३२
महाभाष्य ६९
महायान बौद्धधर्म ७५
महावीर १९
मातृविष्णु ६४
माया, शिव की सर्जनात्मिका शक्ति के रूप में २४७
मायासिद्धान्त ७६ उस पर शंकर और रामानुज में मतभेद ७६
मार्ग उत्तरायण और दाक्षिणायन २६
मिह्र उपासना २३७
मुकुन्दमाला, एक ग्रन्थ ७३
मुण्डक उपनिषद् २७
मेगस्थनीज ६२
मेघदूत ६४
मैत्री उपनिषद् ५०
मैसूर ७६

य

यादवप्रकाश ७६
यामुनमुनि ७५
यामुनाचार्य ७५
यायावर ५४
योग—अष्टाङ्गिक ५७, गीता और उपनिषदों में साम्य २४
योग, ब्राह्मी स्थिति २४
योग, भक्ति एवं कर्म ३२
योगमार्ग २०
योग या ध्यान—एक पूजाविधि ५८

र

रघुवंश ६९
रसामृतसिन्धु १२८
रहस्य आम्नाय ५७
राजराज चोल २१५
राधा—एक सर्वोत्कृष्ट नारी ५९ श्रीकृष्ण की नित्या शक्ति के रूप में ६०
राम का अवतार ६७
रामगीता ७१
राम, दशरथपुत्र ७४
राम, एक ध्वजस्तम्भ ६९
रामशरणपाल १२८
रामानुज ४२, ७५, ७६

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

रामानुजीय—रामानुज के अनुयायी ६०
रामानन्द ६७ तिथि एवं जन्मस्थान ६४; —के शिष्य ६८-६६
रामानुज का वैष्णव धर्म ८६;—के अनुयायियों की दो शाखायें—औदीच्य और दाक्षिणात्य ८१-८३
रामोपासना ६६ और आगे
रुद्रसिंह क्षत्रप ५४
रुद्र १५५ और आगे
रुद्र शिव और लिङ्गोपासना १७१
रैदास=रोहिदास ११०
लक्ष्मी—प्रतिमा ६५
लिङ्गायत, आचार्य २१० अनुयायी २१०-२१२; वर्णव्यवस्था २१३-२१४
लिङ्गायत—श्रेणियाँ २१०

व

वराह अवतार ६१
वराह पुराण ६१
वराह प्रतिमा ५४, ६५
वराहमिहिर ६५
वल्लभ ११५, जीवनी, वेदान्त सिद्धान्त ११५;—सम्प्रदाय की रचनाओं का विवरण ११६ वल्लभ सिद्धान्त ११७-१२२ वल्लभ के धर्म का वैशिष्ट्य १२३
वल्लभाचार्य ६०
वामन अवतार ६१
वामन प्रतिमा ६६
वायुपुराण ५२, ६६
वासुदेव और नारायण ४५
वासुदेव कृष्ण ६१
वासुदेव कृष्ण और गोपाल कृष्ण ५२
वासुदेव कृष्ण की उपासना ४५
वासुदेव कृष्ण, एक ध्वजस्तम्भ ६६
वासुदेव, पांच प्रकारी पूजाविधि ५६
वासुदेव—ब्राह्मण ५६
वासुदेववाद ७१
वासुदेव-विष्णु ४६
विट्ठलदेव, विट्टिदेव ७७
विट्टि=विट्ठलदेव ७६
विट्टिदेव ७६
विट्ठलदेव ७६
विन्ध्यपर्वत ६६
विष्णु—उनका महाभारत में स्वरूप ५०
विष्णु—धार्मिक चिन्तन की चार धारायें ५१
विष्णु प्रतिमा, शेष नाग पर आसीन ६७ ब्रह्मासहित शेष के शरीर पर आसीन ६६
विष्णु ब्राह्मण काल में ४६
विष्णु या नारायण के छः अवतार ६१
" " " " दस " ६१
विष्णुवर्धन ७७
विष्णु वैदिक काल में ४६
विष्णुस्वामी ११५-११६
विष्णुस्वामी और वल्लभ, बादरायण के अनुयायी २४८
विवर्तवाद २४५
वृद्धहारीत ७०
वीर शैव या लिङ्गायत सम्प्रदाय २०२; सिद्धान्त २०५
वृष्णि ५५
वेद, वेदाङ्ग और वाक्योवाक्य ५७
वेदव्यास अवतार ६१
वेदान्तदीप ७७
वेदान्त पारिजात सौरभ ६१
वेदार्थसंग्रह ७७
वेदान्तसार ७७
वैष्णवधर्म ६३; १२६ संरचना के सहायक तत्त्व ५६, १४६-१५१; गुप्तकाल में प्रचार ६३ अपकर्ष —मत ५१
व्यूह, उनकी संख्या, संस्कार, विभव, क्रियाः, मन्त्र और अधिकारी ५७-५८

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

श

शकद्वीप २३६
शंकरदिग्विजय १९५
शक्ति उपासना २२४
शङ्कराचार्य २४५
शतरुद्रीय २१६
शाक्तसम्प्रदाय २१९ सिद्धान्त; २२२
शाक्तों की श्रेणियाँ २२५
शाण्डिल्य—वैदिक धर्म का उत्कर्ष ५६
शिवभक्त—उनके नाम पेरिय पुराण में २१७
शार्ङ्गिन् एक प्रतिमा ६३
शैवधर्म १५५ और आगे
शैवधर्म काश्मीरी १९७—सर्जन सिद्धान्त २४८
शैवधर्म द्रविडदेश में २१५
शैवसम्प्रदाय का उदय, विकास और मूलभूत सिद्धान्त २३९ और आगे
शैव सम्प्रदाय और शिव-पूजकों की श्रेणियां १७८
शैव सम्प्रदायों के नाम और उनके सिद्धान्त १८१
शैव सिद्धान्त १८९-१९३
श्रीकण्ठशिवाचार्य २०९
श्रीचक्र २२४
श्रीरङ्गम् ७६
श्वेतद्वीप ४७, ४८
श्वेताश्वतर २७, ४०, ७७
श्वेताश्वतर एवं अथर्वशिरस् उपनिषद् १६२-१७०

ष

षोडशोपचारपूजा ८१

स

संकर्षण ६५
सत्त्वपरायण—एक ग्रन्थ ७१
सनत्कुमार अवतार ६२
सांख्यसिद्धान्त ३३
सात्वत-संहिता ५६, ५७, ७०
सेना नाई ११०
सौर उपासना का मगों से सम्बन्ध, सौर सम्प्रदाय एवं औदीच्य सूर्योपासना २३३; सूर्यभक्तों की श्रेणियाँ २३५ सौर सम्प्रदाय के विकास में विदेशी चिह्न २३५
स्कन्द या कार्त्तिकेय २३१ और आगे; —आराधना ३२५
स्वाध्याय—एक पूजाविधि ५८
सिद्धार्थ १९
सौराष्ट्र प्रदेश ५४
सौराष्ट्र या काठियावाड़ ६३
स्कन्दगुप्त ३६
स्तम्भचित्र ५९

ह

हरिभजन के प्रकार ५९
हरिवंश ५२
हर्षचरित ६६
हारीतस्मृति ८१
हेमाद्रि ७०
हेलेवड्डी ७६
होयसाल यादव ७६, ८६
हंस अवतार ६१

...GURU VISHWARADHYA
...NA SIMHASAN JNANAMANDAL
LIBRARY
Jangamwadi Math, Varanasi
ACC No. 8580

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

1.	Bhandarkar, R.D.	Lectures on the Ancient History of India	50.00
2.	Bhandarkar, R.G.	Commemoration Volume	80.00
3.	Bhandarkar, R.G.	Early History of Deccan	30.00
4.	Bhandarkar, R.G.	Vaisnavism Saivism & Minor Religious System	15.00
5.	Bhandarkar, R.G. with Preface by H.G. Rawlinson	A Peep into the Early History of India (322 B.C.—Circa 500 A.C.)	15.00
6.	Davis J.	Bhagavadgita	25.00
7.	Muller, F. Max.	Science of Language	15.00
8.	Muller, F. Max.	The Vedas	20.00
9.	Shastri S.N.	Nirukta Meemansa	35.00
10.	Shastri S.N.	Gita Bhasya Novambra	15.00
11.	Shastri S.N.	Tark Sangarh	15.00
12.	Shastri S.N.	Tark Sangarh Taroda	15.00
13.	Shastri S.N.	Vedic Vangamaya Men Bhasa Chintan	25.00
14.	Singh S.B.	Ram Manohar Lohia	15.00
15.	Tiwari, R.P.	Bharatiya Chitrakala Aur Uska Mul Tatwa	75.00
16.	Rao Gopinath	Elements of Hindu Inconography 2 Volts. 4 parts	350.00
17.	Hopkins, E.W.	Epic Mythology	30.00
18.	Mitra R.L.	Gopath Brahmans of Atharro-veda	35.00
19.	Wilkins, W.J.	Hindu Mythology: Vedic & Puranic	50.00

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi